

सामाजिक विचारधाराएँ

सामाजिक विचारधाराएँ

लेखक
विनेश शर्मा

दिल्ली पुस्तक सदन
दिल्ली—गटना

प्रकाशक
भारती मन्दिर
ए ४/४७ धर्म कॉलोनी
साबपठ नगर नई दिल्ली

•

⊙ १९६९

•

मुख्य १ •

•

मुद्रक
प्रकाशक मुख्य एड्रेसी द्वारा
इसके प्रथम प्रकाशनात्
दिल्ली ।

विषय-सूची

मूमिका

३—४

सामाजिक विचारों का इतिहास

११—३१

सामाजिक विचारों का काल-विभाजन—संन्यासवादी स्कूल—परेटो का सिद्धान्त—प्रभावकों का सिद्धान्त—धर्मसंघों सम्बन्धी सिद्धान्त—परेटो और फासिस्टवाद—शाक्ति और प्रताक्ति क्रियाएँ—परेटो के विचारों की समीक्षा—भौतिक स्कूल—प्राणीशास्त्रीय स्कूल—मानवशास्त्रीय स्कूल—शास्त्रवादी स्कूल—जनसंख्यावादी—स्कूल—समाजशास्त्रीय स्कूल—धर्मसंघों की (कॉन्टे)—ई० डी० रोबर्ट्स—दुर्लभ के सिद्धान्त—दुर्लभ का समाजशास्त्र का सिद्धान्त—दुर्लभ का धर्म-संघों सम्बन्धी सिद्धान्त—स्वयंवादी स्कूल—सांख्यिक स्कूल—कार्ल मार्क्स—वर्गसंघर्ष—समाजवाद और साम्यवाद—दुर्लभ के भौतिकवाद—मनोवैज्ञानिक स्कूल—सांस्कृतिक स्कूल—बोरस्टीन बेबसन—पिटरिम् ए० सीरोकिन्—टासकोट पारसन्ध—बार्मिक स्कूल—मैक्स बेबर—महात्मा गांधी ।

महात्मा गांधी (Mahatma Gandhi)

अध्याय १

३५—३६

सामाज्य परिचय—अध्यात्मवादी विचारधारा—गांधीजी के युगमंत्र—सांख्यिक सम्मता रोमकस्य—सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय—सत्याग्रहपथ ।

अध्याय २

३७—४२

एक महान् परम्परा—एक महत्त्वपूर्ण कड़ी—उपनिषद् व गीता—बौद्ध और बौद्ध धर्म—इस्लाम व यहुदी-धर्म—ईसाई-धर्म—चीन के प्रमुख धर्म—मुकरात व प्पाटो—बोरे और रस्किन—गांधीजी और टास्कोट—अन्य दार्शनिकों का प्रभाव ।

- अध्याय ३ ४३—४६
माओबाब का आचार—ईरबरीय नियम—सात्य चर्हिता और प्रेम
—मनुष्य का लक्ष्य—धर्म और सत्य—चर्हिता और राजनीति ।
- अध्याय ४ ४७—५१
साध्य और साधन—साधन कैसा हो ?—एकमात्र साधन—
चर्हिता की व्याख्या—सात्यबल व नीतिकबल—धनु से भी
प्रेम—अप्रकट व अचेतन प्रभाव—गई व्याख्या नही ।
- अध्याय ५ ५२—५६
सत्याग्रह—मुख्य कारण—सत्याग्रह का अर्थ—सत्याग्रह का अर्थ
—स्वयं के विरुद्ध संघर्ष—सात्य-पीड़न का महत्व—
सत्याग्रह व सामाजिक अत्याचार—सत्याग्रही का तरीका—
असहयोग—उपवास ।
- अध्याय ६ ५७—६१
सत्याग्रहशासन—सात्यशासन व अत्याचार—विवाह की अनुमति
—अधोर्ष—अपरिग्रह—सत्याग्रही का हृदिभोज—वैयक्तिक
उत्पत्ति—अनुशासित मन—स्वदेशी वस्तुएं ।
- अध्याय ७ ६२—६५
सत्याग्रह का नैतिक—अनुशासन—नैतिक निर्लेप का आचार—
अन्तरमा की प्रेरणा—नैतिक और जयमत ।
- अध्याय ८ ६६—७१
सामुहिक सत्याग्रह—सत्याग्रहियों का प्रशिक्षण—सामाजिक संघ
—अनुमति व अल्पमत का सम्बन्ध—सामाजिक संघर्ष व
प्रजासत्ता—स्वयंसेवक दल—स्वयंसेवकों के कार्य व कर्तव्य ।
- अध्याय ९ ७२—७६
सत्याग्रह का प्रचार—सत्य की अभिव्यक्ति—प्रचार का तरीका—
व्यवहारिता—शैक्षिक प्रचार—प्रचार का सर्वोत्तम माध्यम ।
- अध्याय १० ७६—८०
सामुहिक सत्याग्रह की तकनीक—विरोधी के प्रति व्यवहार—आज्ञा
व आन्तरिक स्थिति—सत्याग्रह के लिये मुद्दे—सत्याग्रह का
रूप—संघर्ष नाम अनुशासन—धर्म-संघर्ष व सत्याग्रह—
असहयोग की इच्छाएं ।

अध्याय ११

८१—८७

अहिंसारतक राज्य—अहिंसारतक समाज की परिकल्पना—अहिंसा
 त्मक समाज का ढींचा—राज्य तथा मानव-स्वतंत्रता—
 अहिंसारतक समाज और उद्योग-मन्थे—अहिंसक समाज की
 बुनियाद—वर्षायत राज—स्वावलम्बी गाँव की बपरेखा ।

अध्याय १२

८८—९१

विधिस—धर्म और वैदिकता—अहिंसार्थे—धिसा ।

कार्ल मार्क्स (Karl Marx)

अध्याय १

९५—९६

भूमिका—संसार के दो बेमे—सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण
 —मार्क्सवाद ।

अध्याय २

९७—१०४

मार्क्सवादी धर्म और उसका आधार—मार्क्स का वर्धनशास्त्र—
 इन्द्रात्मक पद्धति—हीगेल और मार्क्स—हीगेल और फेबरबाक
 —विचारवाद बनाम भौतिकवाद—मार्क्स और फेबरबाक ।

अध्याय ३

१०५—१११

इन्द्रात्मक भौतिकवाद—इन्द्रात्मक सिद्धान्त व सामाजिक जीवन
 —सर्वतन्त्रीय व्यवस्था—पूर्जीवादी व्यवस्था—सामाजिक
 विचार व सिद्धान्त—सामाजिक सम्बन्ध—सामाजिक विकास
 का इतिहास—उत्पादन शक्तियाँ—नयी सामाजिक व्यवस्था
 के निर्णायक तत्व—पूर्जीवादी समाज का नवित्य ।

अध्याय ४

११२—११७

धार्मिक विचार (१)—मूल्य—मुद्रा—घतिरिक्त मूल्य ।

अध्याय ५

११८—१२६

धार्मिक विचार (२)—मजदूरी—मजदूर और पूँजीपति का
 सम्बन्ध—कर्मियों का निर्धारण—कर्मियों में ऊँच-नीच क्यों
 होता है ?—पूँजी—पूँजी और मजदूरी का सम्बन्ध ।

अध्याय ६

वर्ग-संघर्ष—नये समाजों की उत्पत्ति के कारण—वर्गगत युग—
 सर्वहारा व मध्यम वर्ग—राजनीतिक संघर्ष—बर्गों की भूमिका
 —पारिवारिक सम्बन्ध—राज्यों का उदय पूंजीपति वर्ग के
 पक्षिप्रायी बना ?—मजदूरों की स्थिति—सर्वहारा वर्ग का
 विकास—मजदूरों का संघटन—मार्क्स की दृष्टिवाली ।

१३६

अध्याय ७

समाजवाद—साम्यवाद—समाजवाद व साम्यवाद का अन्तर—
 सामाजिक विकास की प्रमुख अवस्थाएँ—सामन्तवाद व पूंजी
 वाद—पूँजीवादी स्वामित्व की संरचना—सर्वहारा वर्ग की
 भूमिका—विचारकों की कल्पनाएँ—वर्ग-विभाजन—पूँजीवाद
 का दिवालियापन—उत्पत्ति के साधनों पर समाज का
 अधिकार ।

थोरस्टीन वेब्लन (Thorstein Veblen)

अध्याय १

भूमिका—प्रोधापन कार्य—मानसिक सुहाव—सेवन शैली ।

१४६—१५०

अध्याय २

सामाजिक विकास-सम्बन्धी तिष्ठान्त—सामाजिक व्यवस्था का
 आधार—समाज का विकासवादी विस्तार—सामाजिक अर्थ
 विरोध—समाज का मूल्योन्मूलन ।

१५१—१५३

अध्याय ३

सांख्यिक विचारधारा—सांख्यिक मूल्य—मूल्य व्यवस्था—सांख्यिक
 व्यवस्था का विस्तार—पूँजीपतियों की सामोचना—हक
 राज्यों के कारण—मूल्य-व्यवस्था के अर्थ की चेतावनी ।

१५४—१५६

अध्याय ४

वर्ग-संघर्ष व कुरातसर्व वर्ग—वर्ग वर्गों का विस्तार—पिन्डल
 लर्गी—मुट्टेरी की संस्कृति ।

१५७—१५९

आगस्त कौंत (कॉम्टे) (Auguste Comte)

अध्याय १ १६२—१६४

सूचिका—सेण्ट साइमन का प्रभाव—सेण्ट साइमन के सिद्धान्त—
सेण्ट साइमन के सिद्धान्त व कौंत ।

अध्याय २ १६६—१७०

सामाजिक सिद्धान्त—सामाजिक विकास के नियम—समाज
धीर प्रगति—समाज धीर समाजशास्त्र—समाजशास्त्र के
प्रमुख प्रश्न—बौद्धिक विकास की अवस्थाएँ—मानव प्रगति व
बाधाकरण ।

अध्याय ३ १७१—१७४

राजनीतिक सिद्धान्त—राज्य धीर उसका स्वरूप—समाज का
कार्य-विभाजन—समाज का नियमन—सामाजिक इकाइयाँ ।

अध्याय ४ १७५—१७७

इतिहास-वर्धन—सामाजिक विकास के ऐतिहासिक काल—सामाजिक
विकास का काल-विभाजन—सामन्तवाद की पृष्ठभूमि—
धार्मिक युग—माध्यमिक काल—वैज्ञानिक युग ।

अध्याय ५ १७८—१८४

सामाजिक पुनर्वर्धन—सामाजिक व धार्मिक स्थिति—पृथ्वीवारी
समाज की आलोचना—धार्मिक धीर सामाजिक नैतिकता—
सामाजिक पुनर्वर्धन का आचार—सामाजिक शक्तियों का
वर्गीकरण—माही समाज की परिष्करण—पुरोहितों के
माही चर्चन की योजना—पुरोहितों के कर्तव्य व बाधित—
धार्मिक व धार्मिक शक्ति—सामाजिक न्याय—महिमाओं
का स्थान ।

अध्याय ६ १८५—१८७

सामाजिक विकास की प्रक्रिया—सामाजिक व्यवस्था धीर सामाजिक
सिद्धान्त का सम्बन्ध—सामाजिक नियन्त्रण—जनमत का
प्रभाव ।

अध्याय २
बुद्धिम के समाजशास्त्र की विविधताएँ—समाजशास्त्र और
मनोविज्ञान—व्यक्ति और समाज—सामाजिक प्रक्रियाएँ । २६३—२६५

अध्याय ३
शास्त्रमूल साम्प्रदायिकताएँ—होठ से मठभेद—सामाजिक तथ्य—
सामाजिक तथ्य और उपयोगितावादी सिद्धान्त—सामाजिक
विकास—मानव आवश्यकताओं का प्रभाव—सामाजिक
प्रक्रिया के कारण । २६६—२७०

अध्याय ४
धर्मविभाजन—धर्मविभाजन का प्रारम्भ—विश्लेषीकरण का विकास
—धर्मविभाजन सम्बन्धी शास्त्रमूल साम्प्रदायिकताएँ—धर्मविभाजन
एक परिवर्तनकारी तत्त्व—धर्मविभाजन का प्रभाव—धर्म-
विभाजन के विकास के कारण । २७१—२७६

अध्याय ५
धर्ममूल्य और सामाजिक एकसुवता—जनसंख्या और धर्ममूल्य
—धर्म और धर्ममूल्य—धार्मिक एकसुवता और धर्ममूल्य
—पारिवारिक और राजनीतिक एकसुवता । २७७—२८१

अध्याय ६
धर्ममूल्य के प्रकार और कारण २८२—२८५

अध्याय ७
सामाजिक नियंत्रण और नैतिकता—नैतिक यथार्थता—सामूहिक
नैतिकता—वैयक्तिक—नैतिक नियम । २८५—२९३

अध्याय ८
धर्म और ज्ञान—वस्तुओं और प्रक्रियाओं का विभाजन—धर्म का
उत्पन्न प्रवृत्ति—प्रतिनिधियों का सिद्धान्त—ज्ञान
सम्बन्धी सिद्धान्त—ज्ञान (धर्म)—सम्बन्धी धारणा—धर्म
और विद्याएँ—धर्म और उनका निर्धारण । २९३—२९९

टासकोट पारसन्स (Talcott Parsons)

अध्याय ९
सामान्य परिचय—जन्म और शिक्षा—पारसन्स की कृतियाँ—
पारसन्स पर अन्य समाजशास्त्रियों का प्रभाव । २९७—२९९

अध्याय ६

२२६—२३४

सम्बन्धी समाजशास्त्रीय विचार—धर्म और धर्मतन्त्र—
प्रमुख धर्मों का विश्लेषण—प्रोटेस्टेंट धर्म और यूजीवाह
—धर्म और साहित्य संगठन—सांख्यिक यूजीवाह के लिए
पूरे धर्म—चीन के धर्म—नास्तीय धर्म—यहूदी और ईसाई
धर्म—वेदों की भविष्यवाणी ।

विल्फ्रेडो परेटो (Vilfredo Pareto)

अध्याय १

२३७—२३६

सामान्य परिचय—जीवन-परिचय—परेटो की कृतियाँ—परेटो पर
दूसरों का प्रभाव—परेटो और फासिस्टवाद ।

अध्याय २

२४०—२४४

सामान्यतः समाजशास्त्रीय साम्यताएँ—प्रक्रियाओं व षटनाओं के
सम्यक को विधि—समाजशास्त्र एक समन्वित विज्ञान—परेटो
की पद्धति—वैज्ञानिक समाजशास्त्र की धारणा—उपभोगिता
वादी दृष्टिकोण—परस्पर निरन्तरता का सिद्धान्त ।

अध्याय ३

२४६—२४८

ताकिक और अताकिक क्रियाएँ—उत्कृष्टत और उत्कृष्टीय धर्म
—अताकिक कार्यों (क्रियाओं) का वर्गीकरण—अताकिक
क्रियाओं का परिचय ।

अध्याय ४

२४६—२४८

समाज और सामाजिक व्यवस्था—समाज-सम्बन्धी व्यवस्था
संस्था समाज की व्याख्या—सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप—
प्रभावकों सम्बन्धी सिद्धान्त—प्रभावकों का वर्गीकरण—
प्रभावकों की वास्तविक निर्भरता—प्रायः प्रमुख प्रभावक
(वस्तु) ।

इमाइल दुर्कहोम (Emile Durkheim)

अध्याय १

२६१—२६२

सामान्य परिचय—प्राथमिक जीवन ।

अध्याय २ २६३—२६५
जुर्जीन के समाजशास्त्र की विविधताएँ—समाजशास्त्र और
मनोविज्ञान—व्यक्ति और समाज—सामाजिक प्रक्रियाएँ ।

अध्याय ३ २६६—२७०
सामाजिक मूल मान्यताएँ—कौत से मतभेद—सामाजिक तथ्य—
सामाजिक तथ्य और उपयोगितावादी सिद्धान्त—सामाजिक
विकास—मानव प्रावश्यकताओं का प्रभाव—सामाजिक
प्रक्रिया के कारण ।

अध्याय ४ २७१—२७६
धर्मविज्ञान—धर्मविज्ञान का प्रारम्भ—विशेषीकरण का विकास
—धर्मविज्ञान सम्बन्धी सामाजिक मूल मान्यताएँ—धर्मविज्ञान
एक परिवर्तनकापी तत्व—धर्मविज्ञान का प्रभाव—धर्म-
विज्ञान के विकास के कारण ।

अध्याय ५ २७७—२८१
धर्मरहस्या और सामाजिक एकसुवता—जनसंख्या और धर्मरहस्या
—धर्म और धर्मरहस्या—धार्मिक एकसुवता और धर्मरहस्या
—पारिवारिक और राजनीतिक एकसुवता ।

अध्याय ६ २८२—२८४
धर्मरहस्या के प्रकार और कारण

अध्याय ७ २८५—२८८
सामाजिक नियंत्रण और नैतिकता—नैतिक मर्यादा—सामूहिक
नैतिकता—वैयक्तिक—नैतिक नियम ।

अध्याय ८ २८९—२९३
धर्म और ज्ञान—वस्तुओं और प्रक्रियाओं का विभाजन—धर्म का
कदम प्रवृत्ति उत्पत्ति—प्रतिनिधियों का सिद्धान्त—ज्ञान
सम्बन्धी सिद्धान्त—काल (समय)—सम्बन्धी धारणा—दूरी
और विद्याएँ—मूल्य और उनका निर्धारण ।

टासकोट पारसन्स (Talcott Parsons)

अध्याय १ २९७—२९९
सामाजिक परिचय—जन्म और शिक्षा—पारसन्स की कृतियाँ—
पारसन्स पर अन्य समाजशास्त्रियों का प्रभाव ।

सूमिका

सामाजिक चिन्तन का प्रारम्भ सम्भवतः तभी से हुआ था जबसे कि मानव इतिहास का। ऐसा धायर ही कोई विद्वान घोर विचारक हुआ हो जिसने समाज के बारे में कुछ विचार प्रकट न किये हों। दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और नार्मिक प्रश्नों में समाज तथा उसकी विभिन्न प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में तरह-तरह के विचार देखने को मिलते हैं। समाज तथा उसकी प्रक्रियाओं पर विचार करते समय धनप-धनप विद्वानों के धनप-धनप हृदिकोण रहे हैं। १६वीं सताब्दी में धानस कान्टे ने सामाजिक सिद्धान्तों में एकसूत्रता स्थापित करके समाजशास्त्र की एक नये शाखा को जन्म दिया। उसके बाद से धन तक कितने ही विचारक हुए हैं जिन्होंने समाज घोर उसकी प्रक्रियाओं के सबब में विमुक्तः समाजशास्त्रीय हृदिकोण से विचार किया। फिर भी सामाजिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में जो धनप-धनप सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं उनमें धनप-धनप चीजों को सामाजिक व्यवस्था का मूल तत्व तथा समाज में परि क्तन लाने वाला मुख्य परिवर्तनकारी तत्व मानकर खता गया है। किन्तु सिद्धान्तों में नैतिक तर्कों को बुनियादी तथा परिवर्तनकारी तत्व माना गया तो किन्तु सिद्धान्तों में धार्मिक, नार्मिक, धार्म्यात्मिक धनप धास्तुतिक तर्कों को। किसी काल विधेय में किसी प्रकार के सिद्धान्तों का बोलबाला रखा तो कितो काल विधेय में किसी प्रकार के सिद्धान्तों का। पर ऐसा नहीं हुआ है कि एक काल में एक ही प्रकार के सिद्धान्तों का प्रविधान हुआ हो प्रत्येक काल में धनेक प्रकार के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। धनः हमने इस पुस्तक में सामाजिक विचारों धनप धिद्धान्तों का धनीकरण ऐति हासिक कालों के धनुधार न करके सिद्धान्तों को धनुकनता के धायर पर किया है।

हमने इस पुस्तक के प्रारम्भ में प्रायः सभी मुख्य समाजशास्त्रीय स्कूलों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इससे पाठक को यह ज्ञानकारी हो जाएगी कि सामाजिक विचारधाराएँ कितनी धाखाओं (स्कूलों) में विभक्त हैं तथा प्रत्येक विभ

सूचिका

सामाजिक चिन्तन का प्रारम्भ सम्भवतः तथा है हुआ या कहते कि मानव इतिहास का। ऐसा सम्यक् ही कोई विद्वान् और विचारक हुआ हो जिन्होंने समाज के बारे में कुछ विचार प्रकट न किये हों। दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और धार्मिक ग्रन्थों में समाज तथा उसकी विभिन्न प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में तरह-तरह के विचार देखने को मिलते हैं। समाज तथा उसकी प्रक्रियाओं पर विचार करते समय अलग-अलग विद्वानों के अलग-अलग दृष्टिकोण रहे हैं। १६वीं शताब्दी में घाग्लस कांम्पे ने सामाजिक सिद्धान्तों में एकसूत्रता स्थापित करके समाजशास्त्र जैसी एक नये शास्त्र को जन्म दिया। उसके काम से प्रचलित कितने ही विचारक हुए हैं जिन्होंने समाज और उसकी प्रक्रियाओं के सर्बम में विद्युत्तः समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया। फिर भी सामाजिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में जो अलग-अलग सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं उनमें अलग-अलग चीजों को सामाजिक व्यवस्था का मूल तत्त्व तथा समाज में बरिष्ठतम लक्ष्य वाता मुख्य परिवर्तनकारी तत्त्व मानकर कहा गया है। किन्हीं सिद्धान्तों में भौतिक तत्त्वों को बुनियादी तथा परिवर्तनकारी तत्त्व माना गया तो किन्हीं सिद्धान्तों में धार्मिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व्यवस्था सांस्कृतिक तत्त्वों को। कितनी काल विद्येय में किसी प्रकार के सिद्धान्तों का बोलबाला रहा तो कितनी काल विद्येय में किसी प्रकार के सिद्धान्तों का। वर ऐसा नहीं हुआ है कि एक काल में एक ही प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ हो; प्रत्येक काल में अनेक प्रकार के समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। अतः हमने इस पुस्तक में सामाजिक विचारों अथवा सिद्धान्तों का बर्णिकरण ऐतिहासिक कालों के अनुसार न करके सिद्धान्तों की अनुकूलता के आधार पर किया है।

हमने इस पुस्तक के प्रारम्भ में प्रायः सभी मुख्य समाजशास्त्रीय स्कूलों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इससे पाठक को यह ज्ञानकारी हो जायगी कि सामाजिक विचारपारार्थ कितनी आशाओं (स्कूलों) में विभक्त हैं तथा प्रत्येक किस

की विचारधारा का बुनियादी हृदिकोण क्या है। चूंकि इस पुस्तक का उद्देश्य प्रायः विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में दिये गए नौ समाजशास्त्रियों के सामाजिक विचारों का विवरण, विश्लेषण व तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है, अतः सामाजिक विचारों का इतिहास प्रस्तुत करते समय इन नौ समाजशास्त्रियों के सिद्धांतों तथा बुनियादी हृदिकोणों का विचार रूप से उल्लेख किया गया है। अतः प्रथम अध्याय के प्रबन्धों में ही पाठक को यह बातकारी मिल जाएगी कि इन नौ समाजशास्त्रियों में से कौन किस स्कूल का है और इस कारण उसके विचार किन अन्य समाजशास्त्रियों से मिलते-जुलते हैं तथा किन समाजशास्त्रियों के लिए प्रायः विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में उल्लिखित समाजशास्त्रियों के विचारों का विस्तृत अध्ययन माताम हो जाएगा।

प्रथम अध्याय में सामाजिक विचारों का इतिहास तथा समाजशास्त्रीय स्कूलों का वर्गीकरण व संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करने के बाद प्रायः कांटे, डुर्कहोम, वेबलर, कार्ल मार्क्स, महात्मा गांधी व संक्षेप के लिए सोरोकिन और पारसंस के विचारों तथा सिद्धांतों का विवरण व विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इनमें से प्रत्येक का जीवन परिचय देने के साथ-साथ उनके विचारों की प्रमुखियां से भी अवगत कराया गया है। इस बात का बहुत बड़ा ध्यान रखा गया है कि भाषा सरल सरल तथा बोधगम्य हो। चूंकि प्रायः विश्वविद्यालय के प्रथम वर्षों में प्राते हैं अतः पारिभाषिक शब्दों को कोष्ठकों में दे दिया गया है। इसके अलावा पुस्तक के अन्त में पारिभाषिक शब्दों को सूची में दे दिया गया है। पहली सूची में पारिभाषिक शब्दों की सूची में देकर उनके अर्थों को देकर देखा जा सके। दूसरी सूची में पारिभाषिक शब्दों की सूची में देकर उनके अर्थों को देकर देखा जा सके। इस पुस्तक को मूल शब्दों के अर्थों में देकर देखा जा सके।

इस पुस्तक को मूल शब्दों के अर्थों में देकर देखा जा सके।

सामाजिक विचारों
का इतिहास

सामाजिक विचारों का इतिहास

अरस्तू (Aristotle) ने कहा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और यदि कानून तथा ग्याय (समाज) न हो तो वह दूसरे सभी जीवों से बहुत प्रारम्भ से ही मनुष्यों के बीच ऐस सम्बन्ध रहूँ हैं जिन्हें सामाजिक सम्बन्ध कहा जा सकता है। उसके इन सामाजिक सम्बन्धों ने ही सामाजिक चिन्तन को जन्म दिया। धार्मिक काल में सामाजिक चिन्तन का स्वरूप मोक्ष-कथाएँ तथा मोक्ष विचारों की। जैसे-जैसे मनुष्य में प्रगति की जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ा और उसके सामाजिक सम्बन्धों में जटिलता आयी जैसे जैसे उसके सामाजिक चिन्तन के स्वरूप भी बदलते गये। सामाजिक सम्बन्धों की जटिलताओं के फलस्वरूप ही सामाजिक चिन्तन का बर्नीकरण सम्भव हुआ। मनुष्य के चिन्तन की धाराएँ धरेक बवों में विभक्त हुई, जैसे कि धार्मिक चिन्तन बार्धनिक चिन्तन शीतिक चिन्तन और सामाजिक चिन्तन। चिन्तन और प्रयोग के सम्मिश्रणों द्वारा विभिन्न विचारों का जन्म हुआ। इन विचारों ने मनुष्य के चिन्तन की समस्त धाराओं तथा उसके चिन्तन की समस्त पद्धतियों को प्रभावित किया।

शुकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः उसक चिन्तन की समस्त धाराओं में सामाजिक चिन्तन के प्रस मिलते हैं। बाहू कोई धार्मिक प्रश्न हो धयवा धार्धनिक मनोवैज्ञानिक या शीतिक बहु सामाजिक चिन्तन से प्रकृता नहीं रहा है। पर सामाजिक चिन्तन ने एक स्वतन्त्र शास्त्र धयवा विज्ञान का रूप बहुत धार में प्रकृ किया। विभिन्न प्रकार के चिन्तनों में निहित सामाजिक चिन्तन को निकालकर तथा इन सामाजिक चिन्तनों को समन्वित करके उसे एक नये शास्त्र (यानी समाजशास्त्र) के रूप में प्रस्तुत करने का धेय मायस कौट (Comte) को प्राप्त है। यही कारण है कि उन्हूँ समाजशास्त्र का जन्मदाता कहा गया है।

सामाजिक विचारों का इतिहास

की मधीन मानकर किया। उसके जीवन तथा उसके कार्यों को मानवकामी मधीन के कार्य-क्रमाय माना गया और उसकी मृत्यु को यह माना गया कि मधीन दूर गयी। कुछ यथीयतावादी समाजशास्त्रियों ने मनुष्य पर ज्योस के नियम लागू किये जिसके फलस्वरूप सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या यथिगत क नियम लागू मनुष्यार की मयी। इन सभी सिद्धान्तों में मनुष्यों को इच्छा-यक्ति को कोई स्थान नहीं दिया गया। सत्रहवीं मताब्दी के बाद भी जिन समाजशास्त्रियों ने सामाजिक प्रक्रियाओं की यथीयतावादी व्याख्याएँ प्रस्तुत करने की श्रुता का है, उनमें भी किसी-न-किसी हद तक मयबा किसी-न-किसी रूप में ही सिद्धान्त रचना को मिलते हैं जिनका प्रतिपादन सत्रहवीं शताब्दी क यथीयतावादी विचारकों ने किया था। लेकिन यह सही है कि बाद के यथीयतावादी विचारकों में पूर्ववर्ती विचारकों की यथितियों तथा उनक निष्कर्षों को विकसित किया और इसके लिए उन्होंने विभिन्न सिद्धान्तों के मधीनतम निष्कर्षों को इस्तमास किया। इस सूत्र के प्रतिनिधियों में एच० सी० कैंरे, बोरोनोफ ई० सोख एल० बिनियारकी ए पी० बारसेलो हेरेट डब्लू० मास्टवाल्ड डब्लू० बेचटेरेफ, एनबर्ग एक० कार्ती ए० बेन्टले टी० एम० कारवर, मल्कड वे० सोथका और वेस्केरो पेटो के नाम उल्लेखनीय हैं।

एच० सी० कैंरे ने १९वीं शताब्दी में सामाजिक प्रक्रिया की भौतिकशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करने की उल्लेखनीय श्रुता की है। उन्होंने 'सामाजिक विज्ञान के सिद्धान्त' नामक अपनी पुस्तक में कहा है कि वस्तुओं (Matter) पर लागू होने वाले नियम समान हैं जैसे हो उन वस्तुओं का स्वरूप कुछ भी क्यों न हो। उनका कहना है कि ज्योसता मिट्टी जोहा पत्थर वेद जोड़ा बल और मनुष्य सभी पर समान नियम लागू होते हैं। इसी आधार पर उन्होंने अपने समाज शास्त्रीय तथा भाषिक सिद्धान्तों का निर्माण किया। वे सिद्धान्त भी कैंरे के इसी सिद्धान्त के समान हैं जिनमें यह मानकर कहा गया है कि मनुष्य समाज क एक अणु के समान है और घाणुिक गुस्त्राकार्यल के नियम उस पर समान रूप से लागू होते हैं। जैसे की ही भौतिक बोरोनोफ, हेरेट सोथका और बारसेलो यह मानकर बते हैं कि मानव शरीर एक भौतिक व्यवस्था है। जिस प्रकार भौतिकशास्त्र के नियम मय्य चीजों पर लागू होते हैं ठीक उसी प्रकार वे मनुष्य पर भी लागू होते हैं और लाज इच्छा करने पर भी मनुष्य गुस्त्राकार्यल के नियमों से बच नहीं सकता। जो नियम भौतिक यक्तियों पर लागू होते हैं वे ही सामाजिक यक्तियों पर मा लागू होते हैं। इसी प्रकार बटेरेफ, सोखे और डब्लू० मास्टवाल्ड ने सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या रसायनशास्त्रीय दृष्टिकोण से

की है। एम. दिनिवासदी ने सामाजिक व्यवस्था (Social aggregate) को बिन्दुओं की व्यवस्था (System of points) कहा है जिसमें व्यक्ति अपनी निरन्तर गतिशीलता के फलस्वरूप एक-दूसरे के निकट घाते रहते हैं यद्यपि एक-दूसरे से दूर होते रहते हैं। उनका कहना है कि इस गतिशीलता का मुख्य कारण आकर्षण है। उन्होंने मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ को भी सारीरिक शक्ति (Biological Energy) का संश्लेषित रूप माना है और उन्होंने शक्ति (Energy) सम्बन्धी विज्ञान मनुष्य तथा समाज पर लागू किया है।

परदो के सिद्धान्त

विद्वान्दो परदो को भी यन्त्रीयतावादी श्रूस के अन्तर्गत माना जाता है यद्यपि वास्तव में वे किसी भी स्कूल के नहीं थे। उनका सिद्धान्त विमूर्त ही मया और मिथ्य प्रकार का है। उन्होंने यन्त्रीयतावादी पद्धति को अपनाया है और विमूर्त सर्वदात्म यद्यपि अन्य विमूर्त सामाजिक विद्वानों के निष्कर्षों को अपने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में प्रयुक्त किया है। उन्होंने समाजशास्त्र को एक ऐसा सम्मिश्र विज्ञान कहा है जो विमूर्त सर्वदात्म तथा अन्य विमूर्त सामाजिक विद्वानों के निष्कर्षों को इस्तेमाल करता है। परदो ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान माना है। उनका कहना है कि समाजशास्त्र को वैज्ञानिक होना चाहिए और वैज्ञानिक समाजशास्त्र से उनका तात्पर्य यह है कि समाजशास्त्र को अपना निष्कर्ष केवल ऐसे तथ्यों पर आधारित करना चाहिए जो निरीक्षण और परीक्षण की कसौटी पर खरे उतरते हों। इन मान्यताओं को कि क्या अच्छा है और क्या बुरा यद्यपि क्या होना चाहिए और क्या नहीं वैज्ञानिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। इस प्रकार उन्होंने इन समस्त सिद्धान्तों को वैज्ञानिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत नहीं माना है जिनमें मूल्य पूर्व वाकिक एकता प्रभावण प्रवृत्ति सदात्मता स्वतन्त्रता म्याय समानता और मनुष्य प्रादि सम्बन्धी चारुताओं का समावेश है। उनका कहना है कि यह विद्वान्त अपना है कि प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण होता है क्योंकि इस विद्वान्त में काम और कारण के इच्छरपक्ष सम्बन्ध को मानकर बना गया है। उनका कहना है कि प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण ही नहीं होता बल्कि कार्य और कारण एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। उनमें कार्य और चारुता की पार-स्परिक निर्भरता के आधार पर ही सामाजिक प्रक्रियाओं की ध्याना की है।

प्रभावकों का सिद्धान्त

यहाँ तक समाज-सम्बन्धी अवधारणा का सम्बन्ध है परेटो का कहना है कि प्रत्येक समाज केवल एक सामाजिक व्यवस्था होती है जो कि अपने अस्तित्व काल में सर्वत्र ही संतुलन की स्थिति में रहती है। दूसरे शब्दों में सामाजिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न करने वाली शक्तियों तथा सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने वाली शक्तियों में इस प्रकार का संतुलन बना रहता है जिससे सामाजिक व्यवस्था लुप्त नहीं हो सकती। उनका कहना है कि सामाजिक व्यवस्था के ठोस स्वरूपों की विभिन्नताओं के अनेक कारण हैं। किन्तु सामाजिक व्यवस्था का ठोस स्वरूप कैसा होया यह तीन प्रकार के प्रभावकों (Factor) पर निर्भर करता है (१) भूमि जलवायु और भूतत्त्व (२) उस समाज को प्रभावित करने वाले बाह्य-तत्त्वों (अर्थात् उसके पृथ्वी समाज तथा दूसरे समाजों) का प्रभाव और (३) उस सामाजिक व्यवस्था के आन्तरिक तत्त्व जैसे कि नस्ल जातियाँ, धर्म और सिद्धान्त आदि। इसे परेटो का प्रभावकों का सिद्धान्त (Theory of Factors) कहा गया है।

परेटो ने सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन के लिए पाँच प्रभावकों को मुख्य माना है (१) अवशेष (२) प्रत्युत्पादक (३) आर्थिक शक्ति (४) मनुष्यों तथा सामाजिक समूहों की विभिन्नताएँ और (५) सामाजिक अत्यात्मकता तथा वर्ग-निर्धारण।

अवशेषों-सम्बन्धी सिद्धान्त

परेटो का कहना है कि मनुष्यों में दो प्रकार के प्रेरक तत्त्व (Derives) होते हैं। इसमें से एक होता है अतिरिक्त प्रेरक तत्त्व और दूसरा होता है स्थिर प्रेरक तत्त्व। इसी अपेक्षाकृत स्थिर प्रेरक तत्त्व (Relatively Constant Factors) को परेटो ने अवशेष (Residues) कहा है। उनका कहना है कि ये अवशेष (Residues) प्रवृत्तियों (Instincts) पर आधारित होते हैं लेकिन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति सर्वत्र एक ही रूप में होती है और अवशेषों की अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में यहाँ तक कि विरोधी रूपों में भी। ये अवशेष ही मनुष्य को तरह-तरह के कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। फिर जब वह अपने इन कार्यों तथा व्यवहारों के परिणामों को देख कर सिए बसों में प्रस्तुत करता है अथवा सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है तो उसे प्रत्युत्पादक (Derivations) कहते हैं। परेटो ने आर्थिक हितों को भी एक प्रभावक माना है क्योंकि वे भी मनुष्य को कार्यों के लिए प्रेरित करते हैं। सामाजिक विभिन्नता भी सामाजिक

व्यवस्था का एक निर्णायक तत्व होता है क्योंकि जिस समाज में जिस तरह के व्यक्ति होते हैं वह समाज उसी तरह का होता है। सामाजिक व्यवस्था और व्यवस्था-निर्धारण से परेटो का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज में एक उच्च-वर्ग होता है और एक निम्न-वर्ग। उच्च-वर्ग धीरे-धीरे पतनोन्मुख हो जाता है और एक दिन यह घाटा है जब कि निम्न-वर्ग के कुछ लोग तरल करके उच्च-वर्ग में पा जाते हैं तथा उच्च-वर्ग के लोग फिरकर निम्न-वर्ग में पहुँच जाते हैं। परेटो का कहना है कि इस प्रकार वर्गों का निर्धारण होता रहता है जो कि सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है।

परेटो और फ्रासिस्टवादी

परेटो की यह मान्यता गृही है कि मनुष्यों में पारंपरिक और बौद्धिक दृष्टि से सबसे ही असमानता रही है और रहती है। परंतु सामाजिक असमानताएँ भी सदैव ही रही हैं और रहेंगी। उनका कहना है कि जो उच्च वर्ग जितना सबाबा बुर होता है वह उतने ही सबाबा समय तक टिक पाता है। परेटो के इन सिद्धांतों का उपयोग इटली के फ्रासिस्टों ने किया। परंतु उनके विचारों को फ्रासिस्टवादी माना गया है और उन्हें पूँजीवादियों का काम मार्क्स (Karl Marx of Bourgeoisie) कहा गया है।

वार्तिक और अवार्तिक क्रियाएँ

परेटो ने समस्त मानवीय कार्यों को वार्तिक और अवार्तिक क्रियाओं में विभक्त किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक बतना के दो पक्ष होते हैं—वस्तु-मय (Objective) और अवार्तिक (Subjective)। मनुष्य के कार्य अवार्तिक होते हैं लेकिन अपने अवार्तिक दृष्टिकोण के कारण वह सदैव ही अपने अवार्तिक सिद्ध करने की चेष्टा करता है।

परेटो के विचारों की समीक्षा

परेटो के समाजशास्त्र की विशेषता केवल यही नहीं है कि उनके विचारों में नवीनता है बल्कि यह भी कि उन्होंने अपने विचारों को अत्यन्त व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है। उन्होंने समाजशास्त्र का सभ्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। कार्य और कारण की पारस्परिक निर्भरता के उनके सिद्धांत में तथा मानवीय व्यवहार के उनके विशेषण में बहुत कुछ सबाई दिखाई पड़ती है। इसी तरह उनके इस कथन में भी सत्यता है कि बहुत से

समाजशास्त्रीय विज्ञान अर्थशास्त्रिक हैं क्योंकि इन विज्ञानों में तरह-तरह के उपदेशों व प्रवचनों काि का समावेश है ।

लेकिन अत्युत्कृष्ट विशेषताओं के बावजूद परेटो के विज्ञानों में अनेक बड़ी-बड़ी कमियाँ हैं । वे अवशेष (Residues) सम्बन्धी प्रवृत्ति प्रारणा को मसी प्रकार स्पष्ट नहीं कर पाये हैं । उनकी यह प्रारणा वस्तुवादी नहीं है क्योंकि उन्होंने अवशेषों को प्रेरक तत्वों (Derives) पर आधारित किया है और इस प्रेरक तत्व का वस्तुवादी अध्ययन सम्भव नहीं है । परेटो की अवशेष सम्बन्धी प्रारणा कात्मिक है जिन्हें उन्होंने मनुष्यों पर लादकर मनमाने निष्कर्ष निकाले हैं । परेटो ने अवशेषों का बर्णिकरण भी मनमाने ढर्रके से किया है अतः वे उसके द्वारा सही निष्कर्षों पर नहीं पहुँच सके । वे 'अवशेषों' और 'हितों' के अन्तर को भी मसी प्रकार स्पष्ट नहीं कर पाये हैं । उन्होंने इन दोनों तत्वों की जो व्याख्या प्रस्तुत की है उससे इन दोनों में विभेद कर पाना कठिन है । चूँकि परेटो का कहना यह है कि एक ही अवशेष की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में तथा अनेक प्रत्युत्पादकों (Derivations) में हो सकती है अतः यह पता लगाना बहुत कठिन हो जाता है कि किस प्रत्युत्पादक का अर्थ कौन सा अवशेष है । अतः यह भी दाव नहीं हो पाता कि अवशेषों का प्रत्युत्पादकों के साथ वास्तविक सम्बन्ध क्या है । इसके अलावा परेटो का सामाजिक वय-निर्धारण (Circulation of the elites) का विज्ञान अर्थशास्त्रिक और अपूर्ण है । फिर भी इन सब कमियाँ के बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि समाजशास्त्र में परेटो का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है । अर्थशास्त्रीय समाजशास्त्रीय स्कूल के बाद के समाजशास्त्रियों पर भी उनके विज्ञानों का बहुत और स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है ।

भौगोलिक स्कूल

भौगोलिक (Geographical) परिस्थितियों का प्रभाव मनुष्य के व्यवहार सामाजिक संघटन और अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं पर पड़ता है । यह एक ऐसा तथ्य है जो मनुष्य को मानव इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही बाव रहा है और प्राचीनतम ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में अत्यधिक उदाहरण मौजूद हैं । यहाँ तक कि ज्योतिष विद्या के रूप में ऐसे शास्त्रों का निर्माण हुआ है जिनकी आधारभूत मान्यता यह है कि मनुष्य का भव्य भौगोलिक परिस्थितियों वाली धारों व ग्रहों काि पर निर्भर करता है । १६वीं और १७वीं शताब्दी में बहुत से ऐसे विचारक हुए जिन्होंने इतिहास दर्शन-शास्त्र अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र काि प्रायः सभी क्षेत्रों में भौगोलिक परिस्थिति को ही मुख्य व निर्णायक तत्व माना । उनका

व्यवस्था का एक निर्णायक तत्व होता है क्योंकि जिस समाज में जिस तरह के व्यक्ति होते हैं वह समाज उसी तरह का होता है। सामाजिक व्यवस्था और समाज-निर्धारण से परटो का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज में एक उच्च-वय होता है और एक निम्न-वय। उच्च-वय धीरे-धीरे पतनोन्मुख हो जाता है और एक दिन यह प्राण छोड़ देता है जब कि निम्न-वय के कुछ लोग तरकीब करके उच्च-वय में प्रवेश करते हैं तथा उच्च-वय के साथ मिरकर निम्न-वय में पहुँच जाते हैं। परटो का कहना है कि इस प्रकार वर्गों का निर्धारण होता रहता है जो कि सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है।

परटो और अस्तित्वात्

परटो की यह मान्यता रही है कि मनुष्यों में पारंपरिक और बौद्धिक दृष्टि से सब ही समानता रही है और रहेगी। अब सामाजिक असमानताएँ ही सब ही रही हैं और रहेंगी। उनका कहना है कि जो उच्च वर्ग जिसका पबारा कर होता है वह अपने ही जगह समय तक टिक पाता है। परटो के इन सिद्धान्तों का उपयोग इन्हीं के अस्तित्त्वों में किया गया उनके विचारों को अस्तित्त्ववादी माना गया है और उन्हें पूंजीपतियों का कार्ल मार्क्स (Karl Marx of Bourgeoisie) कहा गया है।

तार्किक और अतार्किक विचार

परटो ने समस्त मानवीय कार्यों को तार्किक और अतार्किक क्रियाओं में विभक्त किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक बटन के दो पक्ष होते हैं—वस्तु (Objective) और अतार्किक (Subjective)। मनुष्य के कार्य अतार्किक होते हैं लेकिन अपने अतार्किक दृष्टिकोण के कारण वह सब ही उन्हें अतार्किक विद्य करने की चेष्टा करता है।

परटो के विचारों की समीक्षा

परटो के समाजशास्त्र की विशेषता केवल यही नहीं है कि उनके विचारों में मनीषता है बल्कि यह भी कि उन्होंने अपने विचारों को अत्यन्त व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने समाजशास्त्र का एक सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। कार्य और कारण की पारस्परिक निर्भरता के उनके सिद्धान्त में तथा मानवीय व्यवहार के उनके विश्लेषण में बहुत कुछ अन्वेषण दिखाई पड़ती है। इसी तरह उनके इस रूप में भी सत्यता है कि बहुत से

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त अर्थशास्त्रिक हैं क्योंकि उन सिद्धान्तों में तरह-तरह के उपदेशों व प्रवचनों धारि का समावेश है।

लेकिन उद्यमगत विवेचनों के बावजूद परेडो के सिद्धान्तों में अनेक बड़ी-बड़ी कमियाँ हैं। वे अवशेष (Residues) सम्बन्धी अपनी धारणा को मसी प्रकार स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। उनकी यह धारणा बस्तुवादी नहीं है क्योंकि उन्होंने अवशेषों को प्रेरक तत्वों (Desires) पर आधारित किया है और इस प्रेरक तत्व का बस्तुवादी अध्ययन सम्भव नहीं है। परेडो की अवशेष सम्बन्धी धारणाएँ कास्मिक हैं जिन्हें उन्होंने मनुष्यों पर सादर मनमाने निष्कर्ष निकाले हैं। परेडो ने अवशेषों का वर्गीकरण भी मनमाने ठीके से किया है। घट के उसके द्वारा सही निष्कर्षों पर नहीं पहुँच सके। वे 'अवशेषों और इतों के अन्तर को भी मसी प्रकार स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। उन्होंने इन दोनों तत्वों की को व्याख्या प्रस्तुत की है उससे उन दोनों में विभेद कर पाना कठिन है। चूँकि परेडो का कहना यह है कि एक ही अवशेष की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में तथा अनेक प्रत्युत्पादकों (Derivations) में हो सकती है। घट यह पता लगा पाना बहुत कठिन हो जाता है कि किस प्रत्युत्पादक का स्रोत कौन सा अवशेष है। घट यह भी जात नहीं हो पाता कि अवशेषों का प्रत्युत्पादकों के साथ वास्तविक सम्बन्ध क्या है। इसके अलावा परेडो का सामाजिक वर्ग-निर्धारण (Circulation of the elites) का सिद्धान्त अपर्याप्त और अपूर्ण है। फिर भी इन सब कमियों के बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि समाजशास्त्र में परेडो का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। यथोपतावादी समाजशास्त्रीय स्कूल के बाद के समाजशास्त्रियों पर भी उनके सिद्धान्तों का गहरा और स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है।

भौगोलिक स्कूल

भौगोलिक (Geographical) परिस्थितियों का प्रभाव मनुष्य के व्यवहार सामाजिक संगठन और अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं पर पड़ता है। यह एक एता तथ्य है जो मनुष्य को मानव इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही जात रहा है और प्राचीनतम ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में अस्पष्ट उदाहरण मौजूद हैं। यहाँ तक कि प्योथिप विद्या के रूप में ऐसे आदर्शों का निर्माण हुआ है जिनकी आधारभूत नम्यता यह है कि मनुष्य का भाग्य भौगोलिक परिस्थितियों यानी धारों व इतों धर निर्भर करता है। १६वीं और १७वीं शताब्दी में बहुत सारे विचारक इस सिद्धान्त इतिहास दर्शन-शास्त्र अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र और उन्नावृत्तन धरि प्रत्येक सभी क्षेत्रों में भौगोलिक परिस्थिति को ही मुख्य व निर्णायक तत्व माना। उनका

कहता है कि मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओं उसकी समस्त विधिप्रणालियों उसके सामाजिक संघटन तथा प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया और प्रत्येक ऐतिहासिक घटना का मुख्य कारण औद्योगिक होता है। इस विचारधारा को औद्योगिक स्कूल की संज्ञा दी गयी है।

प्राणीशास्त्रीय स्कूल

इस स्कूल (Bio-Organic school) के अन्तर्गत वे सिद्धान्त पाठे हैं जिनमें यह मानकर खता गया है कि प्राणीशास्त्र सम्बन्धी नियम अक्सर मनुष्य के शरीर पर लागू नहीं होते बल्कि उसके समस्त सामाजिक कार्यकलापों पर भी लागू होते हैं। इन सिद्धान्तों में सामाजिक प्रक्रियाओं व घटनाओं को व्याख्या प्राणीशास्त्र के नियमों के अनुसार की गयी है। विदित ७०-७५ वर्षों में प्राणीशास्त्र में जो विशेष प्रगति की है उससे प्राणीशास्त्रीय विचारधाराओं को बहुत बल पहुँचा है और अनेक नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ।

मानवशास्त्रीय स्कूल

इस स्कूल (Anthropo-Racial School) के अन्तर्गत वे सिद्धान्त पाठे हैं जिनमें मस्तिष्क और पैतृकता आदि को मनुष्य के व्यवहार सामाजिक प्रक्रियाओं सामाजिक संघटन सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक घटनाओं का निर्धारक तत्व माना गया है। उनमें मस्तिष्क और पैतृकता सम्बन्धी सिद्धान्तों के माध्यम से सामाजिक प्रक्रियाओं व सामाजिक घटनाओं तथा ऐतिहासिक घटनाओं को व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

डार्विनवादी स्कूल

डार्विन (Darwin) ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि मानव अपने पक्षितत्व को कायम रखने के लिए बराबर संघर्ष करता रहता है और उसे अपने पक्षितत्व को कायम रखने के लिए बहिर्विधियों के अनुकूल बनना पड़ता है। डार्विन के इस सिद्धान्त ने समाज-शास्त्रीय विचारों को भी प्रभावित किया और अनेक ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ जिनमें डार्विन के इस सिद्धान्तों के अनुसार समाज और सामाजिक प्रक्रियाओं को व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इन सिद्धान्तों में प्राणीशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का आशय बनाया गया है अतः इस स्कूल को प्राणीशास्त्रीय स्कूल की एक शाखा कहा जा सकता है।

जनसंख्यावादी स्कूल

इस स्कूल (Demographic School) के समर्थक वे सिद्धान्त वादक हैं जिनमें जनसंख्या जनसंख्या के चलते जन्म-दर व मृत्यु-दर आदि को सामाजिक प्रतिक्रियाओं व सामाजिक घटनाओं का निर्णायक तत्त्व माना गया है। इन सिद्धान्तों के अनुसार सामाजिक संगठन और उसका स्वरूप जनसंख्या सम्बन्धी स्थितियों पर निर्भर करता है और उन पर जनसंख्या सम्बन्धी नियम लागू होता है।

समाजशास्त्रीय स्कूल

मनुष्य को यह बहुत पहले ही ज्ञात हो चुका था कि समाज व्यक्तियों का एक समूह मात्र नहीं है, वह उसके भिन्न है और मानसिक प्रवृत्तियाँ व्यवहार, प्रत्येक मानवीय विधिप्रकार समाज तथा सामाजिक क्रिया प्रतिक्रिया पर निर्भर करती हैं। प्राचीन ग्रामीण प्रयोगों में व्यक्ति और समष्टि की पृथक-पृथक व्याख्याएँ तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख इसके प्रमाण स्वरूप हैं। बीड बर्म और कन्सुशियन बर्म ने इन धारणाओं का स्पष्ट उल्लेख है। प्लाटो ने भी अपने ग्रन्थ 'नएतलस' (दो रिपब्लिक) में सामाजिक वातावरण के प्रभाव का उल्लेख किया है और राज्य तथा व्यक्ति को घसम-घसम माना है। अरस्तू ने तो सामाजिक वातावरण को निर्णायक तत्त्व मानते हुए मनुष्य को 'सामाजिक प्राणी' ही कहा ही है। बाद में घनेक ऐसे विचारक हुए जिन्होंने समाज को एक जैविकीय इकाई (Organism) के समुच्चय माना। कुछ विचारकों ने घसम-घसम सामाजिक परिस्थितियों को निर्णायक तत्त्व मानकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में ऐसे घनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ जिनमें समाज पर व्यक्ति की निर्भरता की बात कही गयी है। इस प्रकार वे समाजशास्त्रीय विचारवादी (Sociological School) का उदय प्राचीन काल में हुआ था और उसके बाद उसमें निरन्तर विकास हुआ तथा वह घनेक धारणाओं व प्रवृत्तियों में विभक्त हुआ। पर ये सभी विचार मुख्यतया समाजशास्त्रीय हैं। इन विचारों ने सामस्त कौट (कॉम्टे) व विचारों को प्रत्येक प्रभावित क्रिया और उद्देश्य के आधार पर तथा उनमें समन्वय स्थापित करके कौट ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

सामस्त कौट (कॉम्टे)

सामस्त कौट (Comte) को समाजशास्त्र का पितामह माना जाता है क्योंकि वही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस विज्ञान को समाजशास्त्र का नाम प्रदान

किया या तथा अपने समय की प्रमुख विचारधाराओं को एक सूत्र में बाँधकर समाजशास्त्र को एक पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया था। कौट का सामाजिक विद्वान्त इत बुद्धिवादी मान्यता पर आधारित है कि कार्यों का विभाजन व प्रशासनों की एक वृष्टता ही सामाजिक संघटन का आधार होती है। उनकी यह मान्यता थी कि सामाजिक प्रक्रिया पर भौतिक वातावरण का विधेय रूप से प्रसर पड़ता है। वे समाज को एक जीवाणु (Organism) की भाँति मानते थे और उसे जगहों में सामूहिक जीवाणु की समझाते थे। उनका कहना है कि जो नियम जीवधारियों पर लागू होते हैं वे ही समाज पर लागू होते हैं। यद्यपि वैयक्तिक और सामाजिक जीवाणु एक जैसे होते हैं।

उन्होंने सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को तीन व्यवस्थाओं में विभक्त किया है—बौद्धिक, भौतिक और नैतिक। उनका कहना है कि सामाजिक प्रवृत्तियों को तीन व्यवस्थाओं में होकर गुजरना पड़ता है। इसी प्रकार उन्होंने बौद्धिक विकास को भी तीन व्यवस्थाओं में विभक्त किया है—ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान, धर्मशास्त्र और विज्ञान। कौट ने विज्ञानों का वर्गीकरण भी किया है और उन्होंने प्राचीन शास्त्र के उत्काश वाय समाजशास्त्र को रखा है। यद्यपि इस वर्गीकरण का समर्थन करने वाले समाजशास्त्रियों की संख्या कम नहीं है तथापि अनेक सामाजिक विचारकों ने उनसे मतभेद प्रकट करते हुए यह कहा है कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत मनोविज्ञान को स्थान मिलना चाहिए। इस तरह मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्रीय (Psychological Sociological) स्कूल की प्रस्थापना हुई।

कौट का कहना है कि समाज के विविध वर्गों का समय-समय सम्बन्धन करने की प्रवृत्ति सम्पूर्ण समाज का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सम्बन्धन किया जाना चाहिए और इस सम्बन्धन के लिए केवल एक ही विज्ञान का यानी समाजशास्त्र का सहारा लेना चाहिए। उनका कहना है कि समाज का नियमन करने वाली शक्ति वर्गों में विहित होती है। इसलिये समाज के संघटन का वास्तविक वर्गवादी पर होना चाहिए। उन्होंने समाज की उत्पत्ति और राज्य की व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टिकोण से करते हुए यह बताया है कि मानवता को अपने विकास में तीन व्यवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है। तीसरी और अन्तिम व्यवस्था यह है जब कि मनुष्य की सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति बड़ी भावनाएँ होती हैं जो स्वयं के परिवार के प्रति। उनकी यह मान्यता थी कि समाज ऐसे युग में प्रवेश कर चुका है जिसे विज्ञान युग (पॉजिटिविस्ट पीरियड) (Positivist Period) कहा जा सकता है। इस युग में समाज का पुनर्गठन किस रूप में होना चाहिए, इसकी एक विस्तृत योजना भी उन्होंने प्रस्तुत की थी जिसमें उन्होंने

माजी समाज की अपनी परिष्कृतता प्रस्तुत की ।

ई० डी० रोबर्टी

इसी समाजशास्त्री ई० डी० रोबर्टी कौट के अनुयायी थे लेकिन बाद में उन्होंने पॉजिटिविज्म (Positivism) से मतभेद प्रकट करते हुए (Neo-positivism) तथा पॉजिटिविज्म के नाम के स्वयं अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया । कौट के सिद्धान्तों से उनके मतभेद का मुख्य कारण यह था कि कौट ने विस्तेषणात्मक धर्मवादी वैज्ञानिक विचारों की अपेक्षा धार्मिक और धार्मिक विचारों को ज्यादा महत्त्व दिया है । रोबर्टी ने अपने सिद्धान्तों में वैज्ञानिक धर्मवादी विस्तेषणात्मक विचारों को ही प्रमुखता दी । इस प्रकार उनके सिद्धान्तों को समाजशास्त्रीय स्कूल की एक महत्त्वपूर्ण शाखा के रूप में मान्यता मिली ।

दुर्बोम के सिद्धान्त

कौट के पॉजिटिविस्ट सिद्धान्तों का विरोध करने तथा उनमें पूर्णता देने का श्रेय दुर्बोम का प्राप्त है । समाजशास्त्रीय स्कूल की दृष्टि प्रमुख शाखा का प्रतिनिधित्व इमारन दुर्बोम और उनके सहयोगी करते हैं । दुर्बोम का कहना है कि सामाजिक चेतना और वैयक्तिक चेतना में अन्तर होता है और उन्हें निर्मित करने वाले वस्तु समय होते हैं ।

दुर्बोम के कल्पनानुसार समाजशास्त्र को मनोविज्ञान का पूरक मानना यत्न है क्योंकि सामाजिक जीवन में सम्बन्धित प्रत्येक प्रश्न का उत्तर स्वयं सामाजिक ढाँचे में ढूँढना चाहिए, न कि मनोविज्ञान में । उनका कहना है कि सामूहिक प्रतिनिधाना का अस्तित्व व्यक्ति के बाहर होता है और वे उसके अस्तित्व में विभिन्न नैतिक धार्मिक और ताकिक नियमों के रूप में पाये जाते हैं । कौट से उनका मतभेद इस बात पर था कि कौट ने सामाजिक तथ्यों और सामाजिक प्रक्रियाओं की उपयोगिता पर जोर दिया था । पर दुर्बोम इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे और उनका कहना है कि सामाजिक तथ्यों की उत्पत्ति उनकी उपयोगिता के कारण नहीं होती । यद्यपि ऐसे सामाजिक तथ्य भी हो सकते हैं जिनकी कोई उपयोगिता न हो यद्यपि उनके उपयोग की कमी कोषिष्य न की गई हो या जो किसी जमाने में उपयोगी रहे हों और जब अपनी उपयोगिता को चुकने के बाद भी लोगों की आदतों के कारण कायम हों । इसी प्रकार, दुर्बोम का कहना है कि सम-विभाजन ने मानवीय विकास में सहायता दी पहुँचाई, लेकिन उसका प्रारम्भ इसलिए नहीं हुआ था कि मनुष्य ने उसकी

घातस्मयता महसूस की थी। उनका कहना है कि जब हम किसी सामाजिक प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं तो हमें उसे उत्पन्न करने वाले कारणों तथा उसकी उपयोगिता का अध्ययन अलग-अलग करना चाहिए।

दुर्लभता का अर्थ विभाजन का सिद्धान्त

दुर्लभता में उन परिस्थितियों का विश्लेषण किया है जिनके कारण अर्थ विभाजन (Division of Labour) और विशेषीकरण (Specialization) की उत्पत्ति हुई। उनका कहना है कि अर्थ-विभाजन की उत्पत्ति मनुष्य की किसी इच्छा के कारण नहीं हुई बल्कि पहले के परिस्थितियों उत्पन्न हुई जिन पर अर्थ-विभाजन आधारित है। ये परिस्थितियाँ सामूहिक जेतना और बरतानु बत प्रभावों के विघटन की प्रक्रिया घातस्मय होने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थीं जब वे उत्पन्न हो गईं तो मनुष्य ने उनकी उपयोगिता को देखा। मनुष्यों ने विशेषीकरण जैसे-जैसे बढ़ता गया जैसे जैसे उनकी शक्तियों और क्षमताओं में भी अंतर आता गया। इसके बाद मनुष्य के लिए यह घातस्मय हो गया कि वह अपने परिवार को कायम रखने के लिए विशेषीकरण का विकास करे। इस प्रकार मनुष्य की अपने को कायम रखने की प्रवृत्ति ने अर्थ-विभाजन के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। दुर्लभता में अपने विश्लेषणों द्वारा यह भी बताया है कि अर्थ-विभाजन का मानव व्यवहार और मनोविज्ञान कानून नैतिकता और सामाजिक नियमन सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक सम्बन्धों राजनैतिक शासन आदिक सम्बन्ध तथा अर्थ और विचारधाराओं पर क्या असर पड़ा।

दुर्लभता का आत्महत्या सम्बन्धी सिद्धान्त

दुर्लभता में आत्महत्याओं के कारणों को भी सामाजिक परिस्थितियों में ढूँढने की चेष्टा की। उनका कहना है कि आत्महत्याओं का मुख्य कारण वैयक्तिक अथवा आर्थिक या अन्य कोई न होकर सामाजिक होता है। आत्महत्याओं का मीमांसा सम्बन्ध सामाजिक एकसूत्रता (Social Solidarity) से होता है। जिस समाज में सामाजिक एकसूत्रता जितनी कम होती है उस समाज में आत्महत्याएँ उतनी ही अधिक होती हैं। इसी प्रकार जिस समाज में सामाजिक एकसूत्रता जितनी अधिक होती है उस समाज में आत्महत्याएँ उतनी ही कम होती हैं। उन्होंने मोर्रों द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्रोटैस्टेंटों में कैथोलिकों की अपेक्षा आत्महत्याएँ अधिक होती हैं। इसका कारण यह है कि प्रोटैस्टेंट धर्म में विचार स्वातन्त्र्य अधिक है। उनमें परिवारों द्वारा बाइबिल की व्याख्या लोगों पर सारी नहीं

जाती बल्कि भोग स्वयं अपनी-अपनी व्याख्याएँ करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। इस विचार-स्वातन्त्र्य के कारण प्रोटेस्टेंटों में सामाजिक एकसूत्रता की कमी है और उसके फलस्वरूप उनमें धारमहत्याएँ अधिक होती हैं। पर कैथोलिक धर्म में विचार-स्वातन्त्र्य की इतनी छूट नहीं है। कैथोलिक धर्म बहुत सुसंरचित है और बाइबिल की व्याख्याएँ भोग स्वयं नहीं करते बल्कि पादरियों द्वारा जो व्याख्याएँ की जाती हैं उन्हें वे मान लेते हैं। धर्म कैथोलिकों में प्रोटेस्टेंटों की अपेक्षा सामाजिक एकसूत्रता अधिक है और इस कारण उनमें धारमहत्याएँ अपेक्षाकृत कम होती हैं। यहूदियों में सामाजिक एकसूत्रता कैथोलिकों से भी अधिक है पर उनमें धारमहत्याएँ कैथोलिकों से भी कम होती हैं।

स्वल्पवादी स्कूल

समाजशास्त्रीय स्कूल की ही एक प्रमुख शाखा स्वल्पवादी स्कूल (The Formal School) है। इस स्कूल की धारारभूत मान्यताएँ बड़ी हैं जो कि समाजशास्त्रीय स्कूल की जिसमें कि धारमहत्या और धर्मः सम्बन्धों को सामाजिक प्रक्रिया का मूल तत्त्व माना जाता है और व्यक्ति को समाज की उत्पत्ति के रूप में देखा जाता है। पर स्वल्पवादी स्कूल का कहना यह है कि समाजशास्त्र के धारमहत्या सामाजिक धारमहत्या तथा सामाजिक सम्बन्धों के धारमहत्या तत्त्वों का अध्ययन न करके केवल उनके स्वरूपों का अध्ययन किया जाना चाहिए। इस स्कूल का कहना है कि समाजशास्त्र के धारमहत्या को सीमित करके उसे सुनिश्चित बनाया चाहिए। उसकी मान्यता है कि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करते समय यह देखने की आवश्यकता नहीं है कि किस-किस प्रकार के सम्बन्ध किस-किस काल विशेष धारमहत्या धारमहत्या की किस धारमहत्या से पाये जाते थे। उसे तो केवल स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए और इस प्रकार से समाजशास्त्र को मुख्यतया विरसेपण्यतात्मक बनाया चाहिए। इस स्कूल के प्रतिनिधियों में एच० टोनीस धार० स्टैम्पर बी साइमन बी रिचार्ड और ई० ए० रॉय के नाम उल्लेखनीय हैं।

धारमहत्या स्कूल

इस स्कूल को भी समाजशास्त्रीय स्कूल की एक शाखा कहा जा सकता है। इस स्कूल के धारमहत्या के सिद्धांत्य धारमहत्या हैं जिनमें धारमहत्या तत्त्वों को सामाजिक धारमहत्याओं तथा सामाजिक धारमहत्याओं और धारमहत्या सामाजिक प्रक्रियाओं का मूल धारमहत्या माना गया है।

बंसे तो सामाजिक प्रक्रियाओं पर विचार करते समय धार्मिक तत्वों को सर्वत्र ही महत्त्व दिया जाता रहा है। भारत और चीन के धार्मिक ग्रन्थों में भी धर्म के महत्त्व का वर्णन मिलता है। यूनान के दार्शनिकों जैसे कि प्लेटो और अरस्तू धार्मिक प्रक्रियाओं को धर्म के सामाजिक प्रक्रियाओं का मूल कारण माना है। इसके अलावा विभिन्न देशों में धर्म के ऐसे विचारक हुए हैं जिन्होंने धार्मिक तत्वों को सामाजिक प्रक्रियाओं व सामाजिक परिवर्तनों का प्रधान या महत्त्वपूर्ण कारण माना। पर धार्मिक तत्वों को समस्त प्रकार की सामाजिक राजनीतिक मनोवैज्ञानिक सांस्कृतिक और धार्मिक प्रक्रियाओं का मूल स्रोत और बुनियादी कारण मानने वाला मुख्यतः प्रभावकारी सिद्धान्त प्रस्तुत करने का धर्म का एक मात्र और उनके सहयोगी फ्रेडरिक एंगेल्स को प्राप्त है।

कास माक्स

माक्स का कहना है कि समाज की धार्मिक व्यवस्था उत्पादन के संबंधित साधनों पर निर्भर करती है। प्रत्येक उत्पादन सामाजिक उत्पादन होता है और उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा मनुष्यों का एक दूसरे के साथ सुनिश्चित सम्बन्ध स्थापित होता है। यह सम्बन्ध अनिवार्य होता है और यह मनुष्यों की इच्छा से काम-विहीन है। उत्पादन के जो साधन जिस काम विशेष में प्रयुक्त होते हैं उस काम-विहीन में उन्हीं उत्पादन साधनों के अनुकूल मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध धार्मिक ढाँचा ही वह बुनियाद होती है जिस पर राजनीतिक और कानूनी ढाँचे (Super-Structure) बने होते हैं। सामाजिक चेतना की अपनी धार्मिक व्यवस्था ही होती है और उसी के अनुकूल राजनीतिक व वैधानिक ढाँचा बना होता है। भौतिक जीवन में उत्पादन का तरीका ही सामाजिक राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामाजिक स्वरूपों (General Character) का निर्धारण करता है। मनुष्यों का अस्तित्व उसकी चेतना के कारण नहीं होता बल्कि इसके ठीक विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना का निर्धारण करता है।

माक्स का कहना है कि उत्पादन की भौतिक शक्तों का विकास करती-करती एक ऐसी व्यवस्था को पहुँच जाती है जब कि उनका मौजूदा उत्पादन सम्बन्धों के साथ—जिसे कानूनी यापों में सम्मिलित-सम्बन्ध बहते हैं—संबन्ध अस्थिर हो जाता है। ये उत्पादन-सम्बन्ध उत्पादन-शक्तियों के विकास में बाधक बन जाते हैं। अतः सामाजिक अस्तित्व होती है। अन्तिम के अन्तिम रूप धार्मिक ढाँचे में

परिवर्तन घाने पर राजनैतिक और वैज्ञानिक दृष्टि में भी, जिन्हें मार्क्स ने ऊपरी संरचना (Super structure) कहा है वह अपने समते हैं। कोई भी सामाजिक व्यवस्था जब तक समाप्त नहीं होगी जब तक उसे निर्मित करने वाली समस्त उत्पादन-शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित न हों। इसी तरह नये उत्पादन सम्बन्ध जब तक प्रगट नहीं होते जब तक पुराने समाज के भीतर उनके अस्तित्व को जन्म देने वाली मौलिक परिस्थितियाँ परिपक्व नहीं हो जाती।

वर्ग संघर्ष

मार्क्स का कहना है कि वर्तमान समाज का प्रथम एक का इतिहास वर्ग-संघर्ष (Class-struggle) का इतिहास रहा है। सामन्तवादी (Feudal) समाज में एक ओर तो सामन्तवादी वर्ग था दूसरी ओर गुलामों अथवा धुलामों और अन्य शोषितों का वर्ग। जब इस समाज के भीतर नयी उत्पादन-शक्तियाँ उत्पन्न हुई तो सामाजिक क्रांति हुई और पूँजीवादी समाज में जन्म लिया। जिस तरह सामन्तवादी समाज में दो वर्ग थे और उनके बीच निरन्तर संघर्ष होता रहा वैसे ही तरह पूँजीवादी समाज में भी दो वर्ग हैं—पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग जिसके बीच संघर्ष होते रहना अनिवार्य है। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवादी समाज में उत्पादन सामाजिक होता है यानी उस समाज के बहुत से लोग मिलकर करते हैं, लेकिन उत्पादित वस्तुओं पर अधिकार बंधितक होता है। उनका कहना है कि सामाजिक उत्पादन द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर पूरे समाज का अधिकार होना चाहिए। चूंकि उत्पादन के साधन स्वयं भी सामाजिक उत्पादन की उत्पत्ति होते हैं, अतः उन पर भी पूरे समाज का अधिकार होना चाहिए। जिस समाज में उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य अथवा सरकार का अधिकार हो उसे ही समाजवाद कहते हैं। मार्क्स का कहना है कि जिस प्रकार सामन्तवाद के बाद वर्ग-संघर्ष के फलस्वरूप पूँजीवाद का प्राणा अथवा स्वामी का ठीक वैसे ही तरह पूँजीपतियों और मजदूरों के वर्ग-संघर्ष के फलस्वरूप समाजवाद का प्राणा अथवा स्वामी है।

समाजवाद और साम्यवाद

मार्क्स का कहना है कि समाजवाद एक ऐसी धार्मिक व्यवस्था है जिसमें न तो वर्ग होते हैं और न वर्गसंघर्ष। समाजवाद में उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य का अधिकार होता है और प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम के अनुसार पारिश्रमिक मिलता है। समाज में उत्पादन की शक्तियाँ अब अत्यधिक विकसित

हो जायेगी तो लोगों को काम के धनुषार बैठन मिलने की जगह उसकी प्राबल्य कक्षाओं के धनुषार बैठन मिलेगा और साम्यतन्त्र स्वतः सृष्ट हो जायेगा। इस व्यवस्था को साम्यवाद कहते हैं।

द्वन्द्वरमक भौतिकवाद

मारक्स के उपर्युक्त मिथ्या उनके द्वन्द्वरमक भौतिकवाद (Dialectical materialism) पर आधारित है। मारक्स का सिद्धान्त इस दृष्टि से भौतिकवादी है कि वह भौतिक पदार्थों तथा भौतिक जगत को यथार्थ मानता है। वह उन्हें विचारों की छाया मान नहीं मानता। बल्कि भौतिक जगत और भौतिक पदार्थों को विचारों की जननी मानता है। इस प्रकार मारक्स के दर्शन का आधार भौतिकवादी है पर उसको दूसरी द्वन्द्वरमक है। द्वन्द्वरमक दूसरी इन सिद्धान्तों पर आधारित है कि—(१) यदि किसी चीज की मात्रा में बार-बार वृद्धि की जाती रहे तो उसके कुछों में परिवर्तन घा जाता है। उदाहरण के लिए यदि पानी में गर्मी की मात्रा बढ़ती जाये तो एक अवस्था वह घायेगी जबकि पानी भाप बन जायेगा। (२) प्रत्येक चीज में दो परस्पर विरोधी शक्तियाँ निहित होती हैं। (३) इन परस्पर विरोधी शक्तियों के संघर्ष के फलस्वरूप तीसरी चीज उत्पन्न होती है जो इन दोनों ही से भिन्न होती है। मारक्स का कहना है कि ये सिद्धान्त प्रकृति और मानव समाज पर समान रूप से लागू होते हैं। उन्होंने अपने इसी सिद्धान्तों द्वारा मानव समाज के इतिहास का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि उसका सब एक का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है। इसे उन्होंने ऐतिहासिक भौतिकवाद की धारा भी।

मनोवैज्ञानिक स्कूल

मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय स्कूलों में अन्तर अपेक्षाकृत कम है। समाजशास्त्रीय स्कूल द्वारा मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का सामाजिक परिस्थितियों के माध्यम से विश्लेषण किया जाता है। वह मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को सामाजिक क्रिया प्रतिक्रिया की उत्पत्ति प्रपत्ति उसकी अभिव्यक्ति मानता है, पर मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक स्कूल की मान्यताएँ इसके ठीक विपरीत हैं। यह स्कूल व्यक्तियों की मानसिक या मनोवैज्ञानिक विधिष्ठताओं को ही बुनियादी और परिवर्तनकारी तत्त्व मानता है। उसका धनुषार सामाजिक प्रक्रियाएँ मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं की ही उत्पत्ति प्रपत्ति अभिव्यक्ति होती हैं। इस स्कूल के प्रवर्तकों में डी.पी.ओ.ए.ए. के.ए.ए. कोनवेलक हबसबे और एच०

स्वेन्सर के नाम उल्लेखनीय हैं।

सांस्कृतिक स्कूल

इस स्कूल के अन्तर्गत वे समाजशास्त्रीय सिद्धान्त आते हैं जिनमें सांस्कृतिक उचितियों को समाज में परिवर्तन आने काका मूल उत्पन्न माना गया है और जिनमें सामाजिक प्रतिक्रियाओं की व्याख्या संस्कृति के माध्यम से की गई है। वास्तव में इस स्कूल का स्थान समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक स्कूलों के बीच में है। इस स्कूल के सिद्धान्तों की उत्पत्ती भी अस्पष्ट है। पर हम यहाँ केवल तीन समाजशास्त्रियों—बेबसन, सोरोकिन और पारसन्स—के सिद्धान्तों की चर्चा करेंगे।

थोरस्टीन बेबसन

बेबसन का सिद्धान्त मार्क्स के सिद्धान्तों के ठीक विपरीत है। उनका कहना है कि समाज विकास करता रहता है। वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुँचता है। पर समाज का विकास पूर्वनिश्चित प्रक्रिया के अनुसार नहीं होता। वह न तो किसी पूर्वनिश्चित अक्षय की ओर बढ़ रहा है और न उसे पूर्वनिश्चित धार्मिक व्यवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है। उनका कहना है कि मार्क्स का यह अक्षय मत है कि धार्मिक व्यवस्था पर सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति आधारी होती है। उनका कहना है कि समाज की प्रमुख सांस्कृतिक विविधताओं से ही उसकी धार्मिक व्यवस्था को जाना जा सकता है। वही संस्कृति होती है, वही ही धार्मिक व्यवस्था। समाज में जिस तरह के सामाजिक मूल्यों का बाहुल्य होता है, उसी तरह का लोगों का ठोर-ठोरका होता है। उनका कहना है कि इन सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन आने से ही समाज में परिवर्तन आता है।

बेबसन का कहना है कि मानव समाज में सर्वत्र ही लुटेरों और महानतकष लोगों के बीच संघर्ष होता रहा है और यही संघर्ष सभ्यता के सम्पूर्ण इतिहास की विशेषता रही है। उनका कहना है कि जो एक युग में लुटेरों का सरकार था वही दूसरे युग में उद्योगों का अक्षय है। उनका कहना है कि वर्तमान औद्योगिक समाज में जो सर्वत्र युग के जीवनमूल्य कायम हैं जबकि इस युग में नये तरह के जीवनमूल्य होने चाहिये थे। यह विरोधाभास ही वर्तमान समाज को सबसे बड़ी समस्या है।

बर्बर युग और पूँजीवादी युग की तुलना करते हुए उन्हें कहा है कि इन दोनों ही संस्कृतियों में अक्षयों की विविधता यही रही है कि उन्हें औद्योगिक

यम नहीं करना पड़ता। वे उत्पादन की प्रवृत्ति लुट-सड़ोट द्वारा ऊँचा स्तर प्राप्त करते हैं। इस पूर्वतमम्ब वर्ग के लोग जिन कामों में अपना समय बचाते हैं वे सामाजिक दृष्टि से निरर्थक होते हैं। उनके व्यय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न होकर केवल प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए किये जाते हैं। उन्होंने बनीबर्ग को पूर्वतमम्ब बचवा बिनासी-वर्ग कहा है और उनकी संस्कृति को सुन्दरों की संस्कृति की उदाहरण दी है।

पिटिरिम ए० सोरोकिन

सोरोकिन ने अपने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों में संस्कृति को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है और उन्होंने यह बताया है कि सांस्कृतिक तत्त्वों में परिवर्तन आने के फलस्वरूप किस प्रकार सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आता है। उन्होंने संस्कृति की व्याख्या करते हुए कहा है कि जो या जो कुछ व्यक्तिगतों की जेहन बचवा धरतल क्रियाओं के फलस्वरूप जो चीज उत्पन्न होती है या जो चीज संचोदित व परिवर्तित होती है, सन्धी चीजों के योग को संस्कृति कहते हैं। उन्होंने संस्कृति की परिभाषा एक सन्धिपूर्ण सम्पूर्ण (Integral Whole) के रूप में की है। उनका कहना है कि संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों के बीच तर्क सार्थक एकता होती है। प्रत्येक संस्कृति के दो पक्ष होते हैं—मानसिक पक्ष और बाह्य पक्ष। मानसिक पक्ष से तात्पर्य है उसके मुख्य और बुद्धि धारि। धरा किती भी संस्कृति के अध्ययन का अर्थ होता उसके मानसिक पक्ष का मानी मुख्यों और गुणों धारि का अध्ययन। उसे उस संस्कृति की मानसिक बुद्धियों का अध्ययन भी कह सकते हैं। उन्होंने संस्कृति के तीन प्रकार बताये हैं—(१) ऐतिहासिक (२) विचारवादी और (३) मिश्रित। जिस समाज में जिस तरह की संस्कृति की प्रभावता होती है उसे उसी वर्ग का माना जाता है।

सोरोकिन का कहना है कि सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में परिवर्तन का मुख्य कारण मानसिक शक्तिर्वा होती है लेकिन बाह्य शक्तिर्वा और परिस्थितियाँ भी उस परिवर्तन को आने में एक हल तक सहायक या बाधक सिद्ध हो सकती हैं। इस प्रकार सोरोकिन की मान्यता यह है कि संस्कृति के मानसिक पक्षों में परिवर्तन आने से सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आता है। धरा जिस प्रकार की संस्कृति होती है उसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था होती है। जब कोई संस्कृति परिवर्तनता पर पहुँच जाती है तो उसका स्तर दूसरी संस्कृति बहस करती है। उनका कहना है कि मानव समाज और संस्कृति में विकास और प्रवृत्ति नहीं होती बल्कि केवल उदार-बढ़ाव आते रहते हैं। कभी किसी प्रकार की

सामाजिक विचारों का इतिहास

संस्कृति की प्रधानता रहती है तो कभी विद्यो प्रकार की। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों तथा के केन्द्रीकरण पारिविक परिस्थितियों और संवर्धपूर्ण बटनाओं में केवस उदार बकाव माता रहता है।

टासकोट पारसन्स

पारसन्स का कहना है कि सामाजिक क्रियाओं का मूल स्रोत स्वयं मनुष्य होता है। पर मनुष्य की ये क्रियाएँ केवस घाटीरिक प्रपवा जैवकीय माबाक-ताओं की पूर्ति के लिए नहीं होतीं। मनुष्य का समाज के दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध होता है और ये सम्बन्ध उन्हें किन्हीं क्रियाओं के लिए प्रेरित करते हैं। इसी प्रकार सामाजिक परिस्थितियाँ और संस्कृति भी मनुष्य की प्रत्येक क्रियाओं का कारण होती है। प्रत्य सामाजिक क्रियाओं के तीन तरह होते हैं—
अभित संस्कृति और समाज। संस्कृति मानवीय प्रन्त क्रियाओं का परिणाम होती है लेकिन जन्म से बुकने के बाद यह मानवीय प्रन्त क्रियाओं को निर्धारित करने वाला तत्त्व बन जाती है। सांस्कृतिक प्रतिमानों द्वारा मनुष्य के व्यवहार और आचरण के लिए मर्यादाएँ निर्धारित हुने लगती हैं। सांस्कृतिक प्रतिमानों के प्रन्तगत मूकलायत विचार अभिभावित क प्रतीक और मूक निर्धारण के मापदण्ड प्रादि होते हैं।

धार्मिक स्कूस

यह स्कूस सांस्कृतिक स्कूस के ही समान है और उसी बर्ष का है। इस स्कूस के विज्ञानों में बनों और विरवारों को सामाजिक व्यवस्था का मुख्य आधार तथा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लामे बामा मूस प्रपवा महत्वपूर्ण कारण माना गया गया है। इस स्कूस के विचारकों में सन्ट प्रागस्टी सेन्ट बामस है बसो डी कोबनबेस जी सी० बॉन बार्स एनबुड इ ए रॉस के० लेजर और मंस बबर उत्सदनीय है।

मैक्स वेबर

मैक्स वेबर न इन बात का विशेष रूप से अध्ययन और विन्नेपण किया है कि धार्मिक और धार्मिक प्रक्रियाओं के बीच क्या सम्बन्ध होता है। उनका कहना है कि ये दोनों प्रक्रियाएँ एक-दूसरे पर निर्भर होती हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। उनका कहना है कि यह विज्ञान प्रमत्त है कि धार्मिक परिस्थितियों द्वारा धार्मिक प्रारण्यों का निर्माण होता है। इसी तरह बने

को धार्मिक परिस्थितियों का निर्माणरु तत्त्व मानना भी उतना ही असत्य है। वेबर ने यह खोज करने की प्रयत्ना कि धर्म और धार्मिक तत्त्व एक-दूसरे को किस हद तक घीर किन् किन् रूपों में प्रभावित करते हैं। अपनी खोज इस बात तक सीमित रखी है कि धर्म धार्मिक विद्वान्तों तथा बतिसिधियों को किस हद तक और किन् किन् रूप में प्रभावित करता है। उन्होंने विरक्त के छ प्रमुख धर्मों का विश्लेषण करके यह पता लगाने की कोशिश की है कि उन धर्मों का उनके मानने वालों के जीवन तथा धार्मिक संघटन पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

मैक्स वेबर ने प्रोटेस्टैंट धर्म और धार्मिक पूँजीवाद के पारस्परिक सम्बन्धों का विशेषरूप से अध्ययन किया। उनका कहना है कि धार्मिक पूँजीवाद की उत्पत्ति के लिए धर्म परिस्थितियों के अतिरिक्त एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिक स्थिति तथा दास तत्त्व के व्यावहारिक सिद्धान्तों का होना आवश्यक था। उनका कहना है कि धार्मिक पूँजीवाद की उत्पत्ति से पूर्व प्रोटेस्टैंट धर्म के रूप में उसकी आत्मा प्रकट हुई। उन लोगों की क व्यावहारिक धार्मिक सम्बन्धी सिद्धान्त और नियम समान हैं। यह उदाहरण प्रकट करता है कि धार्मिक विचारधारा प्रथम धारणा की उत्पत्ति पहले होती है और धर्मतत्व की उत्पत्ति उसके बाद। उनका कहना है कि प्रोटेस्टैंट धर्म के कारण ही धार्मिक पूँजीवाद का उत्पत्ति सम्भव हो सकी है।

मैक्स वेबर ने इसी प्रकार सम्प्रतिपत्त धर्म ताओ धर्म हिन्दू धर्म बौद्धधर्म और मजूरी धर्म का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि जिस तरह के ये धर्म थे उसी तरह का उन लोगों का धार्मिक और सामाजिक ढाँचा बना जो कि इन धर्मों को मानते थे।

महात्मा गांधी

महात्मा गांधी धर्म को ही मानव जीवन और मानव समाज का नियामक तत्त्व मानते थे। उनका विश्वास था कि सम्पूर्ण सृष्टि का गंवात्मन ईश्वरीय नियमों के अनुसार होता है। संसार में जो कुछ भी होता है उस के पीछे ईश्वरीय इच्छा होती है। ईश्वरीय नियमों के विपरित संसार में कुछ भी नहीं हो सकता। उसे इन ईश्वरीय नियमों के अन्तर्गत जीवन इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह विभिन्न मामलों में से अपने लिये कोई भी मार्ग चुन सकता है। वह धर्म करने के लिए स्वतन्त्र है लेकिन उन धर्मों के पक्ष उसके पक्ष में नहीं होते। इस प्रकार गांधीजी ने व्यक्ति धर्म और ईश्वरीय नियमों को ही मुख्य माना है। उन्होंने समाज की प्रत्येक व्यक्ति को मूलतः दिया बर्बोरि प्रत्येक समाज सेवा ही होता है जैसे व्यक्ति उस समाज में

महात्मा गांधी

अध्याय १ सामान्य परिचय

महात्मा गांधी केवल दार्शनिक और विचारक ही नहीं बल्कि एक बहुत बड़े समाज-सुधारक और राजनीतिक भी थे। उनके विचारों ने केवल भारत को ही नहीं समूचे विश्व को प्रभावित किया है। यह बात सत्य है कि वर्तमान घटनाएँ भी उनके विचारों ने विश्व को जितना प्रभावित किया है उतना इस घटनाएँ के बिना भी अन्य दार्शनिक व विचारक ने नहीं।

अध्यात्मवादी विचारधारा

महात्मा गांधी अध्यात्मवादी थे। वे ईश्वर और ईश्वरीय नियमों में विश्वास करते थे। वे धारणा थी उसकी अमरता में भी यकीन करते थे इसलिए पुनर्जन्म में उनका विश्वास होता स्वाभाविक था। चूंकि वे धारणा के पृथक अस्तित्व में यकीन करते थे इसलिए उन्होंने अपने दर्शन धारणा में समाज की अनेक व्यक्तियों को प्रभावित की है। वे समाज को व्यक्ति का समूह मानते थे।

गांधीजी के मूल मंत्र

गांधीजी का मूल मंत्र है सत्य धारणा और प्रेम। वे सिद्धान्त कोई मंत्र नहीं हैं लेकिन गांधीजी ने उनको पुनर्जागरित किया है। वे एक कर्मयोगी थे इसलिए उनके दर्शन का विकास उनके अनुभवों के साथ-साथ हुआ है। उन्होंने केवल व धारणा ही नहीं, बिनका वे स्वयं प्राप्त करते थे और बिनहीं वे व्यावहारिक समझते थे। उन्होंने अंधेरे धारणा और ज्ञान के बिना सड़ने और अंधेरे अंधकार पाने के लिए मनुष्य को अंधारण के रूप में एक नया धारणात्मक धारणा प्रदान किया है और उस धारणा को अस्तेमास करके उसकी प्रभावकारिता सिद्ध की। यह उनको एक बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने अंधारण कभी धारणा को एक सामूहिक धारणा व रूप में अस्तेमास करके दिखाया। यह धारणा कितना प्रभावकारी है, यह केवल इसी एक उदाहरण से प्रकट हो जाता है कि इसी धारणा के द्वारा भारत ने ब्रिटिश आधिपत्यवादी धारणा से मुक्ति प्राप्त की। मानव इतिहास में यह पहला

अध्याय २

एक महान् परम्परा—एक महत्वपूर्ण कड़ी

महात्मा गांधी का दर्शन-शास्त्र उस महान् भारतीय परम्परा की एक कड़ी है, जिसका प्रारम्भ उपनिषद् ज्ञान अथवा उससे भी पूर्व माना जा सकता है। उनकी दृष्टि में सत्य और अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है और मुझा चरण तथा अन्धे धर्म को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। हिन्दू धर्म-शास्त्रों में भी अहिंसा और मुझाचरण को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। यद्यपि बलाधिक धर्म में अहिंसा का अर्थव्युत्पन्न मुझ करता बताया गया है लेकिन उसके साथ-साथ यह भी कहा गया है कि युद्ध करते समय उनमें क्रुद्धा और प्रतिहिंसा की भावना नहीं होनी चाहिए। दूसरे, बलाधिक धर्म में ब्राह्मण का धर्म यानी प्रेम और संयम को अहिंसा तथा अन्ध बलों के धर्म (अर्थव्युत्पन्न) की अपेक्षा ऊँचा स्थान दिया गया है। उपनिषदों में तो अहिंसा पर सबसे अधिक जोर दिया गया है और उनमें बताये गये मुझाचरण के पाँच गुणों में अहिंसा का महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पाठनक्षि में भी अपने मूल सूत्र में कहा है कि—

‘अहिंसा प्रतिष्ठायां तस्मान्निर्वा ब्रह्मणः।’

महात्मा गांधी की दृष्टि में ब्राह्मणिक समाज और महाभारत में भी अहिंसा का सम्बन्ध निहित है। उनका कहना है कि समाज मुख्यतः उस दण्ड का वर्णन है जो मनुष्य के भीतर ज्ञान और अज्ञान की शक्तियों में होता रहता है। इस तरह उनकी मान्यता यह है कि महाभारत में मुझों और हिंसा की निरपेक्षता सिद्ध की गई है। बड़े महाभारत में अहिंसा का प्रत्यक्ष अपेक्षा भी मिलता है। उसमें कई स्थानों पर सत्य और अहिंसा को मनुष्य का सर्वोत्तम गुण बताया गया है। एक स्थान पर भीष्म के मुँह से यह कहा गया है कि अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि महाभारत के बाद से हमारे देश में अहिंसा को मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म माना जाने लगा है।

उपनिषद् व गीता

माहृष्या गांधी को उपनिषद् और गीता विशेष रूप से प्रिय थे और उनसे उन्हें प्रज्ञा व शक्ति प्राप्त होती थी। उपनिषद् की तरह रामबन्धीता में अहिंसा की महिमा का वर्णन नहीं है। उसमें अनासक्तियोग का धारण रखा गया गांधी मनुष्य को फल की कामना किए बिना काम करना चाहिए। गांधीजी का कहना है कि गीता ज्ञान का भंडार है और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें बताये गए सांसारिक कर्तव्यों के पालन में भी हमें बर्मानुसार बसना चाहिए।

जैन और बौद्ध धर्म

जैन-धर्म में तो अहिंसा को ही आधार मानकर बना गया है। उसमें सबसे अधिक जोर इस बात पर दिया गया है कि किसी भी प्राणी को चारों ओर भ्रमण करने से बचना चाहिए, पशुपक्षी सभी जीवों में आत्मा का भाग होता है। जैन-धर्म में जो पाँच बातें बताये गए हैं उनमें अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। पर इस धर्म में उनका केवल नकारात्मक पक्ष पर ही जोर दिया गया है और सकारात्मक पक्ष की उपेक्षा की गई है। यद्यपि गांधीजी पर जैन-धर्म का भी प्रभाव रहा है, उन्होंने अहिंसा के सकारात्मक पक्ष पर बल दिया है। बौद्ध-धर्म में अहिंसा के प्रति एकांगी दृष्टि कोण न अपनाकर सुखापरम और प्रेम पर अधिक जोर दिया गया है। इस दृष्टि से बौद्ध-धर्म उपनिषदों के अधिक निकट है। बौद्ध-धर्म में आभरण के लिए जो इस नियम बताये गए हैं उनमें अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। इसी तरह, आचार्य कोनों के लिए बनाये गए पाँच नियमों में भी अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। महात्मा बुद्ध ने जहाँ एक ओर यह सीखा ही है कि मैं तो अपने को दुःख पहुँचाना चाहिए और न दूसरे प्राणियों को बर्हानुसारी ओर उन्होंने यह सीखा भी है कि प्रत्येक व्यक्ति का प्राणी मात्र से ग्रहण होना चाहिए। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म दोनों ही में अहिंसा और अर्थ को एक दूसरे से सम्बन्ध माना गया है। इसके साथ धर्मिकता के अनेकानेक कर्तव्यों में भी अहिंसा और अहिंसा पर ही सर्वाधिक बल दिया है।

इस्लाम व यहूदी-धर्म

यद्यपि इस्लाम और यहूदी-धर्म के अनुयायियों ने अहिंसा के प्रति बहुत कम धारणा दिखायी है और उनका इतिहास हिंस्रतापूर्ण कार्रवाइयों से भरा पड़ा है,

तथापि इन दोनों ही धर्मों में मुख्यतः अहिंसा मानवता और विश्व-व्युत्पत्ति पर ही जोर दिया गया है। कुरान में रक्षात्मक युद्ध तथा अत्याचारियों के विरुद्ध युद्ध करने की अनुमति अवश्य भी गई है लेकिन उसमें भी अहिंसा को हिंसा की अपेक्षा अत्यधिक माना गया है। अन्य धर्म-शास्त्रों की तरह कुरान में भी बुलाई को अच्छाई से दूर करने की बात कही गई है। हज़रत मोहम्मद का अत्यंत शांति-प्रेम विश्व-व्युत्पत्ति मानवता और सत्य का अत्यंत वा। उनका स्वयं का जीवन भी इन भावों के अनुकूल था। उन्होंने श्रेष्ठों और दुसमों के प्रति भी सद्-व्यवहार करने की सीख दी है और वे स्वयं तो मीठों को कभी डाँटते तक न थे। उन्होंने पशु-पक्षियों के प्रति भी दया भाव रखने की सीख दी है। वे बलात्-धर्म-परिष्कार के विरुद्ध थे और उनका कहना था कि धार्मिक मामलों में किसी तरह की अबरबस्ती नहीं होनी चाहिए। इस तरह उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को अपनाया था।

यहूदियों के धर्म के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। यहूदी व्यवहार में धर्म ही अहिंसा के सिद्धान्तों का अनुसरण न करते हैं। उनके धर्म-शास्त्रों ने अहिंसा प्रेम और विश्व-व्युत्पत्ति की ही सीख दी है। पुरानी बाइबिल में कहा गया है कि अगर तुम्हारा सन्तु भूखा हो तो उसे रोटी खान को दो और अगर तुम्हारा सन्तु प्यासा हो तो उसे पीने के लिए पानी दो। यदि तुम्हें राह में सन्तु का दया मानकर पाठा हुआ मिल जाय तो तुम उसे लाकर वापस कर दो। तुम अपने सन्तु की असफलताओं और मुसीबतों पर ख़ुशी न मनाओ। बुरा क कारण ही सारी लड़ाइयाँ होती हैं और प्रेम सारे पाप को दूर करता है।

ईसाई-धर्म

ईसाई-धर्म का मूल आधार यहूदी-धर्म है क्योंकि ईसा ने पुरानी बाइबिल में बिले गए सिद्धान्तों को ग्रहण करके उन्हें नया और अद्वितीय रूप दिया था। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं यहूदी-धर्म के आधारभूत सिद्धान्त प्रेम अहिंसा और सहिष्णुता हैं। ईसा ने भी इन सिद्धान्तों को अपनाया और उन्होंने कहा कि प्रेम ही ईश्वर है। पुरानी बाइबिल में कहा गया है कि अपने ईश्वर से प्रेम करो और अपने पड़ोसी से भी जैसा ही प्रेम करो जैसा कि स्वयं अपने से करते हो। ईसा ने इसे असीमा तक बढ़ाकर विस्तारित किया और कहा कि केवल यही पर्याप्त नहीं है कि तुम अपने पड़ोसी से प्रेम करो बल्कि तुम्हें अपने सन्तु से भी प्रेम करना चाहिए, उन्हें कोसने क बचना अपायकारक होगा चाहिए, उनसे मकरत

गांधीजी और टास्टरॉय

अस्य सभी दार्शनिकों और विचारकों की अपेक्षा गांधीजी के विचार टास्टरॉय के विचारों के स्वारा मिश्रण थे। गांधीजी की ही भाँति टास्टरॉय की भी सत्य प्रहिंसा और प्रेम में कुछ आरंभ ही और उन्होंने भी बुराईयों को दूर करने के लिए असहयोग का मार्ग बताया है। वे पूर्णतः व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजस्व तथा उसकी समस्त सुविधाओं जैसे कि पुलिस ब्यापार और सेना आदि विरुद्ध थे। उनका कहना था कि समाज का आचार अनैतिक सहयोग होता चाहिए और गांधीजी की तरह वे भी अहिंसक समाज को धारा मानते थे।

अस्य दार्शनिकों का प्रभाव

गांधीजी पर उन सभी अस्य दार्शनिकों और विचारकों का विस्तीर्ण किर्ण इस तक प्रभाव पड़ा था कि उनके दर्शन का आचार सम्पन्नबाह है, जो आत्म की प्रभुता में विश्वास करते थे और विस्तीर्ण संसार को सत्य प्रहिंसा और प्रेम का सुदेश दिया है। पर गांधीजी ने इन सिद्धांतों की नये सिरे से व्याख्या की है और इन सिद्धांतों का वैयक्तिक आचरण के प्रभाव सामूहिक आचरण के लिए भी प्रयत्न किया है। इन तरह उन्होंने सत्य और प्रहिंसा के सिद्धांतों को विकसित किया और उनका दर्शन-शास्त्र एक महत्त्वपूर्ण परम्परा की गई कड़ी बन गया।

प्रध्याय ३

गांधीवाद का आधार

महात्मा गांधी के दर्शन का आधार धार्मिक है और उन्होंने अपने सिद्धान्तों को धार्मिक विश्वासों पर आधारित किया है। उनका कहना है कि संसार में केवल दो ही चीजें हैं—धर्म और अधर्म। इसलिए जीवन के प्रति भी केवल यही दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। मानव-मस्तिष्क अथवा मानव-समाज को असम-असम सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक विनाश में विभाजित नहीं किया जा सकता क्योंकि वे एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं और प्रत्येक पर दूसरे की प्रतिक्रिया होती है। अतः सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक मामलों में अलग-अलग दृष्टिकोण नहीं अपनाए जा सकते। जीवन के सभी कार्य-कारणों में धर्म ही निर्देशक तत्व होना चाहिए क्योंकि धर्म का कोई असम-असम अर्थ नहीं है और मनुष्य के ईशिक कार्यों में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः गांधीजी के सामाजिक व राजनीतिक विचारों तथा 'भावी आदर्श समाज' सम्बन्धी उनकी परिकल्पना को उनका धार्मिक व धार्मिक विश्वासों से असम करके नहीं देखा जा सकता।

ईश्वरीय नियम

गांधीजी की ईश्वर और ईश्वरीय नियम में एक आस्था थी। उनका विश्वास था कि सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन ईश्वरीय नियम के अनुसार होता है। ईश्वर सर्वोपरि और सर्वव्यापी है। राजा और उसके नियमों में तो अन्तर हो सकता है लेकिन ईश्वर और ईश्वरीय नियम में कोई अन्तर नहीं। ईश्वर ही ईश्वरीय नियम है और उसकी इच्छा के बगैर एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

अर्थात् ईश्वर है क्या? असम-असम शक्तियों व शक्तों ने ईश्वर की असम अलग व्याख्या करने की कोशिश की है। गांधीजी अपने परीक्षणों व अनुभवों द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सत्य ही ईश्वर है। उन्होंने कहा—“मेरी दृष्टि में ईश्वर सत्य व प्रेम है। ईश्वर सदापार व नैतिकता है। ईश्वर निर्मलता है वह प्रकाश व जीवन का स्रोत है। फिर भी वह इस सबसे ऊपर है और इस सबसे परे है। ईश्वर धार्मिक चेतना है। वह तर्क और भाषा से परे है।

यद्यपि ईश्वरीय नियमों के विपरीत संसार में कुछ भी नहीं हो सकता तथापि ऐसा नहीं है कि मनुष्य को कदाई स्वतन्त्रता न हो। उसकी उसे स्वतन्त्रता यद्यप्य है लेकिन ईश्वरीय नियमों के अनुसार ही। वह विभिन्न मामों में से धरान लिए कोई भी माय चुन सकता है। धरणाइयों व बुटाइयों में से किसी एक को चुन सकता है, यानी उसे कर्म करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। वह केवल इती धर्म में अपने माय का निर्माता है। वह अपने माय का निर्माण केवल उती हर तक कर सकता है जिस हर तक उस ऐसा करने की ईश्वरीय अनुमति प्राप्त हो। वह धरणाइयों व बुटाइयों में से किसी एक को चुनकर कर्म करता है और उन कर्मों का फल उसे मिलता है। वह कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है लेकिन उन कर्मों के फल उसके बंध में नहीं होते। चूंकि यादीजी मोध और पुनरंज्य में भी विद्वान्त करते से धत से यह मानते से कि विद्वान्त जर्मों के फल मनुष्य की स्वतन्त्रता को सीमित कर देते हैं। उन्होंने मनुष्य की इस स्वतन्त्रता की तुलना धरणाइय भरे हुए बहाज के मुवाधिर की स्वतन्त्रता से की है। तत्पर्य यह है कि संसार ईश्वरीय नियमों के अनुसार एक निश्चित मध्य की धोर जा रहा है और मनुष्य अपनी सीमित स्वतन्त्रता के भीतर जो कर्म करते हैं ईश्वर उन्हें उनका फल देता है।

सत्य, धरिहा और प्रेम

यादीजी सत्य का ही ईश्वर मानते से और उनका बहना था कि सत्य तक पहुँचना ही मनुष्य का धर्मिम सध्य है। यद्यपि पूर्ण सत्य के दखन तक तक सम्भव नहीं जब तक धात्वा धरिह म बन्धी है, तथापि मानवीय दृष्टि से जितना सम्भव हो मनुष्य को सत्य के उतना निकट पहुँचने की चेत्ना करनी चाहिए। यादीजी ने स्वयं भी अपना साध जीवन सत्यान्वेषण में लगाया और इस दौरान में उन्होंने यह खोज की कि सत्य और धरिहा एक ही वस्तु के दो रूप हैं। धरिहा के बिना सत्य के बर्तन होना सम्भव नहीं। सत्य मध्य है तो धरिहा मध्य तक पहुँचने का साधन। वे धरिहा और प्रेम को एक-दूसरे का पर्याय मानते से। धरिहा के सिद्धान्त को अपना लेने पर केवल प्रेम ही धेय बधता है। उन्होंने इस सिद्धान्त को माना है कि केवल उसे प्रेम नहीं करना चाहिए जो अपना हो बकि अपने से मकरय करने वालों से भी प्रेम करना चाहिए। प्रेम ही सत्य और धरिहा का माय है। यादीजी ने सत्य तक पहुँचने के लिए बराबार और नैतिकता को भी धर्मिधार्य माना है। धत उनकी राजनीतिक और सामाजिक धारणाएँ उनके धार्मिक और नैतिक विषयों से सम्बद्ध हैं।

मनुष्य का सत्य

गांधीजी को धारमा की शक्ति पर पूर्ण विश्वास था और उनका कहना था कि यह शक्ति ईश्वर-भक्ति तथा ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा प्राप्त होती है और इस शक्ति का प्रयोग अहिंसा व प्रेम के माध्यम से ही हो सकता है। उनका यह विश्वास था कि अहिंसा और प्रेम द्वारा कट्टर-से-कट्टर शत्रु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। यानी उसे सही मार्ग पर लाया जा सकता है। धारमबल द्वारा खोखल धर्मधारियों को मिटाया जा सकता है। पर यह सोचना पसंद है कि सत्य और अहिंसा का प्रयोग केवल वैयक्तिक रूप से किया जा सकता है। इसका प्रयोग सामूहिक रूप से भी किया जा सकता है।

गांधीजी यह मानते थे कि ईश्वर हमसे अपन नहीं है। वह हममें और दूसरी सभी चीजों में विद्यमान है। मानव-शरीर में जो धारमा वास करती है, वह एक सम्पूर्ण धारमा का ही धर्म है। यानी सभी मनुष्यों में वास करने वाली धारमा मूलतः एक ही है। प्रत्येक जो ईश्वर की सेवा करना चाहता है, उसे मानवता की सेवा करनी चाहिए। ईश्वर की प्राप्ति मनुष्य का अंतिम सत्य है और इस सत्य की प्राप्ति प्राणी-मात्र से प्रेम करने और मानवता की सेवा करने से ही हो सकती है। इस सेवा के बरतने में उसे कुछ पाने की इच्छा नहीं रखनी चाहिए और न यह सोचना चाहिए कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है। निस्वार्थ सेवा द्वारा वह स्वयं अपनी ही सेवा करता है अपने कर्तव्य को पूरा करता है और धारमा बौद्ध हल्का करता है।

धर्म और सत्य

यद्यपि गांधीजी के जीवन-दर्शन का आधार धार्मिक और धार्मिक है, तथापि वे केवल एक धर्म में धारमा नहीं रखते थे। उनका कहना है कि धारम-धर्मग धर्म ईश्वर तक पहुँचने के धर्म-धर्म मार्ग हैं। उन्होंने सभी धर्मों से उनकी धारमधर्मों को ग्रहण किया और सत्य को ही मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म कहा है। उन्होंने संसार के विभिन्न धर्मों का अध्ययन करने पर यह देखा कि सभी धार्मिक धारमधर्मों और धर्मों ने अहिंसा पर ही जोर दिया है, उसकी महिमा का वर्णन किया है और किसी न भी धारमधर्म को अपनाने की सीख नहीं दी। स्वयं मानव-इतिहास एक बात का प्रमाण है कि मनुष्य धारमधर्म से अहिंसा की ओर बढ़कर बढ़ता गया है। धारम-धर्म हमारे पूर्वज नरमथी थे। वे प्रगति करके निकारते धर्म और फिर उन्होंने धारमधर्म को अपनी धारमधर्मधर्मों की धारमधर्म का मुख्य

दावार बनाया गया मानव-सम्पत्ता का व्यक्तित्व हुआ। इस तरह हिंसा में निरन्तर कमी और प्रगति की वृद्धि हुई।

प्रहिंसा और राजनीति

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं राजनीति के प्रति भी महत्तमा नाबी का दृष्टिकोण सामिक था। वे राजनीतिक दलित को साम्य न मानकर रजिदा के जीवन को बेहतर बनाने का साधन-मात्र मानते थे। पूँके राज्य में यह प्रयोग निहित है और उस का प्रयोग भले ही वह किसी भी रूप में क्यों न हो प्रहिंसा के सिद्धांतों के विपरीत है, अतः वे राज्य की दलित को रद्द करने का पक्ष में नहीं थे। उन्होंने राज्य को केन्द्रित और संगठित हिंसा की सहायी है। वे पुँबीवाद को भी हिंसा द्वारा समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे और उन्होंने एक ऐंघ मापी माध्यम समाज की परिष्कारना प्रस्तुत की जो पूर्णतः प्रहिंसामुक्त होना विमम न कोई साधक होना और न कोई साधित, जिसमें सब लोगों का उत्तर समाप्त होगा और जिसमें राष्ट्रीय जीवन का स्व-नियमन होगा।

अध्याय ४

साध्य और साधन

बाबीजी बहुजन हिताय बहुजन मुसाम' के स्थान पर सर्वजन हिताय सर्व जन मुखाय के सिद्धांत को मानते थे। उनका कहना था कि मनुष्य को दूसरे सब लोगों की अधिकतम भलाई करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए, मने ही इस भावस्य की प्राप्ति के लिए उसे मरना ही क्यों न पड़े। केवल बहु जन मुखाय को प्राप्त बनाना का प्रयत्न बहु भी हो सकता है कि स्वार्थी लोगों को भलाई के लिए कुछ लोगों को हानि पहुँचाने देना बुरा नहीं। बाबीजी की दृष्टि में इन सिद्धांत में हृदयहीनता छिपी हुई है और इससे मानवता को हानि ही पहुँचैगी। जब सभी मनुष्यों की भावना एक है तो किसी की भी उद्देश्य करने का प्रयत्न ही नहीं उठना चाहिए। जब एक व्यक्ति अपने को धार्मिक रूप से ऊपर उठता है तो सब मनुष्यों में धार्मिक एकता होने के कारण उसका भावनात्मक का सब पर प्रसर पड़ता है। इसी तरह जब कोई धार्मिक बुरा मार्ग अपनाता है तो उसके बुरे कर्म सम्पूर्ण मानवता को प्रभावित करते हैं। मनुष्य अपने अन्तर्मन लक्ष्य—भावनानुसार (जिसका अर्थ है ईश्वरसे साक्षात्कार प्राप्त करने का पूर्ण वर्तन)—उक्त सभी पद्धतियाँ सत्य हैं जब वह मानव-भाव की सेवा को अपने जीवन का उद्देश्य बनाये। लेकिन चूंकि उसके देश के लोग उसके सबसे निकट होते हैं, इसलिए उसे सर्वप्रथम अपने देशवासियों की सेवा करनी चाहिए।

साध्य कैसा हो ?

यह प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँच कैसे ? उसके लिए साधन क्या होना चाहिए ? इस सम्बन्ध में संसार में दो विचारधाराएँ हैं। एक ओर तो वे लोग हैं जिनका कहना यह है कि साध्य प्राप्त करने का लक्ष्य ही मुख्य है और साधन माध्यम। यदि साध्य सत्य है तो उस तक पहुँचने के लिए कोई भी साधन अपनाया जा सकता है, भले ही वह साधन बुरा ही क्यों न हो। इस दृष्टिकोण का चार्किंग परिणाम यह होता है कि मानव अपने उच्च लक्ष्य तक पहुँचने के लिए चाहे छल चरेक भ्रूण नृशा और हिसा घाति अपना ही काम न

न इसमें कोई बुराई नहीं है, बसोंकि उसका लक्ष्य ठीक है। बूढ़ी घोर पांथीजी घोर कई घन्य धार्मिक दार्शनिकों की विचारधारा है, जिसमें साधन को भी उतना ही महत्वपूर्ण माना गया है जितना कि साध्य को। पांथीजी का कहना है कि साधन घोर साध्य एक-दूसरे के पर्याय हैं। यदि साध्य अच्छा है तो उसकी प्राप्ति के साधन भी धर्मियार्थ रूप से अच्छे होने चाहिए। उन्होंने साधन की बीज से घोर साध्य की पैड़ से तुलना की है। जो सम्बन्ध बीज घोर पैड़ का है वही सम्बन्ध साधन घोर साध्य का है। जब तक साधन अच्छा नहीं होता तब तक उसके परिणाम कदापि अच्छे नहीं हो सकते। यस्त उपारों द्वारा प्राप्य की गई सफलता अस्थिर होती है घोर धन्यतोमत्वा बोध साधित होती है। सच्ची सफलता घोर सच्ची प्रयति तो केवल अच्छे साधनों द्वारा ही सम्भव है। केवल कर्म ही मनुष्य के बच की बात है घोर उसका परिणाम ईश्वर के हाथ में होता है। यत अच्छे साधनों द्वारा ही अच्छे फल हासिल किये जा सकते हैं। इसका धर्म यह हुआ कि केवल अच्छा या बुरा साधन धरना मनुष्य के बच की बात है घोर उसका परिणाम उसके बच के बाहर की बात है। यत शुभ परिणामों की कामना करने वालों के लिए यह धर्मियार्थ है कि वे उसके लिए अच्छे साधन धरनायें। साध्य की ही भाँति हमारे साधन भी बुराई मुक्त होने चाहिए।

एकमात्र साधन

पांथीजी न मनुष्य के धर्मियार्थ लक्ष्य तक पहुँचने के लिए धर्मिष्ठा को एकमात्र साधन माना है घोर उनका कहना है कि इत साधन को सफलतापूर्वक इस्तेमाल करने के लिए धारममुक्ति घोर सुडाचरण धर्मियार्थ है। वही दृष्टिकोण पांथीजी के राजनीतिक धर्म का मुख्य धारार है। वे यह मानत थे कि नैतिक धनुषाधन द्वारा ही सच्चा स्वराज्य हासिल किया जा सकता है। उन्होंने कहा था— 'मैं धर्मिष्ठा की कीमत पर अपने देश की स्वतन्त्रता को खरीदने के लिए तैयार नहीं हूँ। सामाजिक सुधारों के लिए जी वे धर्मिष्ठा घोर सुडाचरण को ही एकमात्र साधन मानते थे। उनका कहना था कि हम जितनी बल्की यह महसूस कर सकेंगे कि हमारा सामाजिक बुराईयों स्वराज्य के मार्ग में बाधक है उतनी ही दृढतति से हम अपने लक्ष्य की घोर बढ़ सकेंगे। यत उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सामाजिक सुधारों को स्वतन्त्रता प्राप्ति तक स्वकित नहीं रखना चाहिए। यदि मनुष्य अच्छे साधन धरनायेया तो उसके परिणाम सामाजिक रूप से अच्छे होंगे। यत उस केवल साधन की ही चिन्ता करनी चाहिए घोर साध्य को ईश्वर पर छोड़ देना चाहिए। उनकी दृष्टि में साध्य घोर साधन ऐसे

महात्मा गांधी

मनुष्यकनीय है कि वे सामन में ही साम्य के पर्यन करते थे और इसीलिए उन्होंने एक बार कहा था कि मेरी दृष्टि में स्वराज्य के लिए किया जाने वाला प्रयत्न ही स्वराज्य है।

भूँक गांधीजी सत्य तक पहुँचने के लिए अहिंसा को एकमात्र सामन मानते थे इसलिए वे जीवन के सभी क्षणों में अत्याय और बुराई को मिटाने तथा मनुष्य के उत्थान के लिए अहिंसा की अनिवार्यता पर जोर देते थे। उनका कहना था कि अहिंसा मानव-जाति का नियम है और वह पाश्चिक सभ्यता की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ बढ़कर है। उसका प्रयोग वे ही लोग कर सकते हैं जिनकी ईश्वर और प्रेम में पूर्ण आस्था हो। अहिंसा द्वारा आत्मसम्मान की पूर्णतः रक्षा की जाती है। लेकिन वह सम्पत्ति की रक्षा का साधन नहीं है क्योंकि वह (अहिंसा) अहिंसा अनतिक्रमता तथा बुरे मामलों से उपाजित सम्पत्ति के स्वभाव-विषय है। जब भी कोई व्यक्ति अथवा राष्ट्र अहिंसा का मार्ग अपनाता है उसे आत्मसम्मान के प्रतिरिक्त सब-कुछ कुरबान कर देने के लिए तैयार रहना चाहिए। अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिसे बन्ने बूढ़े बचान और महिमार्ण, सभी हासिल कर सकते हैं बसमें प्रेमस्वी ईश्वर में उन्हें पूरा विश्वास हो और वे सम्पूर्ण मानव-जाति से प्रेम करते हों। अहिंसा को जीवन का नियम मान लेने पर वह मनुष्य के समस्त कार्य-कलापों का माध्यम बनना चाहिए, न कि यह कि उसे केवल छिटपुट मामलों में प्रयुक्त किया जाय। अहिंसा का नियम व्यक्तियों के लिए जितना प्रभावकारी है उतना ही समूहों के लिए भी।

अहिंसा की व्याख्या

गांधीजी जीव-रूपा न करने को ही अहिंसा नहीं मानते थे। उनकी अहिंसा की व्याख्या बहुत व्यापक है और इसीलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक आत्मा मानव-शरीर में बंधी रहती है तब तक पूर्ण अहिंसा असम्भव है। शरीर कायम रखने में कुछ-न-कुछ अहिंसा निहित होती है और सबसे बधा नहीं जा सकता। उनकी अहिंसा की व्याख्या यह है कि मनुष्य द्वारा कोई भी काम बूधरे किसी भी प्राणी को दुःख पहुँचाने की नीयत से नहीं किया जाना चाहिए। अहिंसा में पूर्ण प्रतिअहिंसा और स्वार्थ की मुंजाइश नहीं। ऐसे अवसर भी पा सकते हैं जब कि किसी जीव को मार डालना ही अहिंसा हो। उदाहरण के रूप, अगर पशु बीमार है उसको बेतहाशा मार दे और उसके बचने की कोई भी सम्भावना नहीं है तो उसे मार मार के मुक्त करने के लिए मार डालना

धर्म के सिद्धान्त के विपरीत न होना । इसी तरह, यदि कोई बच्चा पान की लपटों की ओर भागा जा रहा हो तो उसे बसात् रोक देने में हिंसा नहीं है । हिंसा तो तब होती है जब दूसरे को मुकदान पहुँचाने की नीयत से बल-प्रयोग किया जाय ।

गांधीजी ने धर्म के शीर्ष का अर्थ कहा है । उनका कहना है कि धर्म का पालन वे ही व्यक्ति कर सकते हैं, जिनमें नैतिक और मानसिक बल हो जिनमें साहस हो और जिनमें सहन-शक्ति हो । धर्म के लिए धार्मिक व्यक्ति आवश्यक नहीं । धर्म में आत्मसमर्पण का अर्थ ही स्वयं नहीं है, अतः साहसहीन और डरपोक धर्म का पालन नहीं कर सकते । गांधीजी का कहना है कि डरपोक की धर्मिता से तो हिंसा ही भली यानी यदि हिंसा और डरपोकता में से एक का चुनाव करना हो तो उस हास्य में वे हिंसा को चुनने की सलाह देंगे ।

आत्मबल व नैतिक बल

क्योंकि धर्म के लिए आत्मबल और नैतिक बल की आवश्यकता होती है, इसलिए महात्मा गांधी ने आत्म-शुद्धि और मुखाभरण को अनिवार्य बताया है । धर्म का पालन के लिए उन्होंने अत्यास, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, अशौच (चोरी न करना) अग्निप्रह (सबू न करना) और सत्य के पालन को अनिवार्य कहा है । यहाँ सत्य का अर्थ है सच बोलना । ईश्वरकृपे सत्य और सच बोलने के अर्थ में प्रयुक्त इस 'सत्य' में अन्तर स्पष्ट है । यहाँ पर सत्य से गांधीजी का तात्पर्य यह भी है कि वास्तविकता पर किसी भी तरह परवा नहीं जानना चाहिए, पूर्वाग्रह (किसी भी मामले या व्यक्ति के सम्बन्ध में पहले से ही कोई पारख बना लेना) नहीं होना चाहिए । भोषावकी प्रतिपद्योक्ति विषय धर्म भी नहीं होना चाहिए ।

अज्ञ से भी प्रेम

गांधीजी प्रेम को ही धर्म मानते थे । इसलिए वे सब निश्चय पर पहुँचे कि अत्यास या कुछ काम करने वाले व्यक्ति के प्रति हममें तनिक भी गुणा का रोप नहीं होना चाहिए । धर्मितावही को केवल दुर्गई या अत्यास को मिटाने के लिये प्रयत्न करना चाहिए और वह भी अपने को अज्ञ पहुँचाकर तथा दुर्गई करने वाले का हृदय परिवर्तित करके । अज्ञ ही उस इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कुछ काम अत्यास करने वाले व्यक्ति को हाथि पहुँचाने की नीयत से कोई भी कार्य न किया जाय । दुर्गई या अत्यास करने वाले व्यक्ति

के प्रति हमारी बड़ी भावनाएँ होनी चाहिए जो गरुड मार्ग का अनुसरण करने वाले अपने पुत्र या पिता के प्रति होती हैं। उसके प्रति भी हमारे हृदय में प्रेम ही होना चाहिये क्योंकि अहिंसा का प्रथम धनु से भी प्रेम करना सिखाता है।

अप्रकट व अचेतन प्रभाव

अहिंसा हिंसा की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँची चीज है और उसके निचे हिंसा की अपेक्षा कहीं अधिक साहस की आवश्यकता पड़ती है। अहिंसावादी में मरने का साहस होना चाहिए। यदि कभी ऐसा मौका आ जाय जब मरने और मारने में चुनाव करना पड़े तो अहिंसावादी को मरने का मार्ग ही अपनाना चाहिए। हिंसा का अस्तर तो प्रतिपक्षी पर केवल प्रयत्न रूप में पड़ता है लेकिन अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिसका अस्तर अप्रकट और अचेतन होने के कारण कहीं अधिक महत्त्व होता है। हिंसा में पराजय निश्चित होती है लेकिन अहिंसा में पराजय का कोई स्थान नहीं।

मई व्याख्या नहीं

महात्मा गांधी ने अहिंसा को मई व्याख्या ही नहीं की है, बल्कि उसे जीवन के सभी अंगों में व्यवहृत करके तथा हिंसाहीन अस्त्र को सामूहिक रूप से प्रयुक्त करके मानव-जाति के लिए एक नया मार्ग प्रदत्त किया है। उन्होंने अहिंसा और सत्याग्रह द्वारा भारत को आजादी दिलाकर उसकी ध्येयता का प्रमाणित भी किया है।

अध्याय ५

सत्याग्रह

सहिष्णु-वृत्तधारी हिंसा और अध्याय पर विजय पाने तथा दूसरी दुष्टियों को मिटाने के लिए जो सहिष्णुतात्मक उपाय काम में लाते हैं उन्हे महात्मा गांधी ने सत्याग्रह, यानी 'सत्य के लिए आग्रह' की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि सत्य के लिए आग्रह करना ही सत्याग्रह है। ऐसा करने से सत्य की स्थापना होती है। अधिष्णुता नागरिक अशक्तता और उपवास आदि सत्याग्रह के विभिन्न रूप हैं। महात्मा गांधी ने राजनीतिक और सुधारकारी प्रवृत्तियों में क्यों तथा सर्वमानिक उपायों को भी सत्याग्रह के अन्तर्गत माना है। उनकी दृष्टि में सत्याग्रह अन्धकार और दुष्टियों को समाप्त करने का उपाय मात्र न होकर जीवन का एक तरीका है क्योंकि वह प्रेम-शक्ति और धार्मिक-शक्ति है और इसी शक्ति द्वारा मनुष्य के जीवन का निर्दोष होना चाहिए। सत्याग्रह का प्रयोग जीवन के सभी क्षेत्रों में और सभी तरह के लोगों द्वारा व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से किया जा सकता है। चूंकि धारणा की शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है इसलिए सत्याग्रहों की विजय प्रारम्भ से ही सुनिश्चित माननी चाहिए।

मुख्य धारणा

सत्याग्रह के पीछे मुख्य धारणा यह है कि चूंकि सब मनुष्यों की धारणा एक ही है अतः जब एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के हृदय-परिवर्तन के लिए धार्मिक-पद्धत का उपाय इस्तेमाल करता है तो उसकी धारणा धर्म-पाप के दूसरे लोगों की धारणाओं और विरोधियों की धारणाओं को प्रभावित करती है। इस प्रकार सत्याग्रह को जन्म-समर्पण प्राप्त होता है। सत्याग्रही की धारणा की शक्ति पहले तो विरोधी को अचेतन रूप से प्रभावित करती है और उसके बाद चेतन रूप से। अचेतन रूप से उसका हृदय प्रभावित होता है और चेतन रूप से उसका मस्तिष्क लेकिन हृदय-परिवर्तन होते ही मस्तिष्क प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

सत्याग्रह का उद्देश्य

सत्याग्रह का उद्देश्य कभी भी शत्रुता को पराजित करना नहीं होता। उसे समाप्त करने की बात तो दूर रही सत्याग्रही उसे किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता और उसे ऐसी स्थिति में डालने की कोशिश भी नहीं करता है जिससे उसे सज्जा और परेशानी महसूस हो। वह तो अपने विरोधी को भी इतना अधिक प्यार करता है जितना कि अपने परिवार के सदस्यों सबका अपने मित्रों को। वह यह मानकर बसता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अच्छाइयों भी अनिर्धार्य रूप से होती हैं। परंतु वह अपनी आत्मा की अधिक प्रपंचा प्रेम की शक्ति द्वारा उसकी अच्छी भावनाओं को जाग्रत करता है और इस तरह उसको सही माय पर साने की कोशिश करता है। उसका उद्देश्य यह होता है कि विरोधी सबका शत्रुता अपनी भूलों को महसूस करे और उसके लिए उसे परजाताप हो। सत्याग्रही यह मानकर बसता है कि उसका विरोधी भी जितना ही ईमानदार है जितना कि वह स्वयं और पौरुषम शत्रुता से भी अच्छी भावनाएँ होती हैं। वह विरोधी पर कभी भी अविश्वास नहीं करता मने ही उसने पहले कितने ही भूते बायबे क्यों न किये हों। वह उसकी अच्छी भावनाओं को जाग्रत करके उसे सत्य के बर्धन करता है और ऐसा करने वाला ही अपने को सत्याग्रही कहने का हकदार होता है।

सत्याग्रह का धर्म

सत्याग्रह का धर्म है हिंसा को अहिंसा से असत्य को सत्य से श्रेष्ठ को प्रेम से और दुःख को मसाई से पीतना। परंतु सत्याग्रही में किसी के भी प्रति क्रोध भूषा संवेह और प्रतिहिंसा की भावना तथा मनोमानस्य नहीं होना चाहिए। उसे अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कभी भी किसी की सहायता या समर्थन प्राप्त करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। ताकत संप्रदाय जाने पर भी सत्याग्रही में असहिंसा नही मानी चाहिए। उसे अपने विरोधी को किसी भी रूप में भवभीत करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। विरोधी के प्रति उसका प्रेम कभी भी कम नहीं होना चाहिए और उसके प्रेम-अवर्धन में बनाबटीपन कटई नहीं होना चाहिए। उसका प्रेम सज्जा होना चाहिए। यदि विरोधी उसके ऊपर आक्रमण करे तो भी उसे न तो दूसरों से मदद के लिए कहना चाहिए और न प्रदास्य की धरण मानी चाहिए। उसे हर हास्य में शास्य रहना चाहिए और ईश्वर तथा अपनी आत्मा पर भरोसा करके बसना चाहिए।

इससे कि बिलकुल संघर्ष

इससे स्पष्ट है कि सत्याग्रही के लिए अपने दिन प्रतिदिन का जीवन में व्यय होना आवश्यक है। उसमें आत्मसन्तुष्टता होना चाहिए, क्योंकि जब तक वह अपनी धर्मरक्षा को धुंध करके स्वयं अपने हृदय को परिवर्तित नहीं बना लेता तब तक वह आत्मा की शक्ति द्वारा बाह्य परिस्थिति को बदलने के योग्य नहीं बना सकेगा। अतः उस सबसे पहले अपने स्वयं के विरुद्ध सत्याग्रह करना चाहिए। उसे क्रोध पूर्ण प्रतिहिंसा असहिम्नता और इस तरह की बुरी कुशाकर्मियों के विरुद्ध सत्याग्रह करके जन पर विश्वास प्राप्त करनी चाहिए। उसे जीवन के बुनियादी मूल्यों को प्रकट करके उन्हें अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में बुद्धिसंपन्न तरीके से प्रयुक्त तथा विकसित करना चाहिए। उसे आत्मसन्तुष्टता द्वारा अपने विचारों तथा अपनी भावनाओं पर नियंत्रण हासिल करना चाहिए, क्योंकि इसी से उसमें आन्तरिक शक्ति विकसित होगी और उसकी आत्मा की शक्ति अनेक होगी।

आत्म-वीर्य का महत्त्व

महात्मा गांधी ने आत्म-वीर्य को बड़ा महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि महात्मासुं नामसों में विरोधी के हृदय को परिवर्तित करने में यह उपस्था अतिनी बड़ी भूमिका अदा करती है अतः कोई आत्म-वीर्य नहीं। उन्होंने उपस्था को उनके से भी अधिक महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि प्रकृति का पाप अथवा यह है कि सत्याग्रही ने अतिनी उपस्था की है। उपस्था में अतिनी विपुलता होती है, अतः ही अधिक प्रकृति होती है। यह सोचना समत है कि सत्याग्रही अपने विरोधियों को आन्तरिक शक्ति के प्रयोग के लिए विवश करता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो वह सत्याग्रही नहीं रह जायगा क्योंकि विरोधी को आन्तरिक शक्ति के प्रयोग के लिए विवश करने का परिणाम यह होता कि विरोधी का हृदय-परिवर्तन उकारा कठिन हो जायगा। अतः गांधीजी से यह कहावनी ही है कि सत्याग्रही को ऐसा कोई भी काम जान-बूझकर नहीं करना चाहिये जिससे विरोधी को उपस्था मिले।

सत्याग्रह व सामाजिक भलाई

महात्मा गांधी का कहना है कि सत्याग्रह केवल सामाजिक भलाई के लिए किया जा सकता है, वैयक्तिक लाभ के लिए नहीं। जो व्यक्ति वैयक्तिक लाभ-लाभ के विचार से ऊपर नहीं उठ सकता वह सत्याग्रही बनने के योग्य नहीं।

सत्याग्रही को तो सत्य और न्याय हेतु अपना सर्वस्व त्यागकर कर देने के लिए सदा प्रस्तुत रहना चाहिये। सत्याग्रही जिस बीड़ को छोड़ने के लिए कमी भी तैयार नहीं हो सकता वह है उसका आत्म-सम्मान क्योंकि आत्म-सम्मान के परित्याग का अर्थ होता है नैतिक पतन। अतः सत्याग्रही को हर क्षण पर अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करनी चाहिये और दूसरी सभी चीजों की कुरबानी के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। अनुचित और बुरे उपायों द्वारा एकत्र की गई अन-सम्पत्ति तथा अनैतिक कामों की रक्षा सत्याग्रह द्वारा नहीं की जा सकती। चूंकि पूंजी और सम्पत्ति का संग्रह हिंसा द्वारा होता है अतः पूंजीपति सत्याग्रह द्वारा अपनी पूंजी की रक्षा नहीं कर सकता। सत्याग्रही को कोई बलम उठाने से पूर्व यह विचार कर लेना चाहिए कि जिस अन्याय के विरुद्ध वह सत्याग्रह करना चाहता है वह फिजिकल बल और यन्मीर है तथा उसकी बुद्ध की सीमाएँ क्या हैं।

सत्याग्रही का तरीका

सत्याग्रही अपने विरोधी को समझने-बुझाने और उसके साथ वि-विमर्श करने का ठोका काम में जाता है। अतः उसे विरोधी को समझने के लिए भी हमेशा तैयार रहना चाहिये। उसे इस बात की निरन्तर खोज करते रहना चाहिए कि सान्तिपूर्ण ढंग से समझौता कैसे हो सकता है। जब सत्याग्रह का माथ ठमी अपनाया चाहिये जब समझने-बुझाने के सभी प्रयत्न विफल हो चुके हों। सत्याग्रह शुरू हो जाने के बाद भी किसी-न-किसी समय समझौता करना ही पड़ता है। समझौते की खातिर सत्याग्रही को छोटी-मोटी बातों पर कमी भङ्गना नहीं चाहिए और उनको छोड़ देना चाहिए। इसके समझौता माधान हो जाता है। लेकिन उसे किसी भी बुनियादी मुद्दे को अथवा बुनियादी सिद्धान्त को नहीं छोड़ना चाहिए। यदि समझौता-बातों अक्षय्य हो जाय तो कुछ आरम्भ किया जा सकता है। बरअसल सत्याग्रही के लिए कुछ को जारी रखना अथवा कुछ को स्थगित रखना एक ही बात है, क्योंकि दोनों ही स्थितियों में वह सत्य और न्याय के लिए संव्यस्त रहता है।

असहयोग

असहयोग सत्याग्रह का प्रमुख रूप और प्रमुख धर्म है। उसके पीछे मुख्य कारण यह है कि अन्यायी को अपना अत्याय जारी रखने के लिए दूसरों के सहयोग की आवश्यकता होती है। अतः ही उसे यह सहयोग बल-अयोग द्वारा

हासिल करना पड़े। प्रसह्योग द्वारा उत्पादही उधे इस सहयोग से बंचित रहता है और इस हेतु पाठगारें सहता है। प्रसह्योग के पीछे बरधसन उद्देश्य यह होना चाहिए कि जैसे ही विरोधी का हृदय परिवर्तित हो जाय वैसे ही उस उत्पादही का सहयोग प्राप्त हो जाय, यानी प्रसह्योग का उद्देश्य सहयोग के लिए ग्यामानुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करना होता है। पर ध्यान में रखने की बात यह है कि प्रसह्योग पूर्णतः सहकारत्मक हो क्योंकि प्रसह्योग हिंसारत्मक भी हो सकता है। यदि धम्यायी ऐसा है जिस उत्पादही के सहयोग की आवश्यकता न हो तो उस हासिल में उत्पादहू का उद्देश्य प्राप्त-सुखि होना चाहिए। कभी-कभी प्रसह्योग के कारण प्रतिपक्षी को बच्य या शानि भी उठानी पड़े घनती है लेकिन उत्पादही का उद्देश्य उधे बच्य प्रीय हानि पहुँचाना न होकर प्रेम द्वारा उसका हृदय-परिवर्तन करना होना चाहिए। इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रसह्योग के कारण स्वयं उत्पादही को ही घमिनतम बच्य उठना पड़े। उधे घपने प्रतिपक्षी को यह महसूस कराना चाहिए कि यह उसका मित्र है और मानवीय सेवाधों द्वारा उस उधेके हृदय तक पहुँचने की कोशिश करनी चाहिए।

उपवास

उपवास भी उत्पादहू का ही एक बूझा बग है लेकिन इस उपवास में घोर घनघन में बुनियारी प्रस्तर है। यद्यपि उपवास का भी उद्देश्य धम्यायी के हृदय को परिवर्तित करके धम्याय को समाप्त करना होता है तथापि अहिंसारत्मक प्रस्त्र के रूप में उपवास का ध्येय उठना ब्यापक नहीं है बितना कि प्रसह्योग का। बाधीजी का कहना है कि उपवास सामारण्यतः स्वबर्ना के हृदय-परिवर्तन के लिए किया जाना चाहिए, लेकिन विमेष परिस्थितियाँ में प्रतिपक्षी के धम्याधों के विरोध के लिए भी उपवास किया जा सकता है और बाधीजी ने भी कई घबसरों पर ब्रिटिश सरकार के प्रति घपना विरोध प्रकट करने के लिए भी उपवास किये थे।

यह सोचना बसत है कि उत्पादहू, बाधारण मनुष्या के बच के बाहर की बात है। नैतिक धाम्यानुयायन द्वारा कोई भी ब्यक्ति सफ्य उत्पादही बन सकता है। उत्पादहू द्वारा धम्यायाँ घोर बुराध्यों पर विजय मुनिबिचत होती है। उसमें हार के लिए कोई स्वाग नहीं। सय घोर उत्पादहू की कभी भी पचबय नहीं जाती। उत्पादहू का प्रयोग वारस्परिक मामलों से लेकर बड़े-से बड़े राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मामलों तक पर किया जा सकता है। उसका प्रयोग ब्यक्तिगत रूप से भी किया जा सकता है और सामुहिक रूप से भी।

आत्मानुशासन

उत्पन्न और अहिंसा के अनुयायी धर्मार्थ सत्याग्रही के लिए आत्मानुशासन अनिवार्य है। आत्मानुशासन द्वारा उसकी नैतिक मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति बढ़ती है तथा उसके साहस को बल मिलता है। इस साहस के बिना कोई भी व्यक्ति सत्याग्रही नहीं बन सकता क्योंकि अहिंसा का पालन नैतिक और मानसिक दृष्टि से कमजोर व्यक्तियों के लिए सम्भव नहीं। गांधीजी ने इरपोक्रा-पत्र को सबसे बड़ी हिंसा की संज्ञा दी है, क्योंकि इरपोक्रा की उत्पत्ति ममता से होती है और ममता की जड़ असत्य और हिंसा में होती है। चूंकि ईस्वर में आस्था न होने के कारण ही ममता की उत्पत्ति होती है, इसलिए ममता और इरपोक्रा व्यक्ति उत्पन्न और अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। अतः सत्याग्रही के लिए निर्णयता निताम्य आवश्यक है।

आत्मानुशासन व ब्रह्मचर्य

गांधीजी ने सत्याग्रही के आत्मानुशासन के लिए ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा मनुस्मृति पर आधारित नहीं जा सकती है, जिसमें वैवाहिक जीवन को भी ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत माना गया है। गांधीजी की दृष्टि में ब्रह्मचर्य का अर्थ एक विशेष मानसिक स्थिति से है। वह एक ऐसी मानसिक स्थिति है जिसमें मन बचन और कर्म पर मनुष्य का पूर्ण नियन्त्रण हो। गांधीजी का कहना है कि धार्मिक ब्रह्मचर्य में विवाह का कोई स्थान नहीं है, पर वे यह भी मानते थे कि पूर्ण और धार्मिक ब्रह्मचर्य मनुष्य के लिए, जो कि धर्मपूर्ण है सम्भव नहीं। फिर भी सत्याग्रही को उक्त धार्मिक ब्रह्मचर्य के लिए सर्वप्रथम सचेष्ट रहना चाहिए।

विवाह की अनुमति

गांधीजी का कहना है कि मनुष्य में सम्मानोत्पत्ति की इच्छा होना स्वाभाविक है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए विवाह किया जा सकता है, पर यौन सम्बन्ध

केवल सन्तानसृष्टि के लिए किया जाना चाहिए पारौरिक धानम्ब के लिए नहीं। धार्मिक विवाह का उद्देश्य होना चाहिए पारौरिक सम्बन्ध का प्राध्यात्मिक सम्बन्ध की स्थापना। यदि सत्याग्रही पुरुष ब्रह्मचारी है तो उनका लिए कुछ भी सम्भव नहीं है। वह भारत-समय के कारण स्मृततम स्थिति से ही अधिक तम कार्य सम्पन्न कर सता है और ऐसे व्यक्ति के लिए ही एकाग्रचित्त से मानवता की सेवा करना सम्भव है। लेकिन जहाँ तक सामाजिक व्यक्तियों का सम्बन्ध है उनके लिए वैवाहिक ब्रह्मचर्य ही सही रास्ता है। उम्हने यह समझ ली है कि ब्रह्मचारी को ज्ञान-दान का विशेष ध्यान रखना चाहिए, ऐसी वस्तुओं का सम्बन्ध नहीं करना चाहिए जो उत्तेजक हों। उसे सारणी से रहना चाहिए और समय-बसय पर उपवास करना चाहिए। उम्हने प्रार्थना की आवश्यकता पर भी जोर दिया है।

अधोर्व

गांधीजी ने सत्याग्रही के धात्मानुशासन के लिए जिस उ को धर्म बार्थ बताया है वह है अधोर्व यानी चोरी न करना। पर अधोर्व की अपनी व्याख्या केवल दूसरों की चीजों चुराने और हड़पने तक ही सीमित नहीं। उनकी दृष्टि में मनुष्य को जिस चीज की आवश्यकता नहीं है, उसे स्वीकार करना और अपने पास रखना भी अधोर्व (चोरी) है। इस तरह उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने भविष्य में आवश्यकता पड़ने वाली वस्तुओं के लिए चिन्ता करने और दूसरों की चीजें बचाकर चीजों का उपयोग करने को भी अधोर्व के विपरीत माना है।

अपरिग्रह

उम्हने अधोर्व से धार्ये व पर अपरिग्रह को भी सत्याग्रही के लिए आवश्यक बताया है। इसका अर्थ यह है कि सत्याग्रही को अपनी तात्कालिक आवश्यकता से अधिक कुछ भी अपने पास नहीं रखना चाहिए। पुरुष अपरिग्रह का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने पास से तो मकान रखे न कपड़े-सूते और न कम के लिए भोजन। उसे कम की चिन्ता नहीं होनी चाहिए और उसे ईश्वर के गले से छोड़ देना चाहिए। चूँकि शरीर भी एक तरह की मिश्रितवस्तु ही है इसलिए पर भी दूसरों की सेवा के लिए अर्पित कर देना चाहिए। पर जब तक शरीर कार्य है तब तक उसकी कुछ-न-कुछ आवश्यकताएँ भी रहेंगी। सत्याग्रही को अपनी इन आवश्यकताओं को निरन्तर कम करके स्मृततम बनाना चाहिए, क्योंकि उसे अपने शरीर के प्रति मोह नहीं होना चाहिए। उसे नैतिक पराबों पर अपनी

निर्भरता को म्युमठम बना देना चाहिए । इतका धर्म यह है कि सत्याग्रही के पास वैयक्तिक सम्पत्ति धन-शौलठ और धारायम की वस्तुएँ बिलकुल नहीं होनी चाहिए ।

सत्याग्रही का दृष्टिकोण

सत्याग्रही का दृष्टिकोण यह नहीं होना चाहिए कि वह क्या प्राप्त कर सकता है बल्कि उस उससे अधिक स्वीकार नहीं करता चाहिए जो सामारण व्यक्तिमें के लिए प्राप्त करना सम्भव न हो । इतका धर्म यह हुआ कि सत्याग्रही को अपना धरीर फायम रदन क लिए उन वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए जो निवान्त आवश्यक न हों ।

गांधीजी धन और सम्पत्ति जुटाने के बिलकुल बिबद्ध थे । वे यह मानते थे कि संसार में जो कुछ है वह ईश्वर का है । मनुष्य एक सणमंनुर प्राली है इसलिए उसके लिए सम्पत्ति जुटाने और अधिक की चिन्ता करने का बिचार भी हास्यास्पद है । व सग्रह को ईश्वरीय दत्ता के बिपरीत धाधरण मानते थे । उनका कहना था कि धन और सम्पत्ति जुटाने के लिए मनुष्य को उसकी चिन्ता में इतना भीन होना पड़ता है कि उसे अपनी धारता की चिन्ता नहीं रह जाती । धन सम्पत्ति क कारण मनुष्य का नैतिक पतन होता है ।

वैयक्तिक सम्पत्ति

गांधीजी यह मानते थे कि मनुष्य के पास वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए और बिल किसी के पास जो कुछ सम्पत्ति है वह सब समाज की सम्पत्ति हो जानी चाहिए, किन्तु वे इस बात के लिए तैयार नहीं थे कि धनिकों को उनकी सम्पत्ति से बचित करने के लिए बल प्रयोग किया जाय । उनका यह कहना था कि सत्याग्रही को यह कार्य लोगों को समझ-बुझकर और बाठावरण बदसकर सम्पन्न करना चाहिए ।

गांधीजी वैयक्तिक सम्पत्ति के बिबद्ध इसलिए भी थे कि सम्पत्ति का निर्माण सामाजिक धन द्वारा होता है । धन उस पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार न होकर पूरे समाज का अधिकार होता चाहिए । उनका कहना था कि संसार में बिल लोगों ने भी धन और सम्पत्ति एकत्र की है, उन्होंने हिंसा और धोपण द्वारा ही ऐसा किया है क्योंकि हिंसा के बरीर धन का सग्रह सम्भव नहीं है । धन धन प्रसू यह उठता है कि जो लोग धनवान और सम्पत्तिधारी हैं वे ठक ठक क्या करें जब ठक ऐसा बाठावरण नहीं बन जाता कि वैयक्तिक सम्पत्ति

अध्याय ७

सत्याग्रह का नेतृत्व

महात्मा गांधी ने अहिंसात्मक संघर्ष में सत्याग्रही नेता की भूमिका पर विशेष जोर दिया है, क्योंकि उस संघर्ष की सफलता मुख्यतया इस बात पर निर्भर करती है कि नेता द्वारा प्रपन्ना गया मार्ग सही है अथवा नहीं। उन्होंने अहिंसात्मक संघर्ष में उच्च सत्याग्रहियों की टोली की तुलना सैनिक टुकड़ी से की है। जैसे जो योद्धा पूर्णतया अतन्त्रवादी रहे हैं और आलाप्टाही का उन्होंने बखर विरोध किया है, फिर भी वह यह मानते थे कि संघर्ष के समय सत्याग्रही नेता को आलाप्टाही अधिकार प्राप्त होने चाहिए। संघर्ष के समय वैयक्तिक निर्णय के अधिकार पर कुछ प्रतिबन्ध लग जाते हैं और सत्याग्रहियों की टोली का प्रांशरिक्त अनन्त्र सीमित हो जाता है। टोली के प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह किसी को नेता मानना स्वीकार करे या न करे और उसकी योजना को भी चाहे स्वीकार करे अथवा नहीं। लेकिन एक बार किसी को नेता स्वीकार कर लेने पर प्रत्येक सत्याग्रही के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह उसमें विश्वास रहे और उसके निर्णयों पर भरोसा करे तथा उसके निर्देशन के अनुसार कार्य करे। नेता का प्रत्येक सम्प्र कानून क सदुच्च माना जाना चाहिये और सत्याग्रहियों को उसका पालन करना चाहिये। सत्याग्रहियों की टोली का सम्बन्ध उसके नेता के साथ ठीक वैसे ही होता है जैसा कि सैनिक टुकड़ी का सम्बन्ध उसके सेनापति के साथ होता है। जिस तरह सैनिक अपने लिए प्रसन्न प्रसन्न फैसला नहीं कर सकते ठीक वही तरह संघर्ष के समय सत्याग्रहियों को भी व्यक्तिगत निर्णय का अधिकार नहीं रह जाता। लेकिन सैनिक टुकड़ी के सेनापति और सत्याग्रहियों की टोली के नेता में एक बहुत बड़ा और बुनियादी अन्तर होता है। सैनिकों पर नेतृत्व ऊपर से बोया जाता है, लेकिन सत्याग्रही नेतृत्व का स्वेच्छा से स्वीकार करना है। इसी तरह सैनिक और सत्याग्रही में भी बहुत बड़ा अन्तर होता है। सत्याग्रही जब चाहे वह टोली को छोड़कर स्वतन्त्र मार्ग प्रपन्ना सकता है लेकिन सैनिक जब चाहे वह सेना को छोड़कर नहीं जा सकता।

अनुशासन

गांधीजी यह मानते थे कि सामूहिक कार्यवाहियों के लिए अनुशासन अनिवार्य और यह अनुशासन ठीक रह सकता है जब अनुयायी अपने नेता में पूरा विश्वास रखें तथा उसके निर्देशन के अनुसार काम करें। सत्याग्रहियों की टोसी को जनतांत्रिक संसद का अधिकार इसलिए नहीं दिया जा सकता कि सत्याग्रहियों में कुछ ऐसे लोग होते सकते हैं जिन्होंने कोई अन्य उपाय न देख पढ़ने के कारण अहिंसात्मक संघर्ष का रास्ता स्वीकार किया हो। ऐसे लोग किसी भी समय अहिंसा का परित्याग करने हिंसात्मक तरीके अपना सकते हैं। निर्णय करने का पूरा अधिकार नेता के हाथों में होने से वे लोग समूची टोसी को गलत रास्ते पर नहीं ले जा सकते और अहिंसात्मक संघर्ष में विश्वास न रह जाने पर उनके समक्ष केवल यही एक विकल्प बचता है कि वे टोसी से अलग हो जायें। पर कुछ लोगों की कमजोरियों के कारण अहिंसात्मक संघर्ष गलत मार्ग अपनाते से बच जाता है। वही एक सत्याग्रही नेता का सम्बन्ध है, उससे यह उम्मीद नहीं की जाती कि वह किसी भी हासत में अहिंसात्मक मार्ग को छोड़कर हिंसात्मक मार्ग अपनाएगा क्योंकि सत्याग्रही नेता उसीको बनाया जाता है जो अहिंसा के सिद्धान्त में पूरी तरह विश्वास करता हो और बिछने अपने नैतिक बल के कारण अहिंसा का मार्ग चुना हो। सत्याग्रही नेता वही व्यक्ति बन सकता है बिछने अपने जीवन में सत्य प्रेम, मुक्त अतिरिक्त और निडरता को अपनाया हो अपने धर्म को समाप्त कर दिया हो और अस्मानुशासन द्वारा अति-बल प्राप्त किया हो।

नेता के निर्णय का आधार

एक प्रश्न यह उठता है कि सत्याग्रही नेता को अपने निर्णय किस आधार पर करने चाहिये? उसे जनमत के समक्ष झुटना चाहिये धरना नहीं? उसे उसके द्वारा निर्णयों पर पहुँचना चाहिये अपना अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा द्वारा? यदि उसके अनुयायी उस पक्ष मानते हों तो उसे जनस्ये राय के समक्ष झुटना चाहिये अपना एकाकी पक्ष अपनाया चाहिये?

गांधीजी की दृष्टि में सत्याग्रही नेता अहिंसात्मक उपायों द्वारा सत्य को खोज करने वाला व्यक्ति होता है। जो भी बीच सत्य और अहिंसा से परे हो उसका वह परित्याग करता है। लेकिन कभी-कभी किन्हीं मामलों में यह तय कर पाना कठिन होता है कि क्या सत्य है और क्या असत्य। कभी-कभी यह प्रश्न भी उपस्थित हो जाता है कि धरदार विधेय पर किस कर्तव्य को सर्वोपरि माना जाय? ऐसी परिस्थितियों में मानसिक द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। गांधीजी ने यह राय

सामूहिक सत्याग्रह

सत्याग्रह एक ऐसा महिसात्मक प्रस्न है, जिसका उपयोग व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही स्तरों में किया जा सकता है, लेकिन सत्याग्रह की सफलता सत्याग्रहियों की संख्या पर निर्भर न होकर उनके गुणों पर निर्भर करती है। सम्भाव्यपूर्व साधना का मुकाबला करने और उसकी नीचे हिसा देने के लिए महत्त्व एक सत्याग्रही भी काफी होता है। लेकिन वह पूर्ण रूप से सत्याग्रही होना चाहिए। जिस व्यक्ति ने अहिंसा को अपने जीवन में उतार लिया हो वह अपनी इच्छा-शक्ति से किसी भी काम को सम्पन्न कर सकता है। पूर्ण अहिंसा के लिए किसी संघटित शक्ति की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि आत्मा की शक्ति परवीर होती है और महत्त्व एक व्यक्ति अपनी आत्मा द्वारा विश्व की सम्स्त आत्माओं को प्रभावित कर सकता है। पर ऐसी स्थिति तक पहुँचना मनुष्य के लिए प्रायः असम्भव होता है जिसमें विचार-शक्ति और इच्छा-शक्ति पर उसका पूर्ण नियन्त्रण हो। यह शक्तिव्य परिणामों तक पहुँचने के लिए सामूहिक प्रयत्न आवश्यक हो जाता है। इससे एक लाभ यह भी होता है कि जनता अपनी सामूहिक शक्ति को पहचानने लगती है। दूसरे जिस काम को साधारण व्यक्ति मिलकर करते हैं उसमें एक बगोटी ताकत आ जाती है। यही कारण है कि गांधीजी ने जन-मानवोत्तनों की आवश्यकता पर जोर दिया है और सामूहिक सत्याग्रह के लिए जनता को संगठित व अनुशासित करने को कहा है।

गांधीजी की दृष्टि में सामूहिक सत्याग्रह में नेता का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। जनता को सत्याग्रह में दीक्षित करने की जिम्मेदारी नेता पर ही होती है। उनका कहना है कि सत्याग्रही नेता की सफलता इस बात से धीकी जाती चाहिए कि उसके नेतृत्व में काम करने वाले सत्याग्रही अमसाध्य रचनात्मक कार्यों में भी अपनी शक्तिव्य लेते हैं या नहीं बिचनी कि धीकी कार्यवाहियों में। सत्याग्रही नेता को अपनी ईमानदारी और अपने व्यापक ज्ञान द्वारा अपने अनुयायियों की सहाय व शक्ति हासिल करनी चाहिए ताकि वे सही रूप से अपनी आशाओं का पालन कर सकें। उसे अपनी ईमानदारी और ज्ञान

महत्त्वा गांधी

द्वारा ही विरोधियों को भी निश्चल करना और उन्हें जीतना चाहिए। सत्या-
ग्रही नेता को अपनी इच्छियों पर निबन्ध रखना चाहिए और उसमें निस्वार्थ
भावना तथा बिनप्रादा होनेी चाहिए। सत्याग्रही नेता के अन्य गुणों के सम्बन्ध
में हम पिछले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं।

सत्याग्रहियों का प्रशिक्षण

प्राचीन भारत में ऋषि-मुनि शास्त्रों में रहने से और वही अपने शिष्यों को
शिक्षा-बीजा दिया करते थे। गांधीजी ने भी सत्याग्रहियों के प्रशिक्षण के लिए
शास्त्रों को सर्वोत्तम माना है। क्योंकि शास्त्र में सुख और शिष्य एक साथ रहते
हैं और शिष्यों को अपने गुरु के वैदिक जीवन से भी शिक्षा ग्रहण करने का
अवसर प्राप्त होता है। सत्याग्रही के लिए शास्त्र इस दृष्टि से भी उपयुक्त है
कि उसे अपना जीवन धारणा में अपनाया जा सकता है।

सार्वजनिक संगठन

सामूहिक सत्याग्रह की आवश्यकता स्वीकार कर लेने के बाद यह स्वानाबिक
कि सार्वजनिक संगठनों की आवश्यकता भी स्वीकार की जाती। महत्त्वा
तापी में कांग्रेस को ही नेतृत्व प्रदान नहीं किया बल्कि वे कितने ही सार्वजनिक
रचनात्मक संगठनों के जन्मदाता भी थे। गांधीजी ने स्वयंसेवकों के संगठन और
प्रशिक्षण की आवश्यकता को भी स्वीकार किया है। जहाँ कांग्रेस को एक
पूर्युक्त परिष्कारक संगठन बनाने की कोशिश की—ऐसा संगठन जो स्वराज्य
ही हासिल न कर सके बल्कि जो उसके बाद भी परिष्कारक तटिके से ही काम
करता रहे। लेकिन वे अपने इस उद्देश्य में पूरी तरह सफल न हो पाए।

बहुमत व अल्पमत का सम्बन्ध

गांधीजी का कहना था कि परिष्कारक संगठन की कार्य-प्रणति प्रजातन्त्रीय
हानी चाहिए। लेकिन वे इस बात के पक्ष में नहीं थे कि बहुमत अपने निरुपे
को अल्पमत पर बाध सके। उनका कहना था कि प्र-सैद्धांतिक मसला पर
बहुमत का निर्णय सबको मान्य होना चाहिए, लेकिन यदि कोई सैद्धांतिक मसला
हो तो अल्पमत के विचारों का पूरी तरह ध्यान रखा जाना चाहिए। यदि
सैद्धांतिक मसलों पर बहुमत के निर्णयों से अल्पमत वालों को धारापत्र पहुँचता
हो तो बेहतर होगा कि बहुमत द्वारा अपना निर्णय घोषणा न जाय। अल्पमत को
बहुमत के साथ पूरी तरह से सहयोग करना चाहिए और उसके निर्णयों को

मानना चाहिए। लेकिन जब उसे संघटन के बुनियादी सिद्धान्तों में ही यकीन न हो तो उसे संघटन में रहकर रोड़े नहीं घटकाना चाहिए, बल्कि संघटन से घसब हो जाना चाहिए। संघटन में रहकर बिरोधी नीति अपनाना तथा रोड़े घटकाना सत्याग्रह के सिद्धान्तों के विपरीत है। संघटन से घसब हो जाने के बाद भी घसबत को जहाँ तक सम्भव हो सके, बहुमत के साथ सहयोग करना चाहिए। संघटन में चुनावों के बल भुटों द्वारा एक-दूसरे की घाली-बनाई न की जानी चाहिए और न मत हासिल करने के लिए अनुचित बहाब बालना चाहिए। मत हाताओं को प्रभावित करने के लिए कबल उचित साधन इस्तेमाल किए जाने चाहिए। सर्वों के बल पर पद हासिल करने की प्रपत्ता सेवा द्वारा उसे प्राप्त करना चाहिए। अधिसत्त्वक संघटन में सत्तात्मक राजनीति के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। दूसरे संघटन के भीतर अष्टाचार को कदापि सहन नहीं करना चाहिए। कांग्रेस संघटन में जब-जब अष्टाचार बढ़ा और पद हासिल करने के लिए बोगस सदस्यता धारि बुराईयाँ का सहारा लिया जाने लगा तब-तब महारमा गांधी ने प्रपता ध्यात इस अष्टाचार के उन्मूलन पर केन्द्रित किया।

सार्वजनिक संघटन व प्रजातन्त्र

महात्मा गांधी का कहना था कि जिस बल सार्वजनिक संघटन कोई सत्याग्रह-प्रान्त्वोलन बना रहा हो उस बल प्राण्टरिक प्रजातन्त्र को कायम रखना असम्भव हो जाता है। संघर्ष के समय उसके लिए अधिनायकवाद प्रपनाना अनेक दृष्टियों से प्रावन्मक हो जाता है। पहली बात तो यह कि सार्वजनिक संघटन में से ऐसे लोग भी हो सकते हैं जिन्होंने अधिसा को केवल एक नीति के रूप में स्वीकार किया हो और किसी भी मौके पर उसे छोड़ने के लिए के तैयार हो सकते हों। लेकिन प्रान्त्वोलन का नेतृत्व किसी अधिनायक के हाथ में होने से उसके अधिसत्त्वक रूप पहल करने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। दूसरे, सरकार द्वारा नेताओं के निरस्तार कर लिए जाने पर प्रान्त्वोलन जारी रखने का केवल यही एक उपाय वेप रहता है कि समस्त अधिकार स्थानिक अधिनायकों के सुपुर्ब करके प्रान्त्वोलन का नेतृत्व विकेन्द्रित कर दिया जाय। लेकिन इस अधिनायकवाद में किसी भी प्रकार की और-बबरबस्ती की भुजायध नहीं रहनी चाहिए। अधिनायक को केवल प्रपता नैतिक प्रभाव इस्तेमाल करना चाहिए और हर किसी को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वह जब भी चाहे संघटन से प्रसव हो जाय।

महात्मा गांधी

गांधीजी की यह मान्यता थी कि किसी भी संघटन के प्रजातन्त्रीय होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह बहुत बड़ा हो। उसकी सफल संज्ञा बहुत अधिक होने से उसमें भ्रष्टाचार और दिखावा पादि बुझाया पैदा हो सकती है। यदि उसमें केवल बोढ़े-से ऐसे लोग हों जो उन लोगों की भावनाओं और महत्वाकांक्षों का प्रतिनिधित्व करते हों जिनके प्रतिनिधित्व का बाबा संघटन करता है तो वह अपने धर्म में प्रजातन्त्रीय संघटन होगा। ग्रहित्वात्मक संघटन स्वैच्छिक भावाकारिता और नैतिक समर्पण पर निर्भर करता है इसलिए उसके प्रतिनिधित्व के अधिकार का धर्म होता है समान हितों के लिए कष्ट उठाने और सेवा करने का अधिकार। इसी दृष्टि से उन्होंने १९४८ में यह मुद्दा रखे कि कायस संघटन भंग कर दिया जाय और वह लोक-सेवक संघ का नाम से एक नये संघटन के रूप में देश की धार्मिक सामाजिक और नैतिक स्वतन्त्रता के लिए काम करे। जनता कहना था कि यह सब ऐसे महा-वहियों का संघटन होना चाहिए जो अपना जीवन रचनात्मक कार्यों में लगाएँ, सविन कायस को यह मुद्दा स्वीकार्य नहीं था और उसने अपने नये परिषद में प्रतिपूर्णा और स्थापित उपायों से एक न्यायवादी सहकारी समाज की स्थापना का उद्देश्य स्वीकार किया। बाद में समाजवादी धर्म के समर्थकों की स्थापना उसका उद्देश्य बना। गांधीजी ने ग्रहित्वात्मक संघटन के लिए रचनात्मक कार्यों को सर्वत्र ही प्रतिपादित माना है और उन्हीं की प्रेरणा से कायस ने राजनैतिक धर्मों के साथ-साथ रचनात्मक कार्यों को भी अपने हाथ में लिया।

स्वयंसेवक दल

गांधीजी ने उत्पादक-मान्यता के लिए स्वयंसेवक दल की आवश्यकता को भी स्वीकार किया है। उनके जीवन-काल में ही कांग्रेस ने भी सेवा दल समिति किया और उन्हीं की प्रेरणा से सीमा प्रान्त में जिन प्रमुख पत्रकारों ने गुवाहटी विरामगारों का स्वयंसेवक दल समिति किया। १९३८ में गांधीजी की ही प्रेरणा से साम्प्रदायिक दवा की रोकथाम के लिए 'घांति स्वयंसेवक दल' का संघटन किया गया था। जनता को परावर इस बात पर रहा है कि स्वयंसेवक दलों में केवल उच्च वर्ग वाले ऐसे लोग नहीं हिये जाने चाहिए जो ग्रहित्वा का बल लेने को तैयार हों। उन्होंने यह राय भी दी कि अपना पूरा समय देना-सेवा में लगाने वाले परीब स्वयंसेवकों को अपनी मूलतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी उन्हें धनतोय्यता अपने धर्म तथा उन लोगों की विभर करना चाहिए जिनकी वे सेवा करते हैं। स्वयंसेवक की धाम पर

निर्मर्यादा यह प्रगट करेगी कि गाँव बाबों को उसकी सेवाएँ स्वीकार्य हैं उन्हें उस पर विश्वास है। घोर से उसकी भावश्यकताओं की पूर्ति करना अपना कर्तव्य समझते हैं। यद्यपि स्वयंसेवकों से यह अपेक्षित होना कि वे संघर्ष के समय घायले बड़कर उधमें हिस्सा में तथापि उनका मुख्य उद्देश्य जनता को उत्पादक के लिए प्रोत्साहित करना तथा नये शर्तों होने वाले स्वयंसेवकों को अनुशासित करना होना चाहिए। संघर्ष के समय उन्हें जनाभा सुसुख और हस्ताभ आदि का आयोजन करना आदिग भेदिन शांति-जाल में अपना धारा समय रचनात्मक कार्यों में लगाना चाहिए।

स्वयंसेवकों के धाय व कर्तव्य

ग्राम-सेवक को खासी का प्रचार घोर रेश के पुनर्निर्माण को अपना कर्तव्य मानना चाहिए। उसे अपनी सहाया द्वारा गाँव के बरीब-से-बरीब व्यक्तियों क साथ भी सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। उसे गाँव की सफाई बीमारों के उपचार और बच्चों को पढ़ाने का काम करने के साथ-साथ शमीणों के धारपी म्भर्दा के निपटारे के लिए मध्यस्थता का काम भी करना चाहिए। उसे नियमित रूप से कटाई करनी चाहिए और उसका घर रचनात्मक कार्यक्रम का केन्द्र होना चाहिए। स्वयंसेवक वर्गों में अनुशासन का उद्देश्य उत्पादकियों में नैतिक बस का विकास करना होना चाहिए। अनुशासन इस प्रकार का होना चाहिए, जिससे उत्पादक ही सैकिक सम्पूर्ण मानवता के साथ नैतिक और साम्यात्मिक सम्बन्ध जोड़ सकें। यह अनुशासन इस प्रकार का होना चाहिए जिससे उत्पादक ही में सेवा और त्याग की भावना विकसित हो और उधमें इतना साहस उत्पन्न हो सके कि वह कमी भी बदले की धारणा को अपने हृदय में स्थान न दे सके ही उसे अपने प्राण लोछावर क्यों न करने पड़ें। उनकी भावना भी कि हरमाइही स्वयंसेवकों में इत तरह का अनुशासन रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा ही पा सकता है।

गांधीजी के अनुधार उत्पादक ही स्वयंसेवकों के लिए निम्नलिखित शर्तें अनिवार्य होनी चाहिए—

१. उसका ईस्वर में बड़ विश्वास हो।
२. क्षय और अहिंसा में उसकी बड़ धारणा हो। वह मानव-प्रकृति की धारणा हकों में विश्वास करता हो और सत्य धेम तथा धारम-बीड़न द्वारा वह अपनी इन धारणाओं को विकसित करने का उत्तम प्रयत्न करता रहे।

महात्मा गांधी

१. उसका जीवन पवित्र होना चाहिए और उसे अपने सब की प्राप्ति के लिए अपने प्राण तथा सर्वस्व सौंपकर करने के लिए तैयार रहना चाहिये ।
४. उसे सबैक खाधी पहनना चाहिए और सूत काटना चाहिए ।
५. उसे माँस और मयिरा का सेवन तथा भूभ्रपान नहीं करना चाहिए, और न किसी धर्म्य भावक इन्धु का सेवन करना चाहिए ।
६. उसे अनुशासन-सम्बन्धी सभी नियमों का पालन करना चाहिए ।
७. मिरफ्तार हो जाने पर उसे जेल के नियमों का पालन करना चाहिए, बरतें कि वे उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाने के लिए न बनाये गये हों ।

अध्याय ९

सत्याग्रह का प्रचार

महात्मा गांधी ने सत्याग्रहियों तथा अहिंसात्मक संघर्षियों द्वारा सत्याग्रह के संदेश को जन-साधारण तक पहुंचाये जाने की आवश्यकता को माना है। लेकिन प्रचार के सम्बन्ध में उनकी दारुणा पारितोष्य धारणाओं से बिल्कुल भिन्न है। पारितोष्य धारणा के अनुसार प्रचार का उद्देश्य जनमत को नियंत्रित करना होता है और उसके सिधे हुए तरह के उपाय काम में लिए जाते हैं। इस धारणा वाले लोग यह बिन्ता नहीं करते कि प्रचार के लिए केवल सत्य का ही सहारा लिया जाय। अक्सर बोलबाली की जाती है और लोगों को मसत जानकारी देकर प्रभावित करने की कोशिश की जाती है। पर गांधीजी इस तरह के प्रचार को सर्वथा विरुद्ध थे। वे यह मानते थे कि प्रचार का उद्देश्य जनमत को नियंत्रित करना तथा उस पर हावी होना नहीं होना चाहिए, बल्कि उसका उद्देश्य होना चाहिये लोगों तक सत्य को पहुंचाना और अहिंसात्मक तरीका से जनमत को प्रविष्टित करना।

सत्य की अभिव्यक्ति

महात्मा गांधी की यह बड़ी माय्यता थी कि सत्य अपनी अभिव्यक्ति स्वतः करता है। अतः हममें सत्य है तो वह दूसरों तक प्रवेश ही पहुंच सकेगा और लोग उसे देख सकेंगे। जीवन में सत्य की अभिव्यक्ति होने से समुदाय बातावरण प्रभावित होने लगता है। इस प्रकार सत्याग्रह अथवा धारणा की शक्ति प्रचार के नीतिक माध्यमों से परे है और वह अपनी प्रचार स्वयं ही कर लेती है। धारणा की शक्ति अपनी अभिव्यक्ति द्वारा धारणा के लोगों तथा समुदाय मानकता को प्रभावित करती है। अतः सत्य और अहिंसा के सम्बन्धवाहक सत्याग्रही का लक्ष्य जीवन होता है। वह जीवन के अहिंसात्मक मुद्दों को बहल करता है और सत्य तथा अहिंसा को अपने जीवन में उठाया है। अतः उसका जीवन स्वयं में एक प्रचार होता है। अतः सत्याग्रही अपनी जीवन लोगों की सेवा में लगाता है, उसके लिए त्याग करता है और कष्ट सहता है। अतः इस अथवा

महत्त्वा बांधी

सोमों पर जो प्रहार पड़ता है वह प्रहार के घन्य सभी मामलों द्वारा दाने घने प्रहार की प्रवेक्षा स्वाहा महत्त और स्वायी होता है ।

प्रचार का तरीका

नाथीजी ने बराबर इस बात पर जोर दिया है कि सत्याग्रही को अपने विचारों को नियमित रखना चाहिए ताकि वह कम-से-कम द्यमित समाकर अधिक-से-अधिक काम कर सके । उन्होंने यह राम भी दी है कि सत्याग्रही को बामोसी के साथ काम अधिक करना चाहिए और बोसना ब विबाना बम चाहिए । फिर भी उन्होंने यह स्वीकार किया है कि लोगों तक अपने सन्देश पहुँचाने के लिए सत्याग्रही को प्रचार के भौतिक साधन इस्तेमाल करने की भी आवश्यकता पड़ सकती है । उन्होंने स्वयं भी सत्य और अहिंसा के सन्देश को लोगों तक पहुँचाने के लिए पुस्तकों समाचार-पत्रों मंच और पर-यात्राया प्रादि का सहारा लिया था । लेकिन वे बबस उठना ही निस्तते ब बोसते थे जितना कि अपनी बात को समझने तथा प्रामोबकों को उत्तर देने के लिए आवश्यक हो । उन्होंने अपने अनुयायियों को भी यही राम दी है कि ब केवल तभी सिद्ध जब सिद्ध बमर काम न बन सके पर इस निबारी के कारण उनके काम म बकाबट नही मानी चाहिए । समाचार-पत्रों का सहाय भी केवल सत्य के प्रचार के लिए लिया जाना चाहिए और इस बात की पूरी गारन्ती रखनी चाहिये कि उसमें प्रसत्य का प्रवेश न होने पाये । प्रसंग करने और नारे मयाने म भी कोई बुवाई नही है पर उसमें प्रसहितयुवा श्रेय ब प्रतिहिंसा की भावना नही होनी चाहिए और जबरत से ज्यादा जोस भी नही विबाना चाहिए । सत्याग्रही के भायल भी प्रत्यन्त संयत हाने चाहिए और समार्ये पूर्वुठ घनुयासित होनी चाहिए । सत्याग्रही को अपने प्रतिपक्षी की निन्दा नही करनी चाहिए बल्कि उसके मत के प्रति सम्मान की भावना रखनी चाहिये । उसक भायल का उद्वेस भोत्राओं की कर तल प्बित हासिस करना नही बल्कि उन्हें धरन दृष्टिकोण समझना हाना चाहिए । उधे इस बात का पूरी तरह प्मान रहुता चाहिये कि उसके भायल में प्रति घयोक्तियाँ न घाने पावें और उसके भायल और भोत्राओं म श्रेय नूना और प्रतिहिंसा की भावनाएँ उत्पन्न न हो सकें । भायल प्रभावकारी प्रबल होना चाहिए, बल्कि उसमें बनाबटीपन नही होना चाहिए ।

पत्रकारिता

पापीजो का कहना है कि पत्रकारिता का एकमात्र उद्देश्य सेवा करना होना चाहिए। समाचार-पत्रों को जन भावना का समझना तथा उसकी अभिव्यक्ति करनी चाहिये और उन्हें जनता में राष्ट्रीय भावनाएँ उत्पन्न करनी चाहिए, तथा सार्वजनिक बुद्धियों को निर्धनतापूर्वक प्रकाश में लाना चाहिए। राज्य की गृहण नहीं किया या नसिक अपने जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक सहा-यक के रूप में। उन्होंने सबसे इस बात का ध्यान रखा कि उनकी सेवनी में जन की भावना न धाने पाए। वे न तो कभी सरकारण लिखते और न महज सोचों पर ही प्रत्यक्ष सक्रियता बरती। उन्हें यह बात पसन्द न थी कि समाचार-पत्रों में साधारण व्यक्तियों के लिए घासों से भी अधिक महत्त्व प्रहृत कर दिया है। ऐसे लोगों को उन्होंने बह राग ही है कि वे समाचार-पत्र पढ़ना ही छोड़ दें क्योंकि इससे उन्हें कोई हानि नहीं होनी। जनका कहना है कि मस्तिष्क द्वारा धारणा को धरणी बुद्धक घासों तथा धन्य धन्ये साहित्य से ही मिल सकती है। उन्होंने प्रेस का सत्ता को स्वीकार किया है और बुद्धयोग को धारणा की संज्ञा भी है। वे इस बात के भी विरुद्ध थे कि पत्रों को व्यापारिक धारणा पर चलाना चाहिए और पू जीपतियों तथा विज्ञापनवादाओं का उन पर निर्भरन रहे।

मौखिक प्रचार

भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के दौरान ऐसे घनेक धरसर धाये जब कि प्रेस की स्वतन्त्रता पर सरकार द्वारा तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाये गए और उनके समस केवल हो ही विकल्प रह गए—पहला यह कि वे अपना प्रवासन ही बन्द कर दें और दूसरा यह कि वे सरकारी धारणाओं की प्रवहेलना करके उसके परिष्कारों को नुयतने के लिए तैयार हों। सरकार द्वारा बितने ही पत्रों को प्रकाशन बन्द करने के लिए विवध भी किया गया और कई धरसरों पर पत्रों के सरकार द्वारा लगाये गए प्रतिबन्धों के विरोध-स्वरूप स्वतः प्रकाशन स्वबिध कर दिया। बाबीजी ने ऐसे धरसरों पर छोटे-छोटे हस्तलिखित समाचार-पत्र निकालने की सलाह दी। ये पत्र रजिस्टर्ड नहीं होते थे और जिस भी व्यक्ति को उसकी प्रति भिजती थी उससे यह धारणा की जाती थी कि वह उसकी कई प्रतियाँ बनाकर दूसरे सोचों तक पहुँचायेना ताकि अधिकाधिक लोगों तक सत्याग्रह का

महत्त्वा मांभी

सन्देश पहुँच सके। १९४०-४१ में जब यह सम्भावना उत्पन्न हो गयी थी कि सरकार समूचे राष्ट्रीय प्रेसों का दमन करेगी तो मांभीजी ने यह सलाह दी कि सत्याग्रह के संदेश को लोग एक-दूसरे तक मौखिक रूप से पहुँचाएँ। इस प्रकार सत्याग्रह-सम्बन्धी समाचार बिना किसी व्यय के काफी बड़ी संख्या में लोगों तक पहुँचाये जा सकते हैं।

प्रचार का सर्वोत्तम माध्यम

लेकिन मांभीजी की दृष्टि में सत्याग्रह के प्रचार का सर्वोत्तम माध्यम या रचनात्मक कार्यक्रम। बनना चाहिए कि सत्याग्रही के प्रचार की दृष्टि उसकी मपीन की धार्मिकता है। उसका उद्देश्य उच्चतम नतिष्ठा होना चाहिए। सत्याग्रही प्रचारक को अपनी संभाषों तथा त्याग को ही प्रचार का मुख्य माध्यम मानना चाहिए और इस बात का सर्वैव ध्यान रखना चाहिए कि यह प्रचार धर्म सभी माध्यमों से किये गए प्रचार की अपेक्षा ज्यादा प्रभावकारी होता है।

सामूहिक सत्याग्रह की टेकनीक

पांडीजी ने सामूहिक सत्याग्रह की टेकनीक प्रथम उसके व्यावहारिक पक्ष पर भी बहुत कुछ लिखा है। क्योंकि बड़े पैमाने पर सामूहिक सत्याग्रह इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि जममें हिंसा के प्रवेश कर जाने की सम्भावना बनी रहती है। सामूहिक सत्याग्रह की सफलता मुख्यतः इसी बात पर निर्भर करती है कि वह पूर्णतया अहिंसात्मक हो। जहाँ ही अक्षय्य ऐसे लोग भी शामिल हो जो अहिंसा में पूरी तरह यकीन नहीं करते। सामूहिक सत्याग्रह में हिंसा की सम्भावना दूर-दूर भौंर भी घब्राने वाली है। क्योंकि जब सत्याग्रह का समय करने के लिए प्रत्याय और बुद्धि का सहारा लिया जाता है तो जन-सम्पर्क में रोप पैदा हो जाता है और उसके से हिंसा की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं। अतः सत्याग्रही पर यह दृष्टिकोण भी होता है कि कितने समय तक अत्याग्रह प्रारम्भित नमता रहे उतने समय तक दूसरे लोग भी हिंसा की ओर उन्मुख न हो पाएँ।

विरोधी के प्रति व्यवहार

जैसा कि हम पूर्व अध्यायों में यह चुके हैं, अत्याग्रही को अपने विरोधी की कठिनाइयों से साज उठाने प्रथम उसकी कठिनाइयों को बर्कान की कोशिश नहीं करनी चाहिए। उसे ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए जिससे विरोधी पक्ष में क्रुद्धा और पासबिकता घाव। इसकी वजह यह है कि जब विरोधी यह देखता है कि अत्याग्रह का उद्देश्य उसकी कठिनाई या संकट में हो तो उस समय अत्याग्रह शुरू ही न किया जाय। इसी तरह इन सिद्धान्तों का अर्थ यह भी नहीं है कि यदि विरोधी क्रुद्धा और भयंकर समय पर उतर घाये तो इस समय से अत्याग्रह बन्द कर दिया जाय कि उससे विरोधी क्रुद्धा बड़ेगी। इन सिद्धान्तों से तात्पर्य केवल यह है कि अत्याग्रही को केवल नहीं करना चाहिए जो उसके नैतिक कर्तव्य की दृष्टि से आवश्यक हो और उसे ऐसा कोई भी काम नहीं करना चाहिए जिसका उद्देश्य विरोधी की कठिनाइयों को बर्काना प्रथम उसे क्रुद्ध बनने के अध्ये विषय करना हो। अत्याग्रही का उद्देश्य प्रारम्भ-मीडम द्वारा विरोधी पर

सत्यता वांछी
अप्य प्राप्त करना होता है मर्कित यह प्रारम्भपीडन उस हृदय तब न पहुँचाया
जा चाहिए कि सत्याग्रही का सम्बन्ध ही न रह जाय ।

बाह्य व आन्तरिक स्थिति

सत्याग्रही का बाह्य परिचय। का अथवा आन्तरिक स्थिति का अथवा ध्यान
रखना चाहिए, क्योंकि सत्याग्रह की सफलता के लिए अनुमानित प्रतिबाध ज्ञान
है । दूसरे सामूहिक सत्याग्रह के लिए यह भी आवश्यक है कि सत्याग्रह स्वना
त्मक कार्यो द्वारा जन-साधारण पर इसका नियंत्रण कायम कर न कि जन
साधारण के हितोत्थक तन्त्र भी सत्याग्रह के लोगन में विमान्य कायकालियो न
करें । सामूहिक सत्याग्रह शुरू करने में प्रथम भी स्थिति का ध्यान करना चाहिए
स्वक होता है जिसमें हितोत्थक ज्ञानो की समाधान न रहे । दूसरे सत्या
ग्रहियों की टानी एसी होना चाहिए जो जना का आरोप मिलन हो सत्याग्रह
स्वचित कर दे प्रीत इस स्थिति के फलस्वरूप उमम निर्गम या कमजारी की
माकना न ध्यान पाय । यदि सत्याग्रह स्थिति बन्धन का अर्थवा प्रकल हो ना भी
उसका पालन करना चाहिए प्रीत इस धर्म का ध्यान हृदय में स्थान होना चाहिए
कि उससे सत्य में कमजारी आभा । पर एम अर्थवा भी ध्या मचन है तब कि
हितोत्थक ज्ञानोत्थक में सामूहिक सत्याग्रह शुरू करना प्रतिबाध हो जाय । तभी
स्थिति में एम प्रतिबन्ध जगल चाहिए जिससे सत्याग्रह प्रतिबन्धक यह प्रीत
हितोत्थक तन्त्र उमम प्रकल न हो पाय । सत्याग्रह के लिए स्थान प्रीत ममम
का बुनाब जना ज्ञान विना जाना चाहिए प्रीत उमम निर्गम ममम सत्याग्रहिया
। मान्य होना चाहिए ।

सत्याग्रह के लिए मुझे

सामूहिक सत्याग्रह के लिए आवश्यक है कि वह पुर अनुभव का प्रिया बन्ध
बड़ी विचारधर या तकनीक को हूर करान के लिए प्रिया जाय । यह निर्वाचन
बोधमय प्रीत मुस्पष्ट होनी चाहिए प्रीत बहुत से मुठों का एक दूतर के माय
मिलना नहीं चाहिए । सत्याग्रह बन्ध आन्तरिक जगल के लिए प्रिया या
वज्रता है, प्रिया प्रकल उर स्व की प्रकल के लिए नहीं । सत्याग्रहियों का मूल
धर्म नहिं प्रस्तुत करना चाहिए प्रीत आवश्यकता बहुत जान कर ना तब तक कि
कोई अनचित कारण न हो, प्रानी मौनों को बहना नहीं चाहिए । सत्याग्रह
विस उर स्व की प्रकल के लिए आवश्यक प्रिया जाय उम उम उर स्व तब तक प्रकल
करना चाहिए ।

मजदूर, पेंर-हड़ताल मजदूरों को किसी भी तरह से परेशान न करें, हड़ताल के शोरगुल में अपनी यूनियन के काय प्रथवा अग्रे पर निर्भर न करके स्वयं अपने ऊपर निर्भर करें, अपना समय प्रस्थामी उत्पात्क क्रमों में मयाएँ, हड़ताल की प्रथमि चाहे जितनी सगंधी हो उनकी हड़ताल म कमी न घाने पाए, हड़तालिया में मर्तृत्व हो और हड़ताल तमी की प्राय जब समझौते की बातोंएँ प्रच्छन्न हो चुकी हों। उनका कहना है कि मजदूरों को अपनी यूनियन की स्वीकृति के बगैर हड़ताल नहीं करनी चाहिए। यदि उनके स्वातंत्र्य पर काम करने के लिए दूसरे बहुत से मजदूर उपलब्ध हा तो उस हासत में उन्हें बेतन प्राधि के प्रदर्शों पर हड़ताल न करके नौकरी से इस्तीफा दे देना चाहिए। मजदूरों की हड़ताले केवल उन्ही तक सीमित रहनी चाहिए और दूसरे मोबा प्रथवा अन्य मजदूरों को सहायु भूति में हड़ताल न करके नौकरी से इस्तीफा दे देना चाहिए। लेकिन यदि कारखानों के मासिक मिस जायें और वे उस पूंजीपति की मदद करें जिसके कारखाने के मजदूरों में हड़ताल कर रही हो तो दूसरे कारखानों के मजदूर भी हड़ताल कर सकते हैं। पापीजी का कहना है कि मजदूरों की हड़ताले जनमी स्थिति को सुधारने के लिए की जानी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि हड़ताले अस्वी-अस्वी न की जायें ताकि मजदूरों के समठन को सुदृढ़ बनाने के लिए समय मिसता रहे। हड़तालों की प्रच्छन्नता के लिए मजदूरों की सुदृढ़ यूनियनों निवाम्भ प्रावश्यक हैं, लेकिन उनका समठन प्रहिसारमक प्राधार पर होना चाहिए। यदि मजदूरों में देश प्रक्ति की भावना पर्याप्त रूप से मौजूब हो तो उस हासत में वे मुनाअप्रखोरी की रोकपाम और मृत्यों के नियमन प्राधि के लिए भी हड़ताल कर सकते हैं। लेकिन उन्हें राजनैतिक हड़ताले तक तक नहीं करनी चाहिए जब तक कि वे अपने देश की राजनैतिक स्थिति को सभी प्रकार समभ्य न हों और देश-सेवा में अपना समय ममाने को तैवार न हों। प्राहिर है कि वे इस योग्य तनी हो सकते हैं जब उन्हें अपनी प्राधिक स्थिति को सुधारने में प्रच्छन्नता हासिल कर भी हो और उन्हें प्रहिसारमक उपायो द्वारा भाषोचित प्रिच्छन्नता को दूर कराने का मयेष्ट प्रमुयब प्राप्त हो गया हो। यदि मजदूर राजनैतिक मामलों को समभ्ये न हों तो उनके राजनैतिक हड़ताले करना उनका प्रोयस करने के समान है और इस तरह के प्रयासों को पापीजी ने प्रिच्छन्नता माना है।

अहिंसात्मक राज्य

महात्मा-गांधी की दृष्टि में राज्य स्वयं में कोई ताकत न होकर एक सामान्य मान-ही धीरे-उपका उद्देश्य होना चाहिए। सब लोगों की प्राविधिक भलाई करना। यदि राज्य अपना राजनैतिक सत्ता का दुरुपयोग किया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति को इस योग्य बनना चाहिए कि वह उन दुराहनों का विरोध कर सके। वास्तव में लोगों को इस योग्य बनना चाहिए कि वे सरकार की सहायता अपना हस्तक्षेप के बिना अपनी समस्याओं को हल कर सकें। लोगों को किसी भी रूप में राज्य अपना सरकार के प्रावित नहीं होना चाहिए और राज्य को भी लोगों के जीवन में न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए।

अहिंसात्मक समाज की परिष्कारना

महात्मा गांधी ने भारत समाज के रूप में एक पूर्णतः अहिंसात्मक समाज की परिष्कारना की है। इस तरह का समाज जो कि प्रजातंत्रीय होना अहिंसा को केवल एक नीति न मानकर उस अपना बर्तन अपना विश्वास मानने से ही सम्भव है। भारत अहिंसात्मक समाज में राज्य के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। वह एक सम्बन्धीय प्रजातन्त्र होगा जिसका नियमन अपने-आप हुआ करेगा। उसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपना साधक होना और वह इस रूप में साधक करेगा कि उसका कोई भी काम दूसरों के लिए बाधा या रुकावट न बन सके। यह भारत समाज स्वसाधित और स्वायत्त प्रामों का स्वीकृत सब होगा जो एक-दूसरे के साथ सहयोगपूर्वक रहेंगे और इस समाज का प्रत्येक व्यक्ति अहिंसाप्रती होना। सब का इकाइयों पर नियंत्रण केवल नैतिक होगा और सभी लोग धर्म द्वारा जीवनयापन करेंगे तथा पूरे समाज के हित के लिए कार्य करेंगे।

मनुष्य की अपूर्णता के कारण पूर्णतः अहिंसात्मक समाज सम्भव नहीं है। ऐसा समाज तो सभी सम्भव हो सकता है जब प्रत्येक मनुष्य पूर्ण रूप से अहिंसात्मक बन जाय लेकिन सभी मनुष्यों के लिए इस स्तर पर पहुँचना सम्भव नहीं

है। दरमसत धार्मिक समान मनुष्य के लिए सबैव ही एक धार्मिक खेवा सेकिन उसे उस दिशा में विरन्तर धाने बढ़ते रहने का प्रयास करते रहना चाहिए।

अहिंसात्मक समाज का ढाँचा

वाणीजी ने धार्मिक अहिंसात्मक समाज की पूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की है। असावह का यह सिद्धांत है कि असावही को किन धरसे करव की किता करनी चाहिए।- मनुष्य असावह के सिद्धांतों को निर हव तक अपना सकेमा सुपाव का ढाँचा भी उही के धनुक्य होवा। जो समाज अहिंसात्मक सिद्धांतों के धाधार पर बनाया जाववा उसका ढाँचा कर्तमान सामाजिक ढाँचों से विषकून भिन्न होवा। यह ढाँचा कैसा होवा यह इस बल पर निर्भर करेवा कि सोवों का नैतिक स्तर क्या है और उन्हेनि सोवक के किन मूल्यों को ब्रह्ण किना है। जब सोव सोवकों के साथ असहयोग करवा सीव धार्मिके इनका अपने ऊपर पूछ निबंधस होवा और वे एव-नूतरे के साथ स्वीच्छिक सहयोग करने कवेंगे तब अहिंसात्मक राज्य की उत्पति स्वत हो जावगी। अतः वाणीजी ने अपनी कल्पना के भावी अहिंसात्मक समाज का विस्तृत विवरस प्रस्तुत न करके उसके कैवल मोटे-मोटे सिद्धांतों पर ही प्रकाश डाला है।

राज्य तथा मानव-स्वतन्त्रता

वाणीजी राज्य के अस्तित्व के ही विरुद्ध नै क्वाकि राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता को खल धधवा सीमित कर देता है। उनका कहना है कि प्रत्येक राज्य चाहे वह किता ही प्रजातन्त्रीय क्यों न हो हिंसात्मक होता है। उन्हेनि राज्य को केन्द्रीकृत और संबलित हिंसा की संज्ञा बी है। मनुष्य में धात्मा होती है इसलिए उसे तो हिंसा से मुक्त किना जा सकटा है, सेकिन शूकि राज्य एक धात्माहीन मधीन होती है इसलिए उसे हिंसा से मुक्त कर सकने का प्रयत्न ही नहीं कठटा। शूकि राज्य मनुष्य के अस्तित्व को नष्ट करवा है और यह मानव-जाति की प्रगति को बड़ों पर कुठाराघात करवा है, इसलिए उससे मानव-जाति की सबसे बड़ी हानि होती है। उसके धन्तर्गत मनुष्य की मधीन की तरह काम करवा पड़टा है और उसके काम स्वीच्छिक न होने के कारण नैतिक नहीं रह पाते। किधी भी काम के नैतिक होने के लिए यह जरूरी है कि वह स्वीच्छिक हो।

प्रहितात्मक समाज और उद्योग-धर्म

वाणीजी ने जिस धारण समाज की परिकल्पना की है उसमें न तो बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए कोई स्थान होगा और न भारी यातायात न्यायालय और बड़े-बड़े छात्रों धारि के लिये। उनका कहना है कि भारी यातायात की आवश्यकता ऐतिक कारणों तथा धन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पकती है। किन्तु प्रहितात्मक समाज में न तो घेना की आवश्यकता रहेगी और न धन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की। उसकी सभी इकाइयाँ स्वावलम्बी होंगी और उसमें मनुष्य उन सभी बीमारियों से मुक्त हो जायगा जो वर्तमान धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होती हैं। बूँकि उस समाज में धोचल और वैयक्तिक सम्पत्ति के लिए भी कोई स्थान नहीं होगा इसलिए न्यायाननों और बकीनों धारि की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। उस समाज में सब लोग अपने-अपने धाम की प्रवेक्षा समाज-सेवा की भावना से काम करेंगे इसलिए डॉक्टरों का सेवा व्यवसाय नहीं रहे जायगा। वह समाज एक परिवार-जसा होगा जिसमें व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध परस्पर-निर्मलता पर आधारित होंगे। उसमें न तो ऐसी व्यक्तिवादिता के लिए बुंजाइय न रहेगी जो सामाजिक उत्तरदायित्वा की अवहेलना कर सके और न व्यक्तिवादिता का पूर्णतः हनन करके मनुष्य को सामाजिक मशीन का पुरखा बनाया जायगा।

प्रहितात्मक समाज की बुनियाद

वाणीजी ने प्रहितात्मक समाज के सम्बन्ध में लिखा है कि उसकी रचना कारखानों की सम्पत्ता की बुनियाद पर नहीं हो सकती बल्कि केवल स्वावलम्बी गाँवों की बुनियाद पर उसकी रचना हो सकती है। उन्होंने लिखा है कि मेरी कल्पना की प्रामीण धर्म-व्यवस्था धोचल का पूरा बहिष्कार करती है और धोचल ही तो हिंसा का धार तत्व है। इसलिए धारको प्रहितात्मक बनने के लिए पहले ग्राम वृष्टि का विकास करना होगा धरणा मानव ऐसा बनाना पड़ेगा जो हर सवाल पर गाँवों के हित की दृष्टि से विचार करे और ऐसी वृष्टि का विकास करने के लिए धारको परखे में अन्धा पैदा करनी होगी।

उनका कहना है कि जैसे सूक्ष्म वृष्टि से देखा जाय तो पौड़ी-बहुत हिंसा के बिना कोई भी काम या धोचल-व्यवस्था सम्भव नहीं है। कुछ-न-कुछ हिंसा किन्तु बिना बीना भी सम्भव नहीं है। मनुष्य को केवल यही सोचना है कि इस हिंसा की मात्रा को घटाकर न्यूनतम कैसे किया जाय। प्रहितात्मक भी नकारात्मक

है। गरीबों का जीवन में अनिर्धार्य हिंसा को छोड़ने के प्रयत्न का सूचक है। इस लिए जिसकी घड़िया में बड़ा है, वह ऐसे ही उद्योग-धंधे में सनगा जिसमें कम से-कम हिंसा होती है।

, यह काम घड़िया पर हाथिक भड़ा रहे बिना नहीं हो सकता। जो घाबरी प्रत्यक्ष हिंसा बिस्तृत नहीं करता और मेहनत करके पाता है, संभव परदा-वन या दूसरों की सुमहाशी देकर ईर्ष्या से जन उठता है वह घड़ियाक हर्दिक नहीं माना जा सकता। घड़ियाक बन्ना नहीं है जो नरु से हिसारहित हो और बिसुर्-दुसरे के प्रति ईर्ष्या या दुसरे के सोपण के लिए स्थान न हो।

पंचायत राज

गांधीजी की परिकल्पना का माबी समाज एक पंचायत राज होना और ऐसे समाज में ही सच्ची आजादी सम्भव है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि—

आजादी नीच से शुरू होती चाहिए। हरेक गाँव में जमदूरी छस्तत या पंचायत का राज होना। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होती जिसका मतलब यह है कि हरेक गाँव को अपने गाँव पर सड़ा होना होगा अपनी जरूरतें खुद पूरी करनी होंगी ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद बना सके। सब सामीप देकर इस हव तक तैयार करना होगा कि वह बाहरी हमले के मुकाबले में अपनी रक्षा करत हुए मर-मिटने के सामक बन जाय। इस तरह उसकी बुनियाद व्यक्ति पर होती। इसका यह मतलब नहीं कि पञ्चायतों पर या दुनिया पर मरोसा न रखा जाय या उनकी राशी-झुठी से भी हुई मरद न की जाय। जमान यह है कि सब आजाद होंगे और सब एक-दूसरे पर अपना पसर दास सकेंगे। जिस समाज का हरेक घाबरी यह जानता है कि उसे क्या चाहिए और इससे भी बढ़कर जिसमें यह माना जाता है कि बराबरी की मेहनत करके भी दुसरों को जो भीज नहीं मिलती है वह खुद भी किसी को नहीं लेनी चाहिए, वह समाज जरूर ही बहुत ठीक बरजे की सम्भता बाना होना चाहिए।

ऐसे समाज की रचना स्वभावतः सत्य और घड़िया पर ही हो सकती है। मेरी राय है कि जब तक ईश्वर में भीता-आदता बिश्वास न हो सत्य और घड़िया पर बनना नामुमकिन है। ईश्वर या खुदा यह जिनका ताकत है जिसमें बुनिया की तमाम ताकत किसी का सहारा नहीं लेती और बुनिया की दुसरी सब ताकतों के खरम हो जाने पर भी काबज रहती है। इस भीती-आगती रोखनी पर, जिसमें अपने बामन में सब-कुछ भपेट रखा है मैं बिश्वास न रखूँ तो मैं समझ न सकूँगा कि मैं घाब जिस तरह से जिनका हूँ।

“ऐसा समाज समन्वित गाँवों का बना होगा। उसका फैलाप एक के ऊपर एक के ढंग पर नहीं बल्कि सहरों की तरह एक के बाद एक की धरम में होगा। जिनकी भीमार की धरम में नहीं होनी जहाँ ऊपर की तंग बोटी की भीचे के बीड़े पाये पर पड़ा होगा पड़ता है। वहाँ जो समुद्र की सहरों की तरह जिनकी एक के बाद एक धरे की धरम म होगी और व्यक्ति उसका मध्य-विन्दु होगा। वह व्यक्ति हमेशा अपने गाँव की खातिर मर-मिटने को तैयार होगा। गाँव अपने दुर्दै-निर्दै के गाँवों के लिए मिटने को तैयार होगा। इस तरह खातिर में सारा समाज ऐसे लोगों का बन जायगा जो सलत बनकर कभी किसी पर हमला नहीं करते बल्कि हमेशा मन्न रहते हैं और अपने में समुद्र की उस धरम को महसूस करते हैं, जिसके वे एक डकरी धा हैं।

“इसलिए सबसे बाहर का खेप या वापरा अपनी ताकत का इस्तेमाल भीतर वालों को कुचलने में नहीं करेगा बल्कि उन सबको ताकत दगा और उनसे ताकत पाएगा। मुझे ठाना दिया जा सकता है कि यह सब तो खात्री तस्वीर है इसके बारे में सोचकर बस क्यों जिमाका जाय? मुस्लिम की परि माया वाला हिन्दु कोई इन्सान खीच नहीं सकता फिर भी उसकी कीमत हमेशा रही है और रहेगी। इसी तरह मरी इस तस्वीर की भी कीमत है। इसके लिए इन्सान जिम्दा रह सकता है। धरम इस तस्वीर को पूरी तरह बनाया-या पाना मुमकिन नहीं है तो भी इस छोटी तस्वीर को पाना या इस तक पहुँचना हिन्दुस्तान की जिम्मेगो का मकसद होता चाहिए। जिस खीच को हम चाहते हैं, उसकी छोटी-छोटी तस्वीर हमारे सामने होनी चाहिए। तभी हम उससे मिलती जुसती कोई भी। पाल की उम्मीद रख सकते हैं। धरम हिन्दुस्तान के हरेक गाँव में कभी पंचायत राज कायम हुआ तो मैं अपनी इस तस्वीर की खर्चा माबिध कर सकूँगा जिसमें सबसे पहला और सबसे खाबिठी दोनों बराबर हाने या यों कहिए कि न कोई पहला होना न खाबिठी।

“इस तस्वीर म हरेक धरम की अपनी पूरी और बराबरी की जमह होगी। हम सब एक ही धामीपान पड़ के पध हैं। इस पेड़ की जड़ हिसायी नहीं जा सकती क्योंकि वह पताप तक पहुँची हुई है। बबरपस्त-उ-बबरपस्त धाँवो को उसे हिमा नहीं सकती।

“इस तस्वीर में उन मधीनां क लिए कोई जमह न होगी जो इन्सान की महत की जमह लेकर बस लोगों क हाथों म सारी ताकत इकट्ठा कर देती है। मुबरे हुए लोगों की दुनिया म महत की अपनी धनीनी जमह है। उसमें ऐसी

की गुंजाइश होती जा हर धारमी को उसके काम में मरब पहुँचायें ।
 मुझे कबूल करना चाहिए कि मैंने कभी बैठकर यह नहीं सोचा कि इस
 की मशीन कैसे हो सकती है ? विनाई की सिपर मशीन का उद्योग मुझे
 या । लेकिन उसका जिज्ञासी मैंने यों ही कर दिया । प्रपनी इस तस्वीर
 पूर्ण बनाने के लिए मुझे उसकी पकड़ नहीं ।”

स्वावलम्बी गाँव की कल्पना

सहितसत्त्व समाज में प्रत्येक गाँव स्वावलम्बी होना और ऐसे गाँव की स्म-
 वा यापीजी के शब्दों में यह होगी—

“शाम स्वयंसेवक की मेरी कल्पना यह है कि वह ऐसा पूर्ण प्रजासत्त्व होगा
 जो अपनी पहल पकड़ों के लिए अपने पदाधिकारियों पर भी निर्भर नहीं करेगा
 और फिर भी बहुतेरी दुरी पकड़ों के लिए, जिनमें दूसरों का सहयोग
 अनिवार्य होगा वह परस्पर सहयोग से काम लेगा । इस तरह हुए गाँव का
 बहाना काम यह होगा कि वह अपनी पकड़ का उद्योग बनाए और अपने के
 लिए पूरी कपास खूब पैदा करे । उसके पास इतनी आधिकारिक जमीन होगी चाहिए,
 और खेज-कूब के पैदान बड़ी-छोटी बन्दोबस्त हो सके । इसके बाद भी जमीन
 कबे, तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फसलें बोयेगा जिन्हें बेचकर वह आर्थिक
 लाभ उठा सके । पर वह पाँचा तम्बाकू आर्थिक बड़ी-छोटी की बेटी से बोयेगा ।
 इसके बाद में गाँव की एक आदमशाखा पाठशाळा और सभा-मकान रहेगा ।
 पानी के लिए उसका अपना इन्तजाम होगा बाटरवर्कर्स हॉमि बिसले गाँव के
 सभी लोगों को कुछ पानी मिला करेगा । कुर्चों और ताबाबों पर गाँव का पूरा
 निर्वहन रखकर यह काम किया जा सकता है । बुनियादी तालीम के आधिकारी
 बरखे तक शिक्षा सबके लिए साजिमी होगी । जहाँ तक हो सकेगा गाँव के सारे
 काम सहयोग के आधार पर किये जाएँगे । जाठ-नाठ और प्रत्युत्पन्ना-बैसे मेर
 गाँव जो हमारे समाज में पाए जाते हैं बैसे इस ग्राम-समाज में बिसकुल न
 रहे । सत्याग्रह और सहयोग के अरुम के साथ सहिष्णा की सत्ता ही जामीन
 समाज का आसन-बस होगी । गाँव की रक्षा के लिए ग्राम-सैनिकों का एक ऐसा
 बल रहेगा जिसे साजिमी और पर-बारी-बारी से गाँव के बीकी-महरे का काम
 करना होगा । इसके लिए गाँव में ऐसे लोगों का रजिस्टर रखा जायगा । गाँव
 का आसन बनाने के लिए हर काम गाँव के गाँव आर्थिकों की एक पंचायत

बुनी जायगी। इसके लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यता वाले गाँव के वारिस स्त्री-पुरुषों को अधिकार होना कि वे अपने पंच चुन लें। इन पंचायतों को सब प्रकार की आर्थिक सहायता और अधिकार रहेंगे। चूँकि इस ग्राम-स्वराज्य में गाँव के प्रचलित धर्मों में सबा मा दण्ड का कोई रिवाज नहीं रहेगा इस लिए यह पंचायत अपने एक घास के कार्यक्रम में स्वयं ही पाठसभा स्थापना और कारोबाय सभा का साथ काम संयुक्त रूप से करेगी। गाँव भी अगर कोई गाँव चाहे तो अपने यहाँ इस तरह का प्रजातन्त्र काम कर सकता है।”

गांधीजी ने गाँव की आर्थिक-सामाजिक समस्या के बारे में अन्तिम सिद्धान्त निर्धारित न करके केवल उन मोटी-मोटी बातों को लिया है, जिनके आधार पर उस तरह के समाज की रचना की जा सकती है। इस तरह के समाज की स्थापना इस बात पर निर्भर करेगी कि लोग घाने वाले समय में गांधीजी के बुनियादी सिद्धान्तों को किस रूप तक धर्मेकार करते हैं।

अध्याय १२

विविध

धर्म और नैतिकता

महात्मा गांधी ने सर्वत्र ही धर्म और नैतिकता पर सर्वाधिक जोर दिया है। वे सत्य को ही सर्वोच्च धर्म मानते थे और उनका कहना था कि सच्ची नैतिकता का धर्म यह नहीं है कि मनुष्य पिटी-पिट्टाई सक्ती पर बसता रहे, बल्कि उसका धर्म यह है कि वह अपना रास्ता स्वयं चुन निकामे और निर्भयतापूर्वक उस पर चले जाये। जो काम स्वच्छिन्न न हो वह नैतिक बरबापि नहीं हो सकता। जो कार्य बर्बापि होते हैं जो केवल स्वयं ही और वर्तमान की भावना से किये गए हों। प्रत्येक कार्य नैतिक नहीं माने जा सकते जो भय घबराव डर के कारण किये गए हों। गांधीजी की इस परिभाषा के अनुसार वे सर्वकार्य भी नैतिक कार्यों की श्रेणी में नहीं आते जो दूसरी दुनिया में कुछ हासिल करने के उद्देश्य से किये जाते हैं।

महात्मा गांधी का कहना है कि हमें धर्म और सच्ची नैतिकता को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। धर्म से नैतिकता का नहीं सम्बन्ध है जो पानी का जमीन में बोलने पर बीज के साथ होता है। वे उसे सच्चा धर्म नहीं मानते जो लकड़ी की कठौटी पर घटा न उतरता हो और जो नैतिकता के विषय पकता हो। नैतिकता का आधार समाज होते ही मनुष्य बार्मिक नहीं रह जाता। ऐसा कोई भी धर्म नहीं हो सकता जो नैतिकता को बर्बापि या खत्म करता हो। उदाहरण के लिए जो मनुष्य असत्य बोलता हो और क्रूर हो वह बार्मिक होने का दावा नहीं कर सकता। उनकी दृष्टि में सभी स्वार्थपूर्ण इच्छाएँ अनैतिक होती हैं और दूसरों की मनाई करने हेतु अपने को मुचारेने की इच्छा नैतिक है। उनकी दृष्टि से सर्वोच्च नैतिक नियम है मानव मात्र की मनाई के लिए निरन्तर कार्य करते रहना। पर धर्म का सम्बन्ध व्यावहारिक मामलों से होना भी नितास्त आदर्शक है। जो धर्म व्यावहारिक मामलों के हल करने में मदद न कर सके वह धर्म नहीं है। उनकी दृष्टि में संसार के विभिन्न धर्म केवल

रखत है, जो मनुष्यों को एक ही स्थान पर पहुँचाते हैं। अतः लक्ष्य समान होने पर इसके कोई फर्क नहीं पड़ता कि कौन व्यक्ति कौनसा रस्ता अपनाता है। वास्तव में संसार में उतने ही धर्म हैं जितने कि व्यक्ति। यदि मनुष्य अपने धर्म की धात्मा तक पहुँच सके तो यह समझना चाहिए कि वह दूसरों के हित तक पहुँच गया है। पर जहाँ तक राज्य का सम्बन्ध है उसे धर्म-निरपेक्ष होना चाहिए। राज्य द्वारा धार्मिक मामलों में फिजी भी तरह का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म को मानने की सृष्ट होनी चाहिए, क्योंकि उसके धार्मिक कर्तव्यों द्वारा सामान्य कानूनों की प्रवृत्तता न होती हो।

महिंसाएँ

महात्मा गांधी महिंसाओं और पुरुषों की सुनियारी समानता में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि चूँकि पुरुष और महिंसाएँ सुनियारी रूप से समान हैं, इसलिए दोनों समस्या भी सुनियारी रूप से समान होनी चाहिए। दोनों में धात्मा समान है और दोनों एक ही तरह से जीवन-निर्वाह करते हैं। वे एक-दूसरे के पूरक हैं और एक की सक्रिय सहायता के बगैर दूसरा जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। फिर भी पुरुषों ने प्राचीन काल से महिंसाओं पर आधिपत्य बना रखा है और इंग्लैंड महिंसाओं में हीनता की भावना विकसित हो गई है। वे पुरुषों द्वारा चीन्मई इस स्वार्थपूर्ण धिया में विश्वास करने लगी है कि वे उसकी प्रेषणा बटिया करके की हैं। पर यह वास्तविकता नहीं है और सभी वर्गों और महिं-पुरुषों ने उसके समान घोड़े को मान्यता दी है।

गांधीजी का कहना है कि इस सुनियारी समानता के बावजूद उनके स्वल्प में मानी पुरुष और स्त्री की शरीर-रचना में महत्वपूर्ण अन्तर है। अतः उनके अन्धे भिन्न-भिन्न होना चाहिए। अधिकतम स्त्रियों को मानव के कर्तव्य का निर्वाह करना पड़ता है और उसके लिए जिन मुक्तों की आवश्यकता पड़ती है वे पुरुष में नहीं होते। स्त्री गृह-स्वामिनी होती है। पुरुष रोटी कमाने वाला होता है, लेकिन उसके बितरण का कार्य स्त्री करती है। बच्चों के पालन-पोषण का दायित्व भी विधायक से उसी पर होता है। अतः स्त्री के लिए यह धर्मोपनीय होगा कि वह घर-गृहस्त्री की जिम्मेदारियों को छोड़कर घर की रक्षा के लिए बच्चे संभाले। घर की रक्षा करने में बितनी बहादुरी है अतनी बहादुरी उसे मुख्यतः रखने में भी है। कुछ ऐसे बच्चे भी होते हैं जिनमें स्त्री पुरुष या हाथ बँटा सकती है, लेकिन रोटी कमाने का दायित्व मुख्यतया पुरुष का ही है। इस कार्य-विभाजन

अकार कर देने के बाद स्त्री और पुरुष के लिए जिन सामान्य गुणों और
 त की आवश्यकता पड़ती है वे समान हैं।
 महत्त्वा वाली ये स्त्री को सत्याग्रह का स्वाभाविक नेता माना है और उनका
 है कि अपने इस स्वाम को पहल करने से ही स्त्री हीनता की भावना का
 प्रभाव कर सकेगी। वे स्त्री को ग्रहणा की प्रतिवृत्ति मानते थे। ग्रहणा का
 है प्रेम और पीड़ा सह सफ़ने की क्षमता। वह क्षमता पुरुषों की प्रेक्षा स्त्रियों
 की अधिक होती है। उसे चाहिए कि वह जिस तरह अपने बच्चे से प्रेम
 करती है उसी तरह सम्पूर्ण मानवता से प्रेम करे। ऐसा करने पर ही वह समाज
 में अपना स्वाभाविक स्थान प्राप्त कर सकेगी और मानव-विकास में प्रेषित
 भूमिका धरा कर सकेगी।

शिक्षा

महत्त्वा वाली का कहना है कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण
 शारीरिक मानसिक और सामाजिक विकास होना चाहिए। समस्त शिक्षा
 का अर्थ नहीं बल्कि प्रारम्भ है। वह स्वयं में शिक्षा न होकर शिक्षा का एक
 माध्यम-साधन है। उनका कहना है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे बालक
 का निर्माण हो। वह ऐसी होनी चाहिए जिससे बालक सक्षम सद्गुणों और
 बड़े-बड़े उद्देश्यों के लिए काम करते समय अपने को मुक्त देने की क्षमता का
 विकास हो। उन्होंने शारीरिक अंग को शिक्षा के लिए निराला आवश्यक माना
 है और उनका कहना है कि स्त्री शैक्षिक शिक्षा शरीर के विभिन्न अंगों—हाथ,
 पैर, आँखें कान और नाक धारि—को प्रशिक्षित करने से ही प्राप्त की जा सकती
 है। इसके अर्थों में बच्चे के शारीरिक अंगों के बुद्धिसंगत उपयोग से ही उसका
 शैक्षिक विकास भली प्रकार हो सकता है। लेकिन मानसिक और शारीरिक
 विकास के साथ—धरमा को आवश्यक बनाना भी आवश्यक है, प्रत्येक बच्चे
 का विकास एकान्ती रह जायदा। साम्यात्मिक प्रशिक्षण से शारीरिक का तात्पर्य
 है हृदय की शिक्षा। बच्चे का सर्वांगीण विकास तभी हो सकता है जब उसकी
 शारीरिक और मानसिक क्षमताओं के विकास के साथ-साथ साम्यात्मिक क्षमता
 का भी विकास हो। शारीरिक का कहना है कि बच्चों को प्रारम्भ से ही कोई-न-
 कोई उपयोगी वस्तुकारी सिखानी चाहिए और वह वस्तुकारी ऐसी होनी चाहिए
 जिससे बच्चा प्रशिक्षण प्रारम्भ होते ही उत्पादन करने लग जाय। इसके स्फूर्त
 साम्य-निर्भर बन सकेने और बच्चे के नैतिक तथा उसकी धरमा का सर्वोत्क
 विकास भी हो सकेगा।

महात्मा गांधी यह भी मानते थे कि प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क होनी चाहिए। जहाँ तक उच्च शिक्षा का सम्बन्ध है, उनका कहना था कि वह राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिए। शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में उनका कहना था कि विदेशी भाषाओं के माध्यम से सच्ची शिक्षा सम्भव नहीं है। जैसी-से-जैसी शिक्षा का माध्यम भी मातृभाषा ही होता चाहिए, क्योंकि विदेशी भाषाओं के माध्यम से जो शिक्षा दी जाती है, वह बच्चे को उसके अपने-पन में ही विदेशियों-जैसा बना देती है।

कार्ल मार्क्स
(KARL MARX)

अध्याय १

भूमिका

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) १९वीं शताब्दी के एक ऐसे दार्शनिक और विचारक थे जिनके सिद्धान्तों ने वर्तमान युग को इतना अधिक प्रभावित किया है कि दुनिया के कोनों में बैठ नहीं है। एक पोर तो वे सोच हैं जो मार्क्स के सिद्धान्तों वाली मार्क्सवाद में विश्वास करते हैं और जिन्हें साम्यवाद या कम्युनिस्ट या साम्यवादी कहा जाता है। इनका उद्देश्य क्रान्ति द्वारा समाज में साम्यवाद परिवर्तन करके समाजवाद की स्थापना करना और फिर उसे विकसित करके साम्यवादी समाज बनाना है। दूसरे छेमे में वे लोग हैं जो विभिन्न धर्म-शास्त्रों और विचारों में विश्वास करते हुए साम्यवाद के विरोधी हैं साम्यवाद को हीन वस्तु समझते हैं, उसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य व प्रजातन्त्र्य के विपरीत मानते हैं।

संसार के दो छेमे

केवल वैज्ञानिक व दार्शनिक दृष्टि से ही नहीं राजनैतिक दृष्टि से भी इसी आधार पर संसार दो छेमों में विभाजित है। एक छेमे में साम्यवादी शक्तियाँ हैं और दूसरे छेमे में साम्यवाद-विरोधी शक्तियाँ। साम्यवादी छेमे में रूस चीन पीर्सेय हंगरी चेकोस्लोवाकिया युगोस्लाविया रूडिय कोरिया और वियतनाम प्रायः देश हैं जिन्होंने क्रान्ति द्वारा राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक परिवर्तन करके समाजवाद अपना उससे मिलती-जुलती सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की है। ये देश मार्क्स के सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं और वे प्रायः सभी देशों के साम्यवादी धार्मिकों के समर्थक हैं। दूसरे छेमे में अमेरिका ब्रिटेन प्रायः देश हैं जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और प्रजातन्त्र्य में विश्वास करते हैं तथा साम्यवाद के कट्टर शत्रु हैं। इसके अलावा कुछ ऐसे देश भी हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक गुटबन्दी से तो प्रभु हैं पर जो वैज्ञानिक विचार से प्रभावित नहीं रह सके हैं और उनमें से अधिकांश देशों की तस्वीरें साम्यवाद के खिलाफ हैं। मध्यपूर्व में स्थापित कुछ देशों की नयी सरकारों ने साम्यवादी छेमे की ओर झुकना प्रदर्शित किया है। इसके अलावा एटलस देशों में भारत-चीन कुछ ऐसे देश भी हैं, जिनकी सरकारों ने दोनों ही पक्षियों में से बोलने-बोले तब

लेकर एक विधित् पद्धति अपनाते की चेष्टा की है, पर महत्वपूर्ण बात यह है कि साम्यवाद-विरोधी मुठ के दर्शा तथा तटस्थ बंधों में ऐसा कोई भी वैध नहीं है जहाँ किसी-न-किसी भाषा में साम्यवादी धाम्बोलन मौजूद न हो और देश के भीतर साम्यवादी तथा साम्यवाद-विरोधी सधितयों में समर्प न हो रहा हो । इससे प्रगट हो जाता है कि मार्क्स के सिद्धान्त कितने बलघानी प्रभावकारी और आन्तिकारी साबित हुए हैं ।

सामाजिक प्रक्रियाओं का विदसेपण

मार्क्स ने प्राकृतिक और सामाजिक प्रक्रियाओं का विदसेपण करके जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है; उनका धाबार भीतिकवाद है और वे परम्परा-वत न होकर बिलकुल नये व आन्तिकारी हैं । वे प्रकृति और मानव-समाज पर समाज रूप से लागू होते हैं क्योंकि मानव-समाज भी मुक्त प्रकृति का ही एक अंग है । अपने इन सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने विश्व-इतिहास की एक बिलकुल ही नहीं ध्यास्या की है उसको समझने के लिए एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है । उन्होंने धर्षसास्त्र के भी परम्परावादी सिद्धान्तों का परिव्याग करके नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और उन सिद्धान्तों के आधार पर पूँजीवादी समाज का एक अमूठपूर्व विदसेपण प्रस्तुत करके यह प्रमासिध किया है कि इस समाज में ऐधी परस्पर-विरोधी सधितयों मौजूद हैं जिनके परस्पर संघर्ष के फलस्वरूप समाजवाद व साम्यवाद की स्थापना होना अरसम्भवावी है । पर मार्क्स की परिवस्वना का समाजवाद १९ वीं शताब्दी के अरस समाजवादी शासिकों की परिवस्वनाओं से बिलमुक्त भिन्न है और उनके अनुयायियों का दावा है कि वे पहले ध्यक्ति से जिनोंने समाजवाद और मजदूर-धाम्बोलन को वैज्ञानिक धाबार प्रदान किया है ।

मार्क्सवाद

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों और उनकी विचार-पद्धति को मार्क्सवाद कहते हैं । इन सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा ध्यास्या में की फंडरिक एंकिष्ठ उनके मुख्य सहयोगी थे इसलिए एंगिष्ठ के विचारों को मार्क्सवाद का एक अन्तिक अंग माना गया है । उनके बाद लेनिन इन सिद्धान्तों के प्रमुख ध्यास्याता के रूप में सामने आय और उन्होंने उन सिद्धान्तों को ठोस परिस्थितियों में लागू करने के साथ-साथ उनका विकास भी किया । बस ठो लेनिन के विचारों को लेनिनवाद का नाम दिया गया है पर कारतब में लेनिनवाद मार्क्सवाद के ही अन्तर्गत आता है और उसी का एक अंग है । लेनिन के बाद मार्क्सवाद के प्रमुख ध्यास्याता स्तालिन हुए हैं ।

अध्याय २

मार्क्सवादी दर्शन और उसका आधार

मार्क्स का दर्शन भौतिकवादी है और वह सभी तरह के धर्मशास्त्रवादों तथा आध्यात्मिक विश्वासों के विरुद्ध है। मार्क्स ने जिन बुनियादी सिद्धान्तों की खोज की है वे प्रकृति व मानव-समाज पर समान रूप से लागू होते हैं और मानव-जीवन का उनका सिद्धान्तों से प्रकृता नहीं बचा है।

मार्क्स का दर्शन-शास्त्र

मार्क्स के दर्शन-शास्त्र को इन्द्रात्मक भौतिकवाद कहते हैं क्योंकि उसकी पद्धति इन्द्रात्मक है और उसका आधार भौतिकवादी है। मार्क्स न अपनी यह इन्द्रात्मक पद्धति हीरोस के दर्शन-शास्त्र से लेती है और भौतिकवाद फेयरबाक के दर्शन शास्त्र से। पर मार्क्स का दर्शन-शास्त्र इन दोनों पाश्चान्तिकों के दर्शन-शास्त्रों से भिन्न ही नहीं बल्कि उसके ठीक विपरीत है। मार्क्स न उनके दर्शन-शास्त्रों के केवल 'आन्विक पुर' का समीकार किया है और उसके द्वारा वे जिन परिणामों पर पहुँचे वे हीरोस और फेयरबाक के परिणामों के ठीक विपरीत थे।

इन्द्रात्मक पद्धति

'इन्द्रात्मक' शब्द यूनानी के dialectics शब्द का अनुवाद है। यह dialectics शब्द ग्रीक (यूनानी भाषा) के diallao शब्द से बना है जिसका अर्थ है विचार विनिमय अथवा वाद-विवाद करना। प्राचीन काल में यूनान में विरोधियों के तर्कों की अंतर्गतियों और उनमें निहित विरोधाभासों को इंगित करने तथा उन्हें दूर करके सत्य तक पहुँचने के तरीके अथवा उसकी कला को इन्द्रात्मक पद्धति (dialectics) कहते थे। इन तर्कानुक्तियों की यह बारम्बार थी कि विचारों में निहित अंतर्गतियों का प्रकटीकरण तथा विरोधी तर्कों का अंतर्गत सत्य तक पहुँचने का सर्वोत्तम उपाय है। बाद में इस पद्धति को प्रकृति को समझने का सर्वोत्तम उपाय माना गया और यह ज्ञात किया गया कि प्रकृति एक निरन्तर

या है वह बार-बार बदलती रहती है और स्वयं उभर
 की लक्षियों के भाव प्रतिपादक के फलस्वरूप उसका विकास होता
 स के कहनानुसार इग्न्यात्मक पद्धति 'बाह्य जगत् और मानव-विचार,
 गतिशीलता के सामान्य नियमों का विज्ञान है।
 dialectics is the science of the general laws of motion-
 of the external world and of human thought.'

हीगेल और मार्क्स

यम के सिद्धान्त का आधार था कि जो कुछ भी है सब बदल रहा है।
 पूर्व पश्चिमी देशों में जितना भी वास्तविक हुए है वे भौतिक वस्तुओं के
 को मानते थे। वे यह नहीं देख पाये थे कि प्रत्येक वस्तु में निरन्तर
 परिवर्तन होते रहते हैं पर हीगेल ने इस सत्य को पहचाना और
 की यह खोज निरन्तर ही अभिजातीय थी। और मार्क्स ने उनके दर्शन के इस
 निर्णायक तत्व को यानी उसका बुनियादी व तात्विक मूल को ग्रहण किया।
 किन्तु इस अभिजातीय तत्व के बावजूद हीगेल का सम्पूर्ण दर्शन-शास्त्र
 अभिजातीय नहीं था। उन्होंने इस अभिजातीय तत्व को विचारवाद (Idealism)
 का ऐसा नामा पहनाया कि वह सर्वसंगत नहीं रहे मगर उनके तर्कों की
 प्रसक्तियों में उन्हें बड़े विभिन्न परिणामों पर पहुँचाया। यहाँ तक कि वे भौतिक
 प्रकृतियों के अस्तित्व का ही सस्वीकार करने लगे। उनकी दृष्टि में विचारों की महत्त्व
 प्रधानता ही नहीं थी बल्कि केवल विचारों का ही अस्तित्व था। वे इस मतीब
 पर पहुँचे कि संसार में विचारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और भौतिक
 प्रकृतियों के रूप में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह विचारों का बाह्य स्वरूप-मात्र
 ही प्रकृतियों का बाह्य स्वरूप-मात्र मानते थे। उदाहरण के लिए कुर्सी को लें।
 हीगेल के दर्शन-शास्त्र के अनुसार कुर्सी का स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं है।
 समस्त अस्तित्व केवल विचार के रूप में है और कुर्सी का विचार सामने आने
 से ही रूप दिखायी पड़ता है।
 हीगेल इन तर्कों द्वारा हीगेल इस मतीबे पर पहुँचे कि कहीं पर विचारों का
 अस्तित्व अस्तित्व में है जिनमें से बड़े-बड़े विचार हमारे सामने आते रहते हैं।
 १ Ludwig Feuerbach by Frederic Engels.

मार्क्स

घोर उनका बाह्य स्वरूप प्रगट होता रहता है यानी उन विचारों द्वारा भौतिक पदार्थों का सृजन होता है। उनका इन ठकों द्वारा राजनीतिक व्यवस्था और धार्मिक विश्वासों को पुष्टि व समर्थन मिला क्योंकि उनके दर्शन के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था और धार्मिक विश्वास उन विचारों के बाह्य स्वरूप-मात्र के जिनका निरर्थक उद्योग कास-विद्येय में सृजनकर्ता ने शुरू किया था। यह ठक लोगो को राजनीतिक व्यवस्था और धार्मिक विश्वासों को देखो मात्रा और सत्य के रूप में स्वीकार करने को प्रेरित करता था। वह यह भावना उत्पन्न करता था कि जब तक सृजनकर्ता द्वारा राजनीतिक व्यवस्था तथा धर्म-सम्बन्धी धर्म विचार प्रेषित या विद्युष्ट न किये जायें तब तक उनमें परिवर्तन सम्भव नहीं क्योंकि जब तक राजनीतिक व्यवस्था धार्मिक सम्बन्ध में नया विचार सृजनकर्ता द्वारा हम प्रदान न किये जायें तब तक उन विचारों के बाह्य स्वरूप का प्रस्तित्व कैसे हो सकता है? इस प्रकार हीगेल का दर्शन-शास्त्र बुनियाद में आन्तिकारी होते हुए भी अन्तिकारी प्रतिस्पर्धावादी साबित हुआ।

हीगेल मनुष्य का भी कोई स्वतन्त्र भौतिक प्रस्तित्व नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में मनुष्य का प्रस्तित्व भी केवल विचार के रूप में है और चूँकि यह विचार मौजूद है इसलिए उसका बाह्य स्वरूप (मनुष्य का शरीर) दिखाई पड़ता है। इस तरह हीगेल का समूचा दर्शन-शास्त्र रहस्यवादी और धार्मिक बन गया था। मार्क्स ने उनका दर्शन-शास्त्र के इस धार्मिक नाम को स्वीकार नहीं किया बल्कि उसे उतार फेंका। फलतः यद्यपि मार्क्स ने हीगेल के दर्शन-शास्त्र के दार्शनिक पुर धर्मवा बुनियादी तत्व को ग्रहण किया फिर भी उनका इसका कारण यह है कि मार्क्स के दर्शन-शास्त्र का आधार हीगेल के दर्शन की तरह विचारवाद (Idealism) न होकर भौतिकवाद (Materialism) है। वे भौतिक पदार्थों के स्वयं के प्रस्तित्व को मानते हैं। वे हीगेल की तरह यह नहीं मानते कि विचार भौतिक पदार्थों की जन्मी है। उनका कहना है कि भौतिक पदार्थ अपने प्रस्तित्व के लिए विचारों के प्राथमिक नहीं घोर केवल यही हैं। उन्होंने हीगेल के दर्शन-शास्त्र से केवल उसकी इन्द्रियमय पद्धति का दार्शनिक बुर लिया है और इसलिए केवल इसी एक बात में दोनों के दर्शन-शास्त्रों में साम्य है। स्वयं मार्क्स के शब्दों में—

मेरी इंडात्पक पद्धति हीगस की पद्धति से केवल भिन्न ही नहीं बल्कि उसके ठीक विपरीत है। हीगस की दृष्टि में सोचने की प्रक्रिया जिसे उन्होंने 'विचार' का नाम देकर एक स्वतन्त्र वस्तु के रूप में परिचित कर दिया है वास्तविक जगत् की जननी है और वास्तविक जगत् उस 'विचार' का बाह्य प्रकियानुगत रूप मात्र है। इसके विपरीत मेरी दृष्टि में विचार मानव-मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिम्बित होने वाले भौतिक जगत् के प्रतिबिम्ब और कुछ नहीं है जो कि सोच-उपक्रम से स्वतन्त्र हो जाते हैं।

"My dialectic method" says Marx, is not only different from the Hegelian but is its direct opposite. To Hegel, the process of thinking, which, under the name of 'the Idea' he even transforms into an independent subject, is the demiurgos of the real world, and the real world is only the external, phenomenal form of the Idea. With me, on the contrary the ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind and translated into forms of thought. (Karl Marx, Capital, Vol. I, Page XXX)

हीगस और फेबरबाक

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल तक हीगस के दर्शन-शास्त्र का बोलबाला था। वह जर्मनी के स्कूलों में पाठ्य-पुस्तकों द्वारा पढ़ाया जाता था क्योंकि उससे तत्कालीन छात्र-समस्या को समर्थन प्राप्त होता था। यद्यपि हीगस के सिद्धों में विभिन्न दार्शनिक प्रश्नों पर मतभेद उत्पन्न हो जाने के कारण अनेक उपचारार्थ निकल पड़ी थीं और अनेक हीगसियन स्कूलों (हीगसवादी विचार पद्धतियों) की स्थापना हो चुकी थी तथापि उनमें कोई बुनियादी अंतर नहीं था। वे सभी दार्शनिक मूलतः विचारवादी थे और विचारों को भौतिक परापूर्वों की जननी मानने के कारण भौतिक जगत् की वास्तविकता को स्वीकार नहीं करते थे।

उस मुश्किल फेबरबाक मैदान में धार्य और उनकी पुस्तक 'ईसाई धर्म के उत्पत्ति' (*Essence of Christianity*) प्रकाशित हुई। यद्यपि वे अपने को भौतिकवादी कहना पसंद नहीं करते थे तथापि उनके दर्शन का आधार भौतिक-

बाद था। उन्होंने विचारवादी या हीरोलवादी दर्शन-शास्त्र की प्रसंगियों को विचारक भीतिकवाद की पुनर्स्थापना की उसे उसकी पृथी पर पुनः प्राचीन किया। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व है। मनुष्य भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ है और यह प्रकृति ही उसके विकास का आधार है। प्रकृति और मनुष्य से परे किसी भी चीज का अस्तित्व नहीं है। धर्मों में बिना देवी-देवताओं का वर्णन किया गया है वे वास्तव में दुनियावी रूप से हमारे ही प्रति बिम्ब हैं और उस प्रतिबिम्बित रूप को बढ़ा-बढ़ाकर दिखाया गया है। फेयरबाक ने दार्शनिकों की दुनिया में उन्नत-गुप्त मचा थी। उनका दर्शन-शास्त्र हीरोलवादी दर्शन-शास्त्र के लिए बखपाठ साबित हुआ। हीरोलवादी विचार पद्धति चकनाचूर हो गई, मानो बम-विस्फोट द्वारा उसकी बुनियाद ही उड़ गई हो। फेयरबाक ने हीरोलवादी दर्शन-शास्त्र की कल्पना-अर्थ प्रसंगियों का विमर्शन कराकर दर्शन-शास्त्र को मुक्ति प्रदान की। कितने ही दार्शनिकों ने बड़े उत्साह के साथ उनकी धारणाओं का स्वागत किया। मार्क्स भी उनके अनुयायी बन गये।

विचारवाद बनाम भीतिकवाद

विपत पठाभी में दर्शन-शास्त्र के समझ यह मुख्य और बुनियादी समस्या की कि विचार और अस्तित्व (भीतिक पदार्थ) का क्या सम्बन्ध है? प्राचीन कास से ही लोगों का यह विश्वास था कि आत्मा के रूप में एक पुनक चीज होती है जो मानव-शरीर में वास करती है और जब वह शरीर का परित्याग कर देती है तो मृत्यु हो जाती है। उनका यह विश्वास मानव-शरीर-रचना के प्रति अनभिज्ञता के कारण था। वे यह समझते थे कि सोच-विचार भाषनाएँ और अनुभूतियाँ आदि मानव-शरीर के कार्य-कलाप नहीं हैं बल्कि आत्मा के कार्य-कलाप मानते थे। इसलिए दार्शनिकों ने समय-समय पर आत्मा और वास्तु जगत् के सम्बन्धों को समझने तथा उनकी व्याख्या करने की कोशिश की है। चूँकि वे यह मानते थे कि मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा जीवित रहती है और वह शरीर को छोड़कर अग्न्य पसी जाती है। इसलिए आत्मा की मृत्यु का प्रश्न ही नहीं उठता और वे उसे अमर मानते थे। इस विश्वास ने नाग्यवाद को जन्म दिया। सोच यह मानने लगे कि यह माम्य की बात होती है कि उनकी आत्मा किस शरीर में प्रविष्ट होती है और उसे क्या कुछ-कुछ भोगने पड़ते हैं और चूँकि माम्य पर उनका कोई बल नहीं था अतः वे समझते थे कि उस से बदल नहीं सकते और उसके विरुद्ध संघर्ष करना व्यर्थ है। इस प्रकार वैयक्तिक अमरत्व

की धारणा उत्पन्न हुई। फिर इसी तरह प्राकृतिक दृष्टियों को देवी-देवता मान कर उनकी उपासना शुरू हुई और उन्हें मूर्त रूप प्रदान किया गया। तब घोर कल्पनाओं द्वारा इस धारणा का विकास होता गया और धीरे-धीरे उसका प्रथमी जननी—भौतिक जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद होता गया। वह धारणा केवल कल्पना या विचार-जगत् की शीघ्र बन गई। बाद में धर्मकालेक देवी-देवताओं के अस्तित्व की कल्पना ने एक ईश्वर की कल्पना को जन्म दिया। इस तरह आत्मा और बाह्य जगत् का सम्बन्ध दर्शन-शास्त्र का मुख्य विषय बन गया। यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि ईश्वर ने जगत् का सृजन किया है अथवा प्रादि कास से उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है ?

वार्सनिकों ने इस प्रश्न का जवाब उत्तर दिया वह उन्हें दो बड़े खेमों में बाँट देता है। एक धोर से वार्सनिक हैं जो आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं उनका कहना है कि सृष्टि से पूर्व आत्मा थी और बाद में सृष्टि का सृजन हुआ। जन्म से अधिकांश यह मानते हैं कि यह सृजन ईश्वर ने किया है। धर्म-शास्त्रों में भी यही बात कही गई है। अकिन्तु जन्में हीमल-जैसे वार्सनिक भी हैं जिनकी सृष्टि-सृजन सम्बन्धी परिष्कल्पना बहुत ही जटिल है क्योंकि वे यह मानते हैं कि वास्तव में सृजन केवल विचारों का किया गया है और जगत् उसकी (विचारों की) उत्पत्ति तथा बाह्य स्वरूप मात्र है। दूसरी धोर से वार्सनिक हैं जो यह मानते हैं कि भौतिक जगत् का अस्तित्व पहले हुआ और इन वार्सनिकों को भौतिकवादी कहते हैं।

माक्स और फेबेरबाक

माक्स भौतिकवादी वार्सनिक थे क्योंकि उनके दर्शन का आधार भौतिकवाद था। अर्थात् उन्होंने यह भौतिकवाद फेबेरबाक से लिया था और इस धर्म में वे फेबेरबाक के अनुयायी के तथ्यापि उनके भौतिकवादी सिद्धान्तों और फेबेरबाक के भौतिकवादी सिद्धान्तों में बड़ा अन्तर है। प्रथम भौतिकवादी आधार के बावजूद फेबेरबाक के सिद्धान्तों में अन्त में जाकर 'विचारवाद' का रूप ग्रहण कर लिया। इसकी वजह यह थी कि फेबेरबाक का भौतिकवाद इष्टात्मक न होकर यन्त्रीयतावादी (Mechanical) था। उनका भौतिकवाद का यह 'विचारवादी' रूप उस बलक प्यारा उभरकर सामने आया है जब उन्होंने धर्म और मानक-इतिहास पर अपने विचार प्रकट किए हैं। वे धर्म के सम्पूर्ण के पक्ष में न होकर उसमें पूर्णतः आने के पक्ष में थे। उनका कहना था कि सभी धर्म नष्ट होकर उसमें पूर्णतः आने के पक्ष में थे। उनका धर्म नष्ट जाना चाहिए। वे

धर्म को ही मानव-विकास का आधार मानते थे। वे यह मानने की प्रवृत्ति कि मानव-विकास का प्रत्येक काल (period) तत्कालीन भौतिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित हुआ है और वह उन्हीं परिस्थितियों के अनुरूप था वे यह मानते थे कि आर्थिक विचारों में परिवर्तन होने से मानव-विकास के काल में परिवर्तन हुआ है। तत्कालीन दूसरे चरणों में वे यह मानते थे कि मानव इतिहास के प्रत्येक चरण का निर्धारण भौतिक परिस्थितियों द्वारा न होकर आर्थिक विचारों द्वारा हुआ। इस तरह वहाँ तक इतिहास और धर्म का सम्बन्ध है उन्होंने भौतिकवाद को 'विलासिनि देकर विचारवाद' को (अर्थात् इस धारणा को कि विचारों द्वारा भौतिक परिस्थितियों का निर्धारण होता है) प्रहृत्य कर लिया था।

इसके विपरीत मार्क्स का कहना यह है कि विचारों द्वारा भौतिक परिस्थितियों का निर्धारण न होकर भौतिक परिस्थितियों द्वारा विचारों को जन्म मिलता है। मनुष्य के विचार और उसकी पेशवा मानव-मस्तिष्क की उत्पत्ति हैं और मनुष्य स्वयं भी प्रकृति की उत्पत्ति है, जिसका विकास धाराचरण के अनुरूप हुआ है। जब कि जिस्तेपण द्वारा यह प्रकट हो जाता है कि मानव-मस्तिष्क की उत्पत्तियाँ वरप्रसन्न प्रकृति-जन्म ही होती हैं तो यह स्वभाविक है कि वे पेश प्रकृति के विपरीत न होकर उसके अनुरूप ही होती हैं। चूंकि मानव-पेशवा भौतिक पदार्थों और भौतिक परिस्थितियों की उत्पत्ति है इसलिये सामाजिक चेतना भी सामाजिक परिस्थितियों का उत्पत्ति है। टकनोसामी से उत्पादन की प्रक्रिया का निर्धारण होता है जो कि मनुष्य के जीवित रहने के लिए आवश्यक है और फिर उस प्रक्रिया के अनुसार ही मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं। उत्पादन की प्रक्रिया और उसके द्वारा निर्धारित होने वाले सामाजिक सम्बन्धों से ही मानविक धारणाएँ बनती हैं अतः सभी विचारों की और धर्म की भी उत्पत्ति भौतिकता से होती है। भौतिक परिस्थितियाँ बदलने से विचारों और आर्थिक धारणाओं में भी परिवर्तन आता है, न कि यह कि विचारों और आर्थिक विश्वासों में परिवर्तन आने से भौतिक परिस्थितियाँ बदलती हैं। मार्क्स ने कहा है कि—

‘मनुष्य अपने जीवन काल के सामाजिक उत्पादन में दूसरे मनुष्यों के साथ निश्चित सम्बन्ध स्थापित करता है। ये सम्बन्ध अनिवार्य होते हैं और उस पर उनकी स्वच्छा का बंध नहीं पड़ता। ये उत्पादन सम्बन्ध उत्पादन की उससे भौतिक शक्तियों के विकास के अणु-विघटन के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन-सम्बन्धों को भिन्नकर समाज का धार्मिक ढाँचा बनता है। यही वह वास्तविक आधार होता है जिस पर विधि-विधान और राजनीतिक यत्न निर्मित होता है और सामाजिक

चेतनाओं के रूप भी उसी के घनुरूप होते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन-पद्धति ही सामान्य सामाजिक राजनीतिक और भौतिक जीवन की प्रक्रिया निर्धारित करती है। मानवों की चेतनाओं द्वारा उनका भौतिक जीवन निर्धारित नहीं होता बल्कि इसके विपरीत उनके सामाजिक तथा भौतिक जीवन से उनकी चेतनाएँ निर्धारित होती हैं।"

(Marx says In the social production of their life men enter into definite relations that are indispensable and independent of their will; these relations of production correspond to a definite stage of development of their material forces of production. The sum total of these relations of production constitutes the economic structure of Society—the real foundation on which rises a legal and political superstructure and to which correspond definite forms of social consciousness. The mode of production of material life determines the social, political and intellectual life process in general. It is not the consciousness of men that determines their being, but, on the contrary their social being that determines their consciousness." —Preface to Contribution to the Critique of Political Economy)

लेनिन के कथनानुसार मार्क्स की दृष्टि में फेयरबाक और अन्य भौतिक-वादियों के दार्शन-शास्त्रों की कमियाँ इस प्रकार हैं—

- (१) यह भौतिकवाद मुख्यतः यंत्रियतावादी (Mechanical) है।
- (२) यह भौतिकवाद इन्द्रजालक नहीं है इसे इतिहास पर लागू नहीं किया गया और यह विकास के दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता।
- (३) यह भौतिकवाद मानव-तत्त्व के इतिहास को काल विधेय के सामाजिक सम्बन्धों के रूप में नहीं देख पाया।

अतः मार्क्स का भौतिकवाद यहाँ इन्द्रजालक है वह विकास की प्रक्रिया को दृष्टिगत रख कर चलता है। मनुष्य की चेतना व धर्म को भौतिक परिस्थितियों की उत्पत्ति मानता है यहाँ फेयरबाक का भौतिकवाद अन्त में जाकर 'विचारवाद' का रूप धारण कर लेता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

माक्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्राधान्यवृत्त सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) संसार ब्रह्म का स्वल्प स्रष्टव्यापी भावना का बाह्य रूप या चेतना का मूर्तस्वरूप न होकर भौतिक है। उसकी बहुमुखी प्रक्रियाएँ गतिशील भौतिक पदार्थ के विभिन्न-विभिन्न रूप हैं। उसके विभिन्न भग तथा प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से सम्बन्ध तथा परस्पर-निर्भर हैं और उनका विकास भौतिक पदार्थ की गतिशीलता के नियमानुसार होता है।

(२) भौतिक जगत् एक पदार्थ है। यह कहना प्रकृत है कि वह माया है अथवा उसका अस्तित्व केवल हमारे मस्तिष्क या विचारों में है। भौतिक पदार्थ ही मुख्य है और भावनाओं अनुभूतियों तथा विचारों की उत्पत्ति उसी से होती है, क्योंकि उनका माध्यम—मस्तिष्क—एक भौतिक पदार्थ है।

(३) यह सोचना प्रकृत है कि संसार और उसके नियमों को जान जाना मनुष्य के परे है। विज्ञान और अनुभवों द्वारा संसार और उसके नियमों को पूरी तरह से जाना जा सकता है। प्रकृति के नियमों के सम्बन्ध में मनुष्य ने जो ज्ञान प्राप्त किया है और परीक्षणों तथा अनुभवों द्वारा जो सही साबित हो चुका है वह सत्य व पदार्थ है। जो चीजें अभी तक ज्ञात नहीं हैं उन्हें भी विज्ञान व अनुभवों द्वारा जाना जा सकता है। प्रकृति की कोई भी चीज ज्ञान के परे नहीं है।

(४) प्रकृति धाकस्मिक वस्तुओं और प्रक्रियाओं का जगत् नहीं है। उसकी कोई भी चीज या प्रक्रिया अलग-अलग अस्वम्बन्ध और स्वतन्त्र नहीं है। प्रकृति की किसी भी वस्तु, उसके किसी भी भय या प्रक्रिया को समझने के लिए उसके पूर्व-विद्य की परिस्थितियों तथा उसके साथ उसकी अपृथक्त्व सम्बन्धता को ध्यान में रखना पड़ेगा।

(५) प्रकृति स्थिरता और अचरिता की स्थिति में नहीं है। यह गतिशील और परिवर्तनशील है। उसमें निरन्तर परिवर्तन और विकास होता रहता है। उसकी

यतिथीमता कमी भी सकती नहीं और इस प्रक्रिया में कुछ तत्व क्षिप्त-मिन्न ब नाष्ट होते रहते हैं तथा कुछ नये तत्व उत्पन्न होकर विकसित होते रहते हैं। इसलिये यह भावश्यक हो जाता है कि प्रकृति के किसी भी घन अथवा प्रक्रिया को समझने के लिए कबल मास-मास की चीजों के साथ उसकी सम्बद्धता तथा पारस्परिक निर्भरता को ध्यान में न रखा जाय बल्कि इस बात को भी ध्यान में रखा जाय कि वह निरन्तर गतिशील परिवर्तनशील और विकासमय है। वह बराबर नाष्ट होती रहती है और नया जन्म लेती रहती है।

(१) विकास साधारण रूप में नहीं होता बल्कि विकास की प्रक्रिया यह है कि परिमाणात्मक परिवर्तनों द्वारा गुणात्मक परिवर्तन होता है। किसी भी चीज में परिमाण के बढ़ते-बढ़ते भस् ही यह परिमाण-वृद्धि कितनी ही बढ़ी-बढ़ी करके कहीं न हो और भस् ही वह विज्ञायी भी न पकती हो उस चीज में भस् नाक व सुरात गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन बुनियादी होता है और वह वस्तु-विशेष एक अवस्था से अकार्यक दूसरी अवस्था में पहुँच जाती है। यह परिमाणात्मक परिवर्तनों का स्वाभाविक परिणाम होता है।

दूसरे, विकास की यह प्रक्रिया बुलाकार नहीं है अर्थात् परिवर्तनों द्वारा फिर ठीक उसी बिन्दु पर नहीं पहुँचा जा सकता जहाँ से प्रक्रिया आरम्भ हुई हो। अरुधसक यह विकास ऊपर की ओर से जाता है। गुणात्मक परिवर्तन द्वारा वस्तु बिध नयी अवस्था में पहुँचती है, वह उसकी पूर्व अवस्था की प्रवेधा यथाथा ऊँचे स्तर का होता है। अतः विकास की प्रक्रिया साधारण न होकर बहु-संघी है।

मास्स का यह सिद्धांत एक सबाहुरस से स्पष्ट हो जायगा। पानी में जब परमी पहुँचायी जाती है तो यह गरमी बिलायी नहीं पकती। जैसे-जैसे गरमी की मात्रा बढ़ती जाती है जैसे-जैसे परिमाणात्मक परिवर्तन होता जाता है यद्यपि पानी पानी ही रहता है। उसमें गरमी की मात्रा समान नहीं है, उसके परिमाण में बराबर वृद्धि हो रही है। दूसरे सघों में गरमी बढ़ने के साथ-साथ उसमें परिमाणात्मक परिवर्तन हो रहा है। पर बीरे-बीरे करके वह स्थिति धा जाती है जबकि पानी एकाएक भाप बनकर उड़ने लगता है अर्थात् परिमाणात्मक परिवर्तन द्वारा गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है, यथाकि पानी और भाप के गुण मिन्न-मिन्न हैं और वे एक ही वस्तु की दो गुणात्मक अवस्थाएँ हैं। यह गुणात्मक परिवर्तन एकाएक और तीव्रतम मति सं होता है। यद्यपि यह गुणात्मक परिवर्तन परिमाणात्मक परिवर्तन का स्वाभाविक परिणाम होता है, तथापि वह अरुधसे

मिन्न है। इसी तरह ठंडक पहुँचाने से पानी में गुणात्मक परिवर्तन होकर बर्फ बनती है।

(७) प्रत्येक वस्तु और प्रकृति की प्रत्येक प्रक्रिया में दो परस्पर-विरोधी तत्व मौजूद होते हैं—एक नकारात्मक शक्ति होती है और दूसरी सकारात्मक। नकारात्मक शक्ति बह जाती है जो नष्ट हो रही होती है और सकारात्मक शक्ति बह होती है जो विकसित हो रही होती है। इन दोनों विरोधी तत्वों और शक्तियों में निरन्तर संबंध होता रहता है। यह मये और पुराने का संबंध होता है, उन दो तत्वों के बीच होता है, जिनमें से एक विकसित हो रहा होता है और दूसरा नष्ट हो रहा होता है। इस धात्विक संबंध के फलस्वरूप विकास होता है और वस्तु घबका प्रक्रिया का स्वरूप बदल जाता है। दूसरे तत्वों में परिमाणमय परिवर्तन द्वारा गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। लेकिन यह विकास हमेशा निम्न स्तर से उच्च स्तर को होता है अर्थात् प्रक्रिया एक निम्न अवस्था से अपेक्षाकृत उच्च-अवस्था पर पहुँचती है।

दुनियात्मक सिद्धांत व सामाजिक जीवन

मार्क्स ने अपने इन सिद्धांतों को सामाजिक जीवन तथा समाज के इतिहास का अध्ययन करने के लिए भी प्रयुक्त किया है। उनका कहना है कि चूंकि सभी प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं तथा एक-दूसरे पर निर्भर होती हैं इस लिए किसी भी सामाजिक व्यवस्था अथवा इतिहास के किसी भी घाटोत्तम का मुत्याजन 'समाज न्याय' के दृष्टिकोण से नहीं किया जा सकता। उसका मुत्याजन इस दृष्टि से नहीं किया जा सकता कि इन अपने पूर्वाग्रह के कारण अथवा पहल से बनी हुई किसी पारख के कारण किस चीज को अच्छी या बुरी समझते हैं। मुत्याजन इस दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए कि किस सामाजिक व्यवस्था अथवा सामाजिक आन्दोलन का किस परिस्थितियों में जन्म दिया।

सामतवादी व्यवस्था

माज की परिस्थितियों में 'युमान प्रका' अर्थात् मौजूदा तत्वों और अवस्थामाजिक है। लेकिन जिन परिस्थितियों में उसका जन्म हुआ था वह प्रगतिशील व्यवस्था थी। उसका जन्म प्रारम्भिक सामुदायिक व्यवस्था के विघटन के फलस्वरूप हुआ था और इस बात को ध्यान में रखकर देखा जाए तो उन परिस्थितियों में वह एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी जिससे समाज घाटे बढ़ा। अतः कौनसी चीज अच्छी या बुरी है यह परिस्थिति का ही ध्यान पर निर्भर करता

है। इन्हीं विद्वानों के प्रभाव पर मार्क्स ने यह कहा कि सामन्तवादी व्यवस्था किसी समय में अच्छी थी पर बाद में नई परिस्थितियों में वही बीज चुरी हो गई। पुनराम-व्यवस्था के अन्तविरोधी ने सामन्तवादी व्यवस्था को जन्म दिया और इस सामन्तवादी व्यवस्था के परस्पर-विरोधी तत्वों के समय में पूँजीवादी समाज का जन्म दिया। इस तरह एक के बाद दूसरी सामाजिक व्यवस्था का प्राप्ता स्वामाजिक या। पूँजीवादी व्यवस्था में भी दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ हैं—एक ओर पूँजीपति वर्ग है और दूसरी ओर सर्वहारा वर्ग। पूँजीपति वर्ग ह्रासोन्मुख शक्ति है और मजदूर वर्ग विकासोन्मुख शक्ति। अतः इन दो परस्पर विरोधी शक्तियों के फलस्वरूप एक नई सामाजिक व्यवस्था—समाजवादी व्यवस्था—का पैदा होना स्वामाजिक है। मार्क्स का यह भी कहना है कि जब किसी भी बीज अथवा प्रक्रिया में पुण्यालम्ब परिवर्तन होता है तो वह एकाएक होता है। अतः पूँजीवादी व्यवस्था को मुभारकों द्वारा पीरे-पीरे समाजवादी व्यवस्था में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। यह परिवर्तन तो एकाएक ही आया जा सकता है अर्थात् अभिष्ट द्वारा ही समाजवाद की स्थापना हो सकती है।

पूँजीवादी व्यवस्था

पूँजीवादी व्यवस्था में सम्पत्ति और उत्पादकों के सभनों पर व्यक्तिगत अधिकार को ठीक उसी तरह उचित और न्यायसंगत माना जाता है जिस तरह मुलाम प्रथा के समय गुमामों पर उनके मालिकों के अधिकार को उचित व न्याय संयत माना जाता था। समाज के दूसरी व्यवस्था में पूँजी जाने पर जिस तरह मुलाम प्रथा को अनुचित और अन्यायपूर्ण माना जाने लगा था उसी तरह समाजवादी व्यवस्था में सम्पत्ति और उत्पादकों के सभनों पर व्यक्तिगत अधिकारों का अन्यायपूर्ण अनुचित और गैर-कानूनी माना जाने लगेगा।

सामाजिक विचार व विद्वान्त

जहाँ तक सामाजिक विचारों और विद्वान्तों का सम्बन्ध है मार्क्स का कहना है कि उनका जन्म भी परिस्थितियों के अनुसार होता है। कुछ ऐसे विचार और विद्वान्त होते हैं जो पुराने पड़ चुके होते हैं और समाज की उन शक्तियों का हित-साधन करते हैं जो समाज का धावे बढ़ने से रोकने की कोशिश करती हैं। दूसरी ओर वे सामाजिक विचार और विद्वान्त होते हैं, जो नये और प्रगतिशील हाव हैं तथा समाज की विकासोन्मुख शक्तियों का हित-साधन करते हैं। इन नये सामाजिक विचारों और विद्वान्तों का जन्म तभी हो जाता है, जब

समाज का भौतिक जीवन विकसित होकर ऐसी अवस्था में पहुँच चुका हो कि उसके समझ नये सामाजिक कार्य प्रस्तुत हो गए हों। ये सामाजिक विचार और सिद्धान्त उत्पन्न हो चुकने के बाद स्वयं में एक बहुत बड़ी व्यक्ति बन जाते हैं। वे पुराने सामाजिक विचारों तथा सिद्धान्तों के साथ संघर्ष करते हैं और समाज के भौतिक जीवन को विकसित करने में सहायक बनते हैं। इसी सामाजिक विचारों तथा सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ बनती हैं। यद्यपि इन सामाजिक विचारों के सिद्धान्तों और संस्थाओं का जन्म समाज के भौतिक जीवन के फलस्वरूप होता है तथापि उनके जन्म से चुकने के बाद समाज के भौतिक जीवन पर भी उनकी प्रतिक्रिया होती है और इस तरह वे समाज के भावी विकास को सम्भव बनाते हैं।

सामाजिक सम्बन्ध

यहाँ तक सामाजिक जीवन की भौतिक परिस्थितियों का सम्बन्ध है मार्क्स ने प्राकृतिक और भौमिक स्थिति तथा जनसंख्या आदि के प्रभाव को धत्वीकार नहीं किया है। लेकिन उन्होंने उन्हे सामाजिक जीवन का निर्णायक तत्व नहीं माना है। उनका कहना है कि सामाजिक जीवन की भौतिक परिस्थितियों का निर्णायक तत्व होता है उत्पादन का तरीका अर्थात् वह पद्धति जिससे मानव अस्तित्व के लिए आवश्यक वस्तुएँ—खाना कपड़ा जूता मकान इधम उत्पादन के आधार आदि—उत्पादित किये जाते हैं। जीवनोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन की प्रक्रिया मनुष्यों के बीच उत्पादन-सम्बन्ध स्थापित करती है। उत्पादन के लिए मानव एक-दूसरे से सहयोग करता है और अपनी उत्पादित वस्तुओं का विनिमय करता है। मार्क्स ने मानवों के इस सम्बन्ध को सामाजिक सम्बन्ध कहा है और सभी प्रकार के उत्पादन को सामाजिक उत्पादन की संज्ञा दी है।

सामाजिक विकास का इतिहास

समाज में उत्पादन सबैक एक-जैसी स्थिति में नहीं रहता। वह घटकर बढ़ता और विकसित होता रहता है। उत्पादन के तरीके में परिवर्तन होने के फलस्वरूप समूची सामाजिक अवस्था और उसके साथ-साथ सामाजिक विचारों, राजनीतिक विचारों तथा राजनीतिक संस्थाओं आदि का भी बदलना आवश्यक भवती हो जाता है। उत्पादन का तरीका बदलने के फलस्वरूप सामाजिक और राजनीतिक अवस्था के पुनर्निर्माण की आवश्यकता पैदा हो जाती है। यद्यपि समाज का उत्पादन का जो तरीका होता है उसी के अनुकूल सामाजिक

आर्थिक विचार—(१)

मार्क्स ने आर्थिक क्षेत्र में भी नये धोर कान्ट्रिकारी सिद्धान्तों का निष्पत्ति किया है तथा धातुनिक समाज (पूँजीवादी समाज) के आर्थिक नियमों की खोज की है। उन्होंने पूँजीवादी समाज की उत्पादन-शक्तियों तथा उत्पादन-सम्बन्धों का प्रभुत्व-पूर्व विश्लेषण किया। वास्तव में उन्हें एक नये धर्मशास्त्र का जन्मदाता कहा जा सकता है, क्योंकि सिर्फ यही नहीं कि उनका धर्मशास्त्र परम्परागत धर्मशास्त्रों से भिन्न है, बल्कि उन्होंने जिन आर्थिक नियमों की खोज की है उससे परम्परावादी धर्मशास्त्रों द्वारा प्रस्तुत आर्थिक सिद्धान्तों पर कुञ्जरबाण हुआ है।

मूल्य

मार्क्स ने पूँजीवादी समाज की धर्म-व्यवस्था का विश्लेषण करते समय सबसे पहले जर्मन की व्याख्या की है और उसका विश्लेषण किया है क्योंकि पूँजीवादी धर्मशास्त्र का आधार जर्मन का उत्पादन है और इसी उत्पादन द्वारा इस समाज के आर्थिक सम्बन्ध निर्धारित हुए हैं। मार्क्स के कथनानुसार जिन एक ऐसा पदार्थ है जो मानव की किसी-न-किसी आवश्यकता की पूर्ति कर सके जिसका दूसरी वस्तुओं के साथ विनिमय हो सके। अपनी उपयोगिता के कारण वह वस्तु उपयोगी मूल्य' होती है, धर्मशास्त्र उपयोगिता की दृष्टि से उसका कुछ-न-कुछ मूल्य होता है। पर यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक उपयोगी वस्तु जिन हो। उदाहरण के लिए हवा उपयोगी वस्तु है, फिर भी उसका कोई मूल्य नहीं है। समुद्र-तट पर पड़ा हुआ बालू का ढेर उपयोगी होते हुए भी जिन नहीं है। वह जिन की श्रेणी में अभी जा सकता है जब उसे सड़क में सामा जाय और उसका विनिमय हो सके। इस तरह यदि कोई मनुष्य अपने किसी उपयोग के लिए कोई वस्तु बनाए तो वह उपयोगी होते हुए भी जिन की श्रेणी में शामिल नहीं की जा सकती। जिन की श्रेणी में जाने के लिए आवश्यक है कि 'उपयोगिता-मूल्य' होने के साथ-साथ उसका विनिमय-मूल्य भी हो और किसी निश्चित अनुपात में उसका दूसरी उपयोगी वस्तुओं के साथ विनिमय हो सके। हम देखते हैं कि इस प्रकार के फिटने ही 'उपयोगी मूल्यों'

का (मर्चन्ट् उपयोगी वस्तुओं का) विनिमय बाजारों में नित्यप्रति होता रहता है। अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह कौनसी वस्तु है जो दो बिलकुल भिन्न प्रकार की उपयोगी वस्तुओं को विनिमय के योग्य बनाती है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं में वह कौनसा समान तत्त्व है, जिसके कारण उनका विनिमय होता है। मार्क्स का कहना है कि यह समान तत्त्व है—मानव-श्रम। प्रत्येक उपयोगी वस्तु मानव-श्रम का फल होती है। उतमें किसी-न-किसी मात्रा में मानव-श्रम मिश्रित होता है। अतः प्रत्येक वस्तु मानव-श्रम का मूर्तरूप होती है अतः उनका विनिमय हो सकता है और यह विनिमय उही अनुपात में होता है जिस अनुपात में उनमें मानव-श्रम मिश्रित हो।

यद्यपि प्रत्येक उपयोगी वस्तु में मानव-श्रम मिश्रित होता है तथापि प्रत्येक प्रसंग उरह की वस्तुओं को बनाने के लिए प्रत्येक-प्रसंग उरीके से श्रम करना पड़ता है। कोट तैयार करने के लिए एक घास उरीके से श्रम करना पड़ता है और शूता तैयार करने के लिए दूसरे उरीके से। प्रत्येक-प्रसंग उरीके से श्रम करने के फल स्वरूप उत्पादित वस्तुओं की प्रत्येक-प्रसंग उपयोगिता होती है। लेकिन जो व्यक्ति अपने जिम्मे को विनिमय के लिए बाजार में लेकर जाता है उसकी दृष्टि में उसका उपयोगिता-मूल्य न होकर केवल उसका विनिमय मूल्य होता है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि जब प्रत्येक-प्रसंग उरह की चीजों के उत्पादन में प्रत्येक-प्रसंग उरह का श्रम लगता है तो उनका विनिमय किस आधार पर होता है? यदि एक कोट का विनिमय दो जोड़े जूते के साथ हो सकता है तो क्यों? मार्क्स ने इसका उत्तर यह दिया है कि प्रत्येक विधिगत श्रम को निर्गुण श्रम में घटाया जा सकता है। एक कोट का मूल्य दो जोड़े जूते के मूल्य के बराबर इसलिए है कि जितना श्रम एक कोट को बनाने के लिए लगना पड़ता है उतना ही श्रम दो जोड़े जूते तैयार करने में लगना पड़ता है। लेकिन यदि कोई नौसिखिया कारीगर एक कोट तैयार करने में लगना श्रम लगा दे तो क्या जितना कि दो जोड़े जूते तैयार करने में लगता है उस मुना विनिमय इस आधार पर होता है कि किस वस्तु के उत्पादन के लिए कितना श्रम सामाजिक रूप से आवश्यक होता है। इस श्रम का मापदण्ड होता है समय मर्चन्ट् किस चीज को बनाने के लिए कितना समय लगाना पड़ता है। उदाहरण के लिए, समाज की व्यवस्था-विशेष में कोट को तैयार करने के लिए जो श्रम इस्तेमाल किये जाते हैं, यदि उनकी सहायता से सामान्य कीचल वाले कारीगर प्रौढतम घाठ पथ में एक कोट बना लेते हैं और उही सामाजिक व्यवस्था में जिन शीशारों द्वारा जूता

ई मुद्रा पूर्वी का रूप ग्रहण कर लेती है। मुद्रा की उत्पत्ति होने पर, प्रारम्भ में विनिमय का स्वरूप यह था कि बिन्ध बेकर मुद्रा हाथिस की जाती थी और फिर उस मुद्रा को बेकर बिन्ध हाथिस किया जाता था। उत्पादक प्रयत्न बिन्ध बेकर मुद्रा से सेता था और फिर उस मुद्रा द्वारा अपनी बचत का बिन्ध खरीद सेता था। बाद में विनिमय का स्वरूप यह बना कि बिन्ध की खरीद अपनी बचत पूरी करने के लिए न की जाकर, बिन्ध के लिए की जाने लगी। मुद्रा द्वारा बिन्ध खरीदकर उसे पुन बचकर मुद्रा प्राप्त कर ली जाती थी ताकि मुनाफ़ा कमाया जा सके। लेकिन मार्कस का कहना है कि दरम्यान यह मुनाफ़ा बिन्धों की कीमत बढ़ा देने से प्राप्त नहीं होता। यदि एक बिन्ध की कीमत बढ़ा दी जाती है तो उसी समुदाय में दूसरे सभी बिन्धों की कीमतें भी बढ़ जाएँगी। प्रतिरिक्त मूल्य हाथिस करने के लिए मुद्रा के मासिक का बाजार में ऐसे बिन्ध की खोज करनी पड़ी जो उपयोगी मूल्य होने के साथ-साथ मूल्य उत्पन्न करने का साधन भी हो। अर्थात् ऐसा बिन्ध जो अपनी बचत की प्रक्रिया द्वारा मूल्य की उत्पत्ति करे। मार्कस का कहना है कि यह बिन्ध है मानव की श्रम-शक्ति। अपनी बचत द्वारा श्रम-शक्ति मूल्य की उत्पत्ति करती है। मुद्रा का मासिक श्रम-शक्ति को उसका मूल्य बेकर खरीद सेता है। श्रम सभी बिन्धों की मासिक श्रम-शक्ति का मूल्य भी इस बात के द्वारा निर्धारित होता है कि समाज की आवश्यकता-विरोध में श्रम-शक्ति को पेश करने के लिए कितने समय के श्रम की आवश्यकता पड़ती है। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूर और उसके परिवार के भरण-पोषण का जितना खर्च बँटता है उतना ही उसके श्रम का मूल्य हुआ। श्रम-शक्ति को खरीदकर मुद्रा का मासिक उसे इस्तेमाल करता है। मान लीजिए कि एक मजदूर चार घण्टे काम करके इतना मूल्य उत्पादित कर सेता है जितना कि उसके और उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है। लेकिन यदि मुद्रा का मासिक उससे चार घण्टे के बजाय आठ घण्टे काम करता है तो दोष चार घण्टों में वह मजदूर जितना मूल्य उत्पादित करेगा वह प्रतिरिक्त-मूल्य प्रयुक्त मासिक का मुनाफ़ा होगा।

हम देखते हैं कि कारखानों में मजदूरों को एक निश्चित समय तक खोजना काम करना पड़ता है और उसके लिए उन्हें ठय की लगी दर पर मजदूरी मिलती है। मान लीजिये एक मजदूर को दो रुपये दोष मजदूरी मिलती है और उसे आठ घण्टे काम करना पड़ता है। यदि चार घण्टे में वह जितना उत्पादन करता है, उसका मूल्य दो रुपये के बराबर हो तो दोष चार घण्टों में वह दो रुपये का जो प्रतिरिक्त सामान उत्पादित करेगा वह प्रतिरिक्त-मूल्य अर्थात् मासिक का

सामाजिक विचारधाराएँ

जाता है। उनकी सहायता से सामान्य कौशल वाला कारीगर घाठ पन्टे में न बो जोड़ी जूते तैयार कर सता है। तो इसका अर्थ यह होता कि एक कोट के लिए सामाजिक दृष्टि से जितना धन सयता है उतना ही धन दो जोड़ी में सयता है। यहाँ एक कोट तथा दो जोड़ी जूतों का मूल्य समान है और इसी अनुपात में विनिमय हो सकता है। इस तरह वास्तव में वस्तुओं का मूल्य न होकर उनमें निहित मानव-धन का विनिमय होता है।

मुद्रा

मार्क्स का कहना है कि पहले विनिमय आकस्मिक कार्यों के रूप में होता था लेकिन उसका विकास होने के फलस्वरूप मुद्रा की उत्पत्ति हुई। मार्क्स ने विनिमय के विकास को एक ऐतिहासिक प्रक्रिया कहा है। उनका कहना है कि जब विनिमय का स्वरूप आकस्मिक था उसमें किसी एक वस्तु की विविध मात्रा का विनिमय किसी दूसरे वस्तु की एक निश्चित मात्रा के साथ हो सकता था लेकिन विनिमय के विकास के फलस्वरूप सभी वस्तुओं का विनिमय अब एक वस्तु से होने लगा। इसी ऐतिहासिक वस्तु ने मुद्रा का रूप ग्रहण किया। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए कि एक कोट का विनिमय दो जोड़ी जूतों बस गज कपड़े एक मन गेहूँ और एक कुरसी के साथ होता है। तो इसका अर्थ यह हुआ कि जूते कपड़े गेहूँ और कुरसी न अपने मूल्यों को कोट के मूल्य द्वारा अपने कोट के मूल्य के माध्यम से प्रयत्न किया। कोई भी व्यक्ति दो जोड़ी जूते लेकर एक कोट से सकता है और उस कोट को लेकर बस गज कपड़ा या एक मन गेहूँ या एक कुरसी से सकता है। यहाँ पर कोट के विनिमय के माध्यम का रूप ग्रहण कर लिया है। जो स्वान हमारे उपर्युक्त उदाहरण में कोट से ग्रहण किया वही स्वान विनिमय के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया में सोना ने ग्रहण किया और वह वस्तुओं के विनिमय का माध्यम बना। सभी वस्तु अपने मूल्य सोने के मूल्य के माध्यम से प्रयत्न करने लगे। बाब में सोने का स्वान मुद्रा ने ग्रहण किया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुद्रा ने वैयक्तिक धन के सामाजिक स्वरूप तथा व्यक्तिगत उत्पादकों के सामाजिक सम्बन्ध पर परभाव डाल दिया। मार्क्स ने मुद्रा की धन्य विशेषताओं और उसके विभिन्न कार्यों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। विनिमय का माध्यम बनने के बाद मुद्रा मजबूती बुकाने और पूँजी के संग्रह साधन का भी माध्यम बना।

प्रतिद्वन्द्वित मूल्य

मार्क्स का कहना है कि वस्तु उत्पादन के विकास की एक अवस्था-विशेष

ई मुद्रा पृथ्वी का रूम ग्रहण कर लेती है। मुद्रा की उत्पत्ति होने पर, प्रारम्भ में बिलिमय का स्वल्प यह था कि जित्त बेकर मुद्रा हासिल की जाती थी और फिर उस मुद्रा को बेकर जित्त हासिल किया जाता था। उत्पादक अपनी जित्त बेकर मुद्रा से लेता था और फिर उस मुद्रा द्वारा अपनी जरूरत का जित्त खरीद लेता था। बाद में बिलिमय का स्वल्प यह बना कि जित्त की खरीद अपनी जरूरत पूरी करने के लिए न की जाकर बिक्री के लिए की जाने लगी। मुद्रा द्वारा जित्त खरीदकर उसे पुनः बेकर मुद्रा प्राप्त कर ली जाती थी ताकि मुनाफ़ा कमाया जा सके। लेकिन मार्क्स का कहना है कि दरबयस यह मुनाफ़ा जित्तों की कीमत बढ़ा देने से प्राप्त नहीं होता। यदि एक जित्त की कीमत बढ़ा दी जाती है तो उही अनुपात में दूसरे सभी जित्तों की कीमतें भी बढ़ जाएँगी। धतिरिक्त मूस्य हासिल करने के लिए मुद्रा के मासिक का बाजार में ऐसे जित्त की खोध करनी पड़ी जो उपयोगी मूस्य होने के साथ-साथ मूस्य उत्पन्न करने का सामन भी हो अर्थात् ऐसा जित्त जो अपनी खपत की प्रक्रिया द्वारा मूस्य की उत्पत्ति करे। मार्क्स का कहना है कि यह जित्त है मानव की शम-शक्ति। अपनी खपत द्वारा शम-शक्ति मूस्य की उत्पत्ति करती है। मुद्रा का मासिक शम-शक्ति को उसका मूस्य बेकर खरीद लेता है। अन्य सभी जित्तों की भाँति शम-शक्ति का मूस्य भी इस बात के द्वारा निर्धारित होता है कि समाज की अवस्था-विशेष में शम-शक्ति को पैदा करने के लिए कितने समय के शम की आवश्यकता पड़ती है। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूर और उसके परिवार के भरण-पोषण का जितना खर्च बटता है उतना ही उसके शम का मूस्य हुआ। शम-शक्ति को खरीदकर मुद्रा का मासिक उसे इस्तेमाल करता है। मान लीजिए कि एक मजदूर चार घण्टे काम करके इतना मूस्य उत्पादित कर लेता है जितना कि उसके और उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है। लेकिन यदि मुद्रा का मासिक उन्हे चार घण्टे के बजाय आठ घण्टे काम कराता है तो शेष चार घण्टों में वह मजदूर जितना मूस्य उत्पादित करेगा वह धतिरिक्त मूस्य अथवा मासिक का मुनाफ़ा होगा।

इस दृश्यत है कि कारखानों में मजदूरों को एक निश्चित समय तक रोबाना काम करना पड़ता है और उसके लिए उन्हें वय की कमी दर पर मजदूरी मिलती है। मान लीजिये एक मजदूर को दो रुपये रोब मजदूरी मिलती है और उसे आठ घण्टे काम करना पड़ता है। यदि चार घण्टे में वह जितना उत्पादन करता है उसका मूस्य दो रुपये के बराबर हो तो शेष चार घण्टों में वह दो रुपये का जो धतिरिक्त सामान उत्पादित करेगा वह धतिरिक्त-मूस्य अथवा मासिक का

मुनाफ़ा होना ।

पूर्वीपति अपनी पूँजी को दो रूपों में लगाता है—पूँजी के एक हिस्से से वह उत्पादन के साधन यानी मशीनें चादि घोर कष्टा मास खरीदता है । कष्टे मास को पूरै-भी-पूरी कीमत घोर उत्पादन के साधन की प्राथिक कीमत उत्पादित वित्त की कीमत में जोड़ दी जाती है । अतः इस पूँजी पर पूर्वीपति को कोई मुनाफ़ा नहीं मिलता । यह पूँजी उठनी-भी-उठनी बापस मिल जाती है और इस तरह उठनी-भी-उठनी बनी रहती है । उस मुनाफ़ा पूँजी के उस हिस्से पर होता है जिससे वह मजदूर की श्रम-शक्ति को खरीदता है । वह श्रम-शक्ति को खिलाने में खरीदता है, उससे कहीं अधिक मूल्य का उत्पादन वह उस श्रम-शक्ति द्वारा करता है । यही उसका मुनाफ़ा होता है ।

पूर्वीपति मजदूरों की श्रम-शक्ति द्वारा उत्पादित अतिरिक्त-मूल्य का भागिक होता है । पर वह इस समूहके अतिरिक्त-मूल्य अथवा मुनाफ़े को अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति पर खर्च नहीं करता । वह उसका कुछ अंश ही अपनी निजी आवश्यकताओं पर खर्च करता है और शेष को पूँजी के रूप में उत्पादन में लगा देता है । इस तरह अतिरिक्त-मूल्य (मुनाफ़ा) पूँजी का रूप ग्रहण कर लेता है ।

पूँजी के संग्रह के फलस्वरूप पूर्वीपति इस स्थिति में होता है कि वह विज्ञान के नये-नये आविष्कारों से लाभ उठाकर अपने कारखाने में बेहतर मशीन लगाए । इससे उसका मुनाफ़ा और भी बढ़ जाता है । उदाहरण के लिए यदि वह मजदूर को दो रुपये रोज देता है और उससे घाट बाटे रोज काम कराता है और यदि जिस मशीन की सहायता से मजदूर उत्पादन करता है वह मशीन ऐसी है जिससे मजदूर चार घण्टे में दो रुपये का मूल्य उत्पादित कर देता है तो शेष चार घण्टों में वह जितना मूल्य उत्पादित करेगा वह भागिक का मुनाफ़ा होगा । लेकिन यदि भागिक उस मशीन की जगह बेहतर मशीन लगा देता है और अब मजदूर केवल दो घण्टे काम करके दो रुपये का मूल्य उत्पादित करने लगता है तो शेष छ घण्टों में वह जितना अतिरिक्त-मूल्य उत्पादित करेगा वह भागिक का मुनाफ़ा होगा । इसका अर्थ यह होगा कि भागिक का मुनाफ़ा बढ़ गया । भागिक मजदूरों के घण्टे बढ़ाकर भी यथा मुनाफ़ा बना सकता है । दूसरे, वैसे-वैसे ऐसी मशीनों का आविष्कार होता जाता है जिनको खसान के लिए कम से कम मजदूरों की आवश्यक पड़ वैसे-वैसे प्रकार मजदूरों की संख्या बढ़ती जाती है । इससे फलस्वरूप भागिक मजदूरों की दर भ्रान्त म सफल हो

कार्स मार्क्स

जाता है और उसके भी मासिक का मुनाफा बढ़ता है। परिणाम यह होता है कि मजदूरों की तबाही बढ़ती जाती है और पूंजीपतियों का मुनाफा तथा उनकी पूंजी बढ़ती जाती है।

हमने यहाँ मार्क्स द्वारा प्रस्तुत पूंजीवादी उत्पादन के बिन्दोपण की कल्पना प्रभावित और मोटी-मोटी बातों का उल्लेख किया है। मार्क्स ने अपने इन्हीं सिद्धान्तों द्वारा पूंजीवादी उत्पादन मुझ और बिलियम आदि की समस्त प्रशिक्षणों तथा उनके समस्त पहलुओं पर जिसरूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार किराया मजान मूद आदि सभी चीजों का बिन्दोपण प्रस्तुत किया है और यह साबित किया है कि परम्परावादी धर्म शास्त्रियों द्वारा निर्धारित सिद्धान्त कितने खोबने हैं। पूंजीवादी समाज में जिस तरह बनबानों व पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण होता है उसका हानि बड़ी धरती का साथ बिन्दोपण किया है और अपने इस बिन्दोपण द्वारा इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि पूंजीवादी उत्पादन अपने विकास की प्रक्रिया में एक ऐसी प्रवृत्ति में पहुँच जाता है जबकि वह उत्पादन के तरीकों के विकास में बाधक बन जाता है और उसका परिणाम अक्षय्यमाना हो कर संभ्रंश होता है कि पूंजीवादी मिश्रित समाज को दी जाती है। वह श्रमिक वर्गों में जो तबाही और बरबादी पैदा करता है उसके फलस्वरूप यह वर्ग उसके खिलाफ उठ खड़ा होता है और संगठित होकर उसकी मिश्रित समाज को समाप्त कर देता है तथा उत्पादन के साधनों को समाज की मिश्रित समाज बना देता है। इस तरह पूंजीवादी उत्पादन का स्थान समाजवादी उत्पादन ग्रहण करता है। पूंजीवादी समाज के स्थान पर समाजवादी समाज का निर्माण होता है।

अध्याय ५

आर्थिक विचार—(२)

जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त जिस नये और आन्विकारी हैं। उन्होंने पूँजीवादी उत्पादक की प्रक्रिया का नये नये विस्तार किया है। उनके आर्थिक सिद्धान्तों में मजदूरी और पूँजी की समस्या तथा उनके सम्बन्धों का विस्तार एक विषय स्थान रखता है। अतः हम नीचे ऐसे कुछ उदाहरण दे रहे हैं जिनसे मजदूरी और पूँजी-सम्बन्धी उनके विचार स्पष्ट हो जायेंगे।

मजदूरी

मार्क्स ने लिखा है कि—

“यदि मजदूरों से पूछा जाय 'तुम्हें कितनी मजदूरी मिलती है?' तो एक जवाब देना 'मुझे मेरा आर्थिक एक मार्क रोज देता है' इसका जवाब 'मुझे दो मार्क मिलते हैं, और बाकी मजदूर भी इसी तरह के जवाब देने। मजदूरों के घण्टा-घण्टा वेसे होते हैं और वे अपने घण्टा-घण्टा वेधों के अनुसार घण्टा-घण्टा रकमें बताएँगे जो उन्हें अपने आर्थिकों से किसी खास तरह का काम पूरा करने के एवज में मिलता है। वे तरह-उन्हें के जवाब देने लेकिन इसके बावजूद एक बात पर वे सब सहमत होंगे वह यह कि मजदूरी वह रकम है जो पूँजीपति किसी खास वस्तु तक पहुँचाने या कोई खास चीज तैयार करने के एवज में देता है।

अतएव जलता है मानो पूँजीपति वैसा देकर उनकी मेहनत पारीयता है। मजदूर पैस के एवज में उसके हाथ अपनी मेहनत बेचते हैं। लेकिन यह सब सिद्धं ऊपर ही दिखाना है। अतएव मजदूर वेसे के एवज में पूँजीपति के हाथों जो कुछ बेचते हैं वह उनकी धन-अर्पित होती है। पूँजीपति इस धन-अर्पित को एक दिन के लिए, एक सप्ताह के लिए, एक महीने के लिए, या ऐसे ही किसी निश्चित समय के लिए खरीद लेता है और खरीदने के बाद वह उसका इस्तेमाल करता

कार्म मास

है, मर्षात् मजदूरों से निश्चित समय तक काम कराता है।
 "मजदूर अपने मास को यानी अपनी श्रम-शक्ति को पूंजीपति के मास से
 यानी पैस से बदल लेते हैं और यह बदला-बदली मर्षात् बिनियम एक निश्चित
 अनुपात में होता है। इतनी बेर तक श्रम-शक्ति का उपयोग करने के लिए इतना
 पैसा दे दिया जाता है जितने बाहर भ्रष्टे तक बुलाई करने के लिए वा मास दिए
 जाते हैं। और यही वो मार्क क्या उन तमाम चीजों का भी प्रतिनिधित्व नहीं
 करते जिनको मैं वो मार्क लेकर खरीब सकता हूँ? इसलिये, दरमसल मजदूर
 ने अपने जिनस का यानी अपनी श्रम-शक्ति का सभी प्रकार के श्रम जिनसों से
 पति ने उसे वो मार्क लेकर बास्तब म उसकी श्रम-भर की मेहनत के बदले में
 इतना योष्य इतना रूपड़ा इतना ईश्वर रोदानी प्राप्ति की है। अतः वो मार्क
 से बहु अनुपात प्रकट होता है जिस अनुपात में श्रम-शक्ति का दूसरे मासो के
 साथ पिनियम होता है। वो मास से मजदूर की श्रम-शक्ति का बिनियम-मूल्य
 जब मुद्रा के रूप में लयाया जाता है तब बहु उसका दाम कहलाता है। मजदूरी
 श्रम-शक्ति के दाम का ही एक विशेष नाम है जिसे धाम और पर श्रम का दाम
 कहा जाता है। मजदूरी उस विविध वस्तु की कीमत का विशेष नाम है, जो
 केवल मानव-शरीर के रक्त और मांस में ही निवास करती है।

"अतः मजदूर को मास तैयार कराता है उसमें उसका हिस्सा मजदूरी नहीं
 है। मजदूरी पहले से मौजूद जिनसों का बहु मास है जिसके द्वारा पूंजीपति अपने
 लिए एक निश्चित मात्रा में उत्पादन करने वाली श्रम-शक्ति खरीदता है।

मजदूर और पूंजीपति का सम्बन्ध

मजदूर और पूंजीपति के परस्पर सम्बन्धों के बारे में मार्क्स ने लिखा है—
 धर्म गुलाम किसान जमीन के साथ बैठा होता वा धोर जमीन से जो कुछ पैसा
 होता वा बहु सब जमीन के मासिक की भेंट कर देता वा। दूसरी धोर, स्वतन्त्र मजदूर
 सुद धन को बेचता है। बल्कि सब तो यह है कि बहु अपने को बाड़ा बाड़ा करके
 बेचता है। धन जीवन के घाठ-दस-बारह-पन्द्रह भ्रष्टे बहु रोच नीसाम कखा
 है और सबग प्यारा कीमत देने वाल के हाथ उसे बैच देता है। उनको खरीदता
 है पण्य मास श्रम के यन्त्रों तथा जीवन-निर्वाह के साधनों का स्वामी यानी
 पूंजीपति। मजदूर न तो मासिक की सम्पत्ति होता है और न ही उसका साथ
 जीवन मर के लिए बैठा होता है बल्कि उसका दैनिक जीवन के घाठ-दस-बारह
 वा पण्य पण्य उम पूंजीपति की सम्पत्ति होते हैं जो उम्ह खरीब सता है। मजदूर

जिस पूंजीपति के हाथ अपने को किराने पर छड़ा देता है उसे वह जब चाहता है छोड़कर चल देता है और पूंजीपति भी जब चाहता है तब उसे जब्त दे देता है। जैसे ही वह देखता है कि मजदूर से उस कोई मुनाफ़ा नहीं हो रहा है या उतना मुनाफ़ा नहीं हो रहा है जितने की उसने भाषा की भी बैसे ही वह उसे निकाल बाहर करता है। लेकिन मजदूर का अपनी रोज़ी कमान का एक मात्र साधन अपनी श्रम-शक्ति को बेचना है। वह श्रम-शक्ति क खरीदारों के पूरे बर्ष को यानी पूंजीपति-बर्ष को नहीं छोड़ सकता। यदि वह पूरे बर्ष को छोड़ देगा तो उसे अपने जीवन से हाथ धोना पड़गा। मजदूर इस मा उस पूंजीपति की नहीं बल्कि पूरे पूंजीपति-वर्ग की सम्पत्ति होता है। इसके अलावा उसका रोज़गार ही यह होता है कि वह अपने को बेचे यानी पूंजीपति बर्ष के अन्दर अपने लिए कोई खरीदार तलाश करे।”

कीमतों का निर्धारण

पूँजीवादी समाज में वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण किस तरह और किस आधार पर हुआ है, इस सम्बन्ध में मार्क्स ने लिखा है—

‘किसी मास की कीमत कैसे निर्धारित होती है? खरीदारों और बेचनेवालों की प्रतियोगिता से मास की ख़रत और उसकी पूर्ति के सम्बन्ध से मान और पूर्ति के सम्बन्ध से। यह प्रतियोगिता जिससे मास की कीमत निर्धारित होती है, तीन तरह की होती है।

एक ही तरह के मास बहुत से लोग बेचना चाहते हैं। यदि सबका मास पूरा में एक-ठा है तो जो अपना मास सबसे सस्ता बेचेगा वह निरर्थक ही बाकी सबको मैदान से मगा देगा और उची का मास सबसे ज्यादा बिकेगा। इस प्रकार, बेचनेवालों में आपस में ज्यादा-से-ज्यादा मास बेचने और बाजार हथियाने की होड़ होती है। उनमें से हर एक बेचना चाहता है हर एक ज्यादा-से-ज्यादा बेचना चाहता है और हर एक कोशिश करता है कि यदि मुमकिन हो तो बड़ी परकता बेचे और दूसरा कोई न बेच पाये। अतः हर एक-दूसरे से सस्ता बेचने की कोशिश करता है। अतः बेचने वालों में प्रतियोगिता होती है, जिससे उनके वालों की कीमतों में किरावट आ जाती है।

लेकिन प्रतियोगिता खरीदारों के बीच भी होती है जिसका यह मतीका होता है कि मास की कीमतें बढ़ जाती हैं। अतः खरीदारों के बीच प्रतियोगिता होती है। खरीदार अतः-से-सस्ता खरीदना चाहते हैं और बेचने वालों में प्रतियोगिता होती है। खरीदार अतः-से-सस्ता खरीदना चाहते हैं और बेचने वालों में प्रतियोगिता होती है, जिससे उनके

है। खरीदने वालों की बेचने वालों के बीच बचने वाली इस प्रतियोगिता का परिणाम इस बात पर निर्भर करेगा कि प्रतियोगिता के दो स्वर्णों के बीच क्या सम्बन्ध है। यानी यह इस बात पर निर्भर करेगा कि खरीदारों के मन के धन्दर बनने वाली प्रतियोगिता क्यावा ठेक है या बेचने वालों के मन के धन्दर बनने वाली। उद्योग-मन्त्रे इन दो दलों को मैदान में एक-दूसरे के सामने लाकर खड़ा कर देने हैं। और उनमें से प्रत्येक दल के धन्दर भी एक-दूसरे के सामने खड़ा है, प्रत्येक दल के सिपाहियों के बीच भी लड़ाई जारी रखी है। जिस दल के सिपाही सबसे कम घायल म कटे-मरते हैं, वही विजयी दल पर विजय प्राप्त करता है।

‘माम नीमिए कि बाजार में बई की १ गाँठें हैं और घाय ही १ ०० गाँठों के खरीदार मौजूब हैं। यहाँ पूर्ति की अपेक्षा माँग बहुतनी क्यावा है। खरीदारों में प्रतियोगिता बहुत तेज होती। उनमें से हर एक गाँठ, और हो एक तो पूरी की-पूरी ही गाँठें खिजाना चाहेगा। यह उबाहरण मतगड़म नहीं है बई के व्यापार के इतिहास में हमें ऐसे कई मौकों का अनुभव हो चुका है जब कि व्यापार की फसल खराब हो गयी थी और जब खन्ध पूँजीपतियों ने व्यापार में सौठ-गाँठ करके ही गाँठों पर ही नहीं बल्कि दुनिया में बई के सारे स्टॉक पर कब्जा करने की कोशिश की थी। उपरोक्त उबाहरण में हर एक खरीदार दूसरे खरीदारों को मैदान से उखाड़ने के उद्देश्य से ही गाँठ क्यावा कीमत देने को कहेगा। बई बेचने वाले बेचने कि अनु-दल के सिपाही व्यापार में जोरों से मड़ रहे हैं और उनकी ही-ही-सी गाँठों का बिक जाना बिबकुल निश्चित है, तब वे इस बात की पूरी कोशिश करने कि कहीं उनमें भी व्यापार में उन न काम। बँसा होने पर हीक ऐसे समय में जबकि उनके विरोधी एक-दूसरे से मड़कर बई का काम बढ़ा रहे हैं उनका फूट बई के काम को नीच गिरा देगी। अब बेचने वालों को घेना में एकाएक सन्धि छा जाती है। वे एक-दूसरे की तरह खरीदारों के मुकाबले में बड़े हो जाते हैं और दार्शनिकों की तरह हाथ-पर-हाथ बाँध बैठे हैं। क्यावा से-क्यावा उल्लूक और परेशान-से-परेशान खरीदार भी एक-दूसरे से क्यावा काम नहीं वे सकता। यदि ऐसा न हो तो एसी परिस्थिति पैदा होने पर बेचने वालों की माँगों की कोई सीमा ही न रहे।

‘तात्पर्य यह कि यदि किसी माँग की पूर्ति उसकी माँग से कम है तो बेचने वालों के बीच बहुत कम प्रतियोगिता होती है या बिबकुल नहीं होती। जिस अनुपात में यह प्रतियोगिता कम होती है, उसी अनुपात में खरीदारों के बीच

प्रतियोगिता बढ़ जाती है। मतीजा यह होता है कि मास की कीमतें कमीबंद
काड़ी बढ़ जाती है।

कीमतों में ऊँच-नीच क्यों होता है ?

बस्तुओं की कीमती म ऊँच-नीच क्यों होता है ? इस सम्बन्ध म मार्स ने
लिखा है—

‘दामों के बढ़ने-बढ़ने का क्या मतलब है ? ऊँचे दामों और नीचे दामों का
क्या मतलब है ? एक लुबंकीन से देखिए तो रेत का कण भी ऊँचा दिखाई देता
है और एक पत्थर का मुकाबला कीजिए तो एक मीनार भी नीची मानलूम होती
है। यदि कीमत माँस और पूर्ति के सम्बन्ध स निर्धारित होती है तो माँस और
पूर्ति के इस सम्बन्ध को कौतसी चीज निर्धारित करती है ?

‘राह में जिस किसी पूँजीपति स भेट हो जाय उसी से पूछिए। वह एक
क्षण के लिए भी मही सोबेया बस्कि सिकन्दर महामु की तरह इस दार्शनिक
मुल्की को मूट स मुग्गा के पहाड़े से काटकर फेंक देगा। वह आपसे कहेगा म
जिस मास को बेचता हूँ यदि उसके उत्पादन मे १ मास खर्च हुए है और
यदि इस मास की बिन्नी स मुझे साल भर के धरमर ११० मार्क मिल जात है
तो वह एक बिमकुल सही न्यायोचित और ईमानदारी ना मुनाफ़ा होया। लेकिन
यदि मुझे बिगिमम में १२ या १३ मार्क मिल जात है तो वह ऊँचा मुनाफ़ा
होया और यदि ९ मार्क तक भिस मए तो वह बहुत ही घसाधारण और
बहुत ही ऊँचा मुनाफ़ा समझ जायगा। अतः प्रसन्न यह उठता है कि पूँजीपति
घपना मुनाफ़ा किस चीज स मापता है ? स्पष्ट है कि घपने मास के उत्पादन
के कारण स। यदि उस इस मास के बरम म दूसरे मास की ऐसी मात्रा मिलती
है जिसके उत्पादन म कम खर्च सगा है तो उसे मुकसान होता है। यदि घपने
मास क बरम म उसे दूसरे मास की ऐसी मात्रा मिलती है जिसक उत्पादन में
ख़ासा खर्च हुआ है तो उसे मुनाफ़ा होता है। वह घपने मुनाफ़ क बढ़ने या
बढ़न का हिसाब इनी घाघार पर सनाता है कि उसके मास का बिनिमय-मूल्य
इस मूल्य-बिन्नु से (मानी उत्पादन के खर्च स) कितना कम या ख़ासा है।

इस प्रकार हम यह देख चुके हैं कि पूर्ति और माँस के बरसत हुए सम्बन्ध
के कारण किम तरह दाम कमी बढ़ जाने हैं और कभी कम हो जाते हैं कभी
ऊँचे हो जाते हैं और कभी नीचे गिर जाते हैं। यदि पूर्ति के अपर्याप्त होने या
माँस के बहुत ख़ासा बढ़ जान क कारण किसी मास का दाम काको बढ़ जात

है तो आवश्यक है कि किसी और मास का दाम उसी धनुषात में गिर गया हो । कार्तु किसी भी मास का दाम युद्ध के क्षण में केवल यही बताता है कि उस मास के विनिमय में धन्य मास किसे धनुषात में मिल सकते हैं । उदाहरण के लिए यदि एक गज रेवमी कपड़े का दाम पाँच मार्क से बढ़कर छ मार्क हो जाता है तो इसका मतलब यह है कि रेवमी कपड़े के सम्बन्ध में चीनी का दाम गिर गया है और इसी तरह दूसरे के समान मास भी जिनके दाम पुराने स्तर पर ही हैं रेवमी के सम्बन्ध में घटते हो गए हैं । पहले रेवमी कपड़े के बदले में इन मार्का की जितनी मात्रा देनी पड़ती थी अब उतने ही रेवमी कपड़े के लिए पहले से ब्यादा मात्रा देनी पड़ती है । किसी मास का दाम बढ़ता जायना तो उसका क्या मतीबा होगा ? उद्योग मन्त्रों की इस फसली-धूसरी धाखा में बहुत-सी पूँजी खली घायेली और इस धाखा में पूँजी की बाढ़ उस समय तक जारी रहेगी जब तक कि यह धाखा फिर मामूली मुनाफ़ा न देने लगेगी या शायद यह कहना ब्यादा सही होया अब तक कि धाखा की संशकार का दाम अधिक उत्पादन के कारण उत्पादन के खर्च से भी कम न हो जाय ।

“इसके विपरीत यदि किसी मास का दाम उसके उत्पादन के खर्च से कम हो जाता है तो बसी दसा में उस मास के उत्पादन में पूँजी निकास भी जाती है । ऐसे किसी उद्योग की बात दूसरी है जो एकदम पुराना और बेकान हो गया हो और इसलिए बिसका नष्ट हो जाना सादिमी हो । लेकिन बाकी उद्योगों में से जब किसी मसे पूँजी निकामी जाने लगती है तो उसके कारण उस मास की पूर्ति घटने लगती है और उस समय तक पटती जाती है जब तक कि वह मास के स्तर पर नहीं आ जाती । उसके परिणामस्वरूप जब तक कि उस मास का दाम फिर उसके उत्पादन के खर्च के स्तर पर नहीं आ जाता या शायद यह कहना ब्यादा सही होया कि उस मास की पूर्ति उस समय तक घटती जाती है जब तक कि वह मास से भी कम नहीं हो जाती यानी जब तक कि उस मास का दाम फिर उत्पादन के खर्च से ब्यादा नहीं हो जाता । इसकी वजह यह है कि किसी भी मास का दाम दाम सदा उसके उत्पादन के खर्च से या तो ब्यादा होया है या कम होता है ।

हम देखते हैं कि पूँजी सदा एक उद्योग में निकलकर दूसरे उद्योग में घाती-जाती रहती है । दाम बढ़ जात है ता बहुत-सा पूँजी घरर खली घाती है के कम हो जात है ता बहुत-सी पूँजी बाहर खली जाती है ।

पूँजी

पूँजी की व्याख्या करत हुए मास्य न लिखा है—‘पूँजी में वह कच्चा

माल धम के ये धौड़ार धीर जीवन-निर्वाह के ये सभी प्रकार क मावन समित्त हैं जो नया कचना माल धम के नये धौड़ार तथा जीवन-निर्वाह के नये सापन पैदा करने के लिए इस्तेमाल होते हैं। पूंजी के ये सभी धर्म धम की सृष्टि हैं, ये मेहनत की उपज हैं ये संचित धम हैं। जब संचित धम का नये उत्पादन के साधन के रूप में उपयोग किया जाता है तब वह पूंजी कहलाता है। धर्म साधिका का कहला यही है। एक हथ्डी मुलाम क्या है ? कानी नस्त का एक धावनी। यह ध्याक्या मी बैसी ही है जैसी कि ऊपर की धर्म पूंजी की ध्याक्या है। हथ्डी हथ्डी होता है। केवल कुछ सम्बन्धों के कारण ही वह मुलाम बन जाता है। रई काठने की जेनी एक मछीन है जो रई काठने के काम घाती है, केवल कुछ धास सम्बन्धों के कारण ही वह पूंजी बन जाती है। जैसे सोना धपने में मुद्रा नहीं होता धीर धोनी कुछ धीनी का धाम नहीं होती बैसे ही इन धास प्रकार क सम्बन्धों से धलस कर देने पर रई काठने की जेनी मछीन भी पूंजी नहीं रहती।

'उत्पादन म मनुष्य न केवल प्रकृति के ऊपर धपना धसर धामते हैं ये एक-दूसरे की भी प्रभावित करते हैं। एक धास धंग से धापस म सहयोग करके धीर धपनी कार्यवाहियों का पारस्परिक विनिमय करके ही मनुष्य उत्पादन करते हैं। उत्पादन करने के लिए जन्हे एक-दूसरे के साथ धास धम के सम्बन्ध धीर रिश्ते कामम करने पड़ते हैं धीर केवल इन सामाजिक सम्बन्धों धीर रिश्तों के भीतर काम करते हुए ही ये प्रकृति पर धपना धसर धाम सकते हैं यानी उत्पादन कर सकते हैं।

'य सामाजिक सम्बन्ध जो पैदावार करने धास एक-दूसरे क साथ कायम करते हैं धीर ये परिस्थितियाँ जिनमें ये धपनी कार्यवाहियों का विनिमय करते हैं धीर उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में धाग सेते हैं उत्पादन के साधनों के स्वरूप के अनुसार स्वभावतः बदल जाती हैं। जब युद्ध के एक नये धस्तक का यानी बाकस से चलने बाधी बन्धुकों धीर ठोपों का धाधिकार हुआ तो सेना का युद्ध भीठपी सगठन धाधिमी तौर पर बदल गया। तब ये धमाम सम्बन्ध बदल गए, जिनक भीतर रहकर धलस-धलस ध्यवित्त सेना बन सकते हैं धीर सेना के रूप में काम कर सकते हैं, धीर तब धलस-धलस सेनाधों के धापसी सम्बन्ध भी बदल गये।

'इसी प्रकार, जब उत्पादन के धौष्ठिक साधनों का उत्पादन प्रकृतियों का परिवर्तन धीर धिकास होता है तो उसके साथ-साथ उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध:

भी बरम आते हैं यानी उसके छात्र-छात्र वे सामाजिक सम्बन्ध भी बरम आते हैं, जिनके भीतर रहकर धनम धनम व्यक्ति उत्पादन करते हैं। उत्पादन के सभी सम्बन्धों को एक साथ लिया जाय तो वे सामाजिक सम्बन्ध सबका समाज कहलाते हैं, और यदि उसको अधिक ठोस नाम दिया जाय तो वह ऐतिहासिक विकास की एक निश्चित अवस्था का समाज कहलाया है, जो एक सास व धधप इन का समाज होता है। प्राचीन समाज सामन्ती समाज पूँजीवादी समाज ये सब उत्पादन के सम्बन्धों के इसी प्रकार से जाड़ हैं। साथ ही इनमें से हर एक मानवता के इतिहास में विकास की एक खास अवस्था का सूचक है।

पूँजी भी उत्पादन का एक सामाजिक सम्बन्ध ही है। यह उत्पादन का पूँजीवादी सम्बन्ध है। यह पूँजीवादी समाज में पाया जाने वाला उत्पादन का सम्बन्ध है। क्या जीवन-निर्वाह के साधनों का धम के घोंचरों और कच्चे मांस प्राणि का यानी उन ठामम चीजों का जो पूँजी में शामिल हैं, संघम कुछ खास सामाजिक परिस्थितियों में व कुछ खास सामाजिक सम्बन्धों के भीतर ही नहीं होता ? नये उत्पादन के लिए इन सब चीजों का इस्तेमाल क्या कुछ खास सामाजिक परिस्थितियों में व कुछ खास सामाजिक सम्बन्धों के भीतर ही नहीं होता ? और क्या यह सच नहीं है कि केवल इस खास इन के सामाजिक स्वल्प के कारण ही नये उत्पादन के लिए इस्तेमाल होने वाली पैदावार पूँजी बन जाती है ?

पूँजी में केवल जीवन-निर्वाह के साधन धम के घोंचर और कच्चा मांस ही शामिल नहीं है, पूँजी में केवल भौतिक पैदावार ही शामिल नहीं है उसमें तरह-तरह के विनिमय-मूल्य भी शामिल हैं। पूँजी में जितनी भी चीजें शामिल हैं, वे सब बाजार में बिकने वाले मात होते हैं। इसलिये पूँजी केवल भौतिक पैदावार का ही थोड़ा (संघम) नहीं है, वह बिकाने वाली का जाड़ है, वह विनिमय मूल्यों का जाड़ है, वह सामाजिक परिणामों का जाड़ है।

पूँजी और मजदूरी का सम्बन्ध

पूँजी और मजदूरी के परस्पर सम्बन्धों के बारे में मार्क्स ने लिखा है —

मजदूरी और मुनाफ़ा एक-दूसरे के उस्ते धनुपाठ व बन्धे-बन्धव हैं। पूँजी का हिस्सा यानी मुनाफ़ा उसी धनुपाठ में बड़ जाता है जिस धनुपाठ में धम का हिस्सा यानी मजदूरी कम हो जाती है और पूँजी का हिस्सा उसी धनुपाठ में घट जाता है जिस धनुपाठ में धम का हिस्सा बड़ जाता है। जिस हक तक मजदूर घट जाता है उस हक तक मुनाफ़ा बड़ जाता है। जिस हक तक मजदूरी बड़ जाती

स हृद तक मुनाफ़ा घट जाता है।

'पूँजी के तेजी से बढ़ने का मतलब मुनाफ़े का तबही स बढ़ना है। मुनाफ़ा के बसत तेजी से बढ़ सकता है जब धन का बाम धर्पात् सापेक्ष मजूरी उची से घट रही हो। यह सम्भव है कि नफ़ मजूरी क साथ-साथ यानी मुनाफ़ में मेहनत के बामों के साथ-साथ धसली मजूरी भी बढ़ ययी हो मगर ऐस मजूरी फिर भी कम हो जाय क्यकि हो सकता है कि वह उस धनुपात में ही बढी हो जिस धनुपात में मुनाफ़ा बढ़ा है। उदाहरण के लिए, यदि गबसाव की धसली हामत के बिनों में मजूरी पाँच प्रतिशत बढ़ जाती है लेकिन मुनाफ़ा उन्ही दिनों तीस प्रतिशत बढ़ जाता है तो तुलनात्मक मजूरी (धनेक्ष मजूरी) बढ़ी नहीं है, बल्कि घट ययी है।

'इस प्रकार, यदि पूँजी के तेजी से बढ़ने के साथ ही मजदूर की धामरनी नहीं बढ़ी है तो इसका मतलब यह हुआ कि उसके साथ-साथ वह सामाजिक काई धीर यहरी हो गई है, जो मजदूर को पूँजीपति से धसय करती है। इसका मतलब यह हुआ कि धन पर पूँजी का प्रभुत्व धीर बढ़ यया है धीर धन पहले से भी धधिक पूँजी पर निर्भर रहने लगा है।

'यह कहा जाता है कि पूँजी के तेजी से बढ़ने में मजदूर का भी हित है, पर इसका मतलब तो केवल यह है कि मजदूर जितनी जल्दी-जल्दी धुसनों की बौलत को बढ़ायेगा उतने ही ज़्यादा टुकड़े उसके धामने फेंके जायेंगे उतने ही धधिक मजदूरों का नौकर रखा जायया मजदूरों की संख्या में उतनी ही बढ़ती हो जाएयी यानी पूँजी पर निर्भर रहने वाले मुकामों की ताबाब उतनी ही बढ़ा की जाएयी।

'इस प्रकार हमने देखा कि मजदूर बर्ग के लिए सबसे धधिक हितकारी परिस्थिति होने पर भी यानी पूँजी के ज़्यादा-से-ज़्यादा तेजी से बढ़ने की हासत में भी उससे मजदूर की धधिक बचा में लसे ही चाहे जितना मुधार हो जाय पर उसके हितों तथा पूँजपति बर्ग के हितों का उसके हितों धीर पूँजीपतियों के हितों का बिरोध नहीं मिटता। मुनाफ़ा धीर मजदूरी तब भी एक-दूसरे के उल्टे गुपात में ही बढते-बढ़ते हैं।

'यदि पूँजी तेजी से बढ़ रही हो तो मजदूरी भी बढ़ सकती है, लेकिन पूँजी का मुनाफ़ा उसकी धनेक्षा कहीं ज़्यादा तेजी से बढ़ता है। मजदूर की धधिक स्थिति कुछ मुधार जाती है, मगर वह उसकी सामाजिक स्थिति को धीर भी बिनाइ देती है। उसे पूँजीपति से धसय करने वाली सामाजिक काई धीर भी चौकी हो जाती है।'

अध्याय ६

वर्ग-संघर्ष

मार्क्स का कहना है कि समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है। हम किसी भी समाज को भी हम देखें कि उसके कुछ सदस्यों की अपेक्षाओं और अन्य सदस्यों की अपेक्षाओं में निरन्तर संघर्ष होता रहा है। सामाजिक जीवन असंतुलित ही बना हुआ है। एक ओर तो राष्ट्रों और समाजों के भीतर संघर्ष होता रहता है, दूसरी ओर राष्ट्रों और समाजों के बीच भी संघर्ष होता रहता है। कभी युद्ध होता है तो कभी शांति रहती है कोई दौर कान्ति का होता है तो कोई प्रतिश्रिया का। कभी समाज की प्रगति प्रबल होती है तो कभी वह तेजी से टरकती करता है या उसका ठेकी से पतन होता है। मार्क्सवादी का दावा है कि उसने उन नियमों को खोज निकाला है जिनके अनुसार समाज का प्रगति प्रबल प्रवृत्ति होती है। मार्क्स का कहना है कि वर्ग-संघर्ष के विचारों द्वारा ही समाज की उपर्युक्त विभिन्न स्थितियों को समझा जा सकता है। किन्तु भी समाज प्रबल समाजों के किसी भी विरोध के समस्त सदस्यों की अपेक्षाओं का अध्ययन करने पर ही हम उन अपेक्षाओं के परिणामों की वैज्ञानिक परिष्कार पहुँच सकते हैं। जहाँ में जो संघर्ष चलता रहता है और विभिन्न का कारण जो प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष विचारों में अपेक्षाएँ कर्त रहते हैं उसका उद्देश्य कारण उन वर्गों की प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष स्थिति और रहन-सहन का प्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष होता है। जब तक के समस्त समाज वर्गों में विभाजित रहे हैं इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है। प्रत्येक समाज में प्रायः वर्ग रहे हैं, जिनके बीच बराबर संघर्ष चलता रहा है। उनका कभी तो क्षिप्रा हुआ होता है और कभी प्रकट रूप में। इन वर्गों या तो यह हुआ है कि समाज का क्रान्तिकारी का वर्ग संघर्षरत वर्ग उभाह हो गये।

नये समाजों की उत्पत्ति के

मार्क्स के कथनानुसार प्रत्येक नये समाज की

संघर्ष के फलस्वरूप हुई है। सामन्तवासी समाज अपने वर्ग-संघर्ष के कारण तबाह हो गया और उसके शम्भुहूँ पर ही वर्तमान पूँजीवासी समाज का निर्माण हुआ। लेकिन इस पूँजीवासी समाज में भी ठीक वैसा ही वर्ग-संघर्ष मौजूद है जैसा कि सामन्तवासी समाज में था। अन्तर केवल यह है कि उसने नये वर्गों को स्थापना की है, घोपस और बमन के लिए 'नई परिस्थितियाँ' पैदा की हैं, और संघर्ष के पुराने स्वरूपों की जगह नये स्वरूप प्रदान किए हैं। इस पूँजीवासी दौर की एक विशेषता यह भी है कि उसने वर्ग-घर्षों को बहुत स्पष्ट बना दिया है। पुराना-पुरा समाज धीरे-धीरे दो विरोधी जेम्हों में विभाजित होता जा रहा है। एक जेमे का नेतृत्व पूँजीपति वर्ग करता है, और दूसरे का सर्वहारा वर्ग और ये दोनों ही वर्ग एक दूसरे के सामने जा खड़े हैं।

वर्तमान युग

फ्रांसीसी क्रांति के बाद से यूरोप के अनेक जेहो में वर्ग-संघर्ष अत्यन्त स्पष्ट रूप से सामने आया है। उसमें बह प्रच्छन्नता नहीं है जो पूर्वजर्ती समाजों के वर्ग-संघर्षों में थी। इसका परिष्कार यह हुआ है कि फ्रांस में क्रांति के बाद ऐसे कितने ही इतिहासज्ञ हुए, जिन्होंने यह स्वीकार किया कि वर्ग-संघर्ष के माध्यम से ही फ्रांसीसी इतिहास को समझा जा सकता है। जहाँ तक वर्तमान युग का सम्बन्ध है यह पूँजीवाद की पूर्ण विजय का युग है। इस युग की विशेषताएँ हैं—विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाएँ, बड़े पैमाने पर मताधिकार, अस्ते और सोशलिज्म वैदिक-वज इत्यादि। यह युग युगिणों का युग है जिसमें एक ओर तो मजदूरों के अस्तित्ववाली तथा निरन्तर बढ़ते खूने वाली युगिणें हैं और दूसरी ओर मालिकों आदि की युगिणें। अतः इस युग में वर्ग-संघर्ष को अत्यन्त स्पष्ट बना दिया है और यह वर्ग-संघर्ष ही बटनाघों का मूल कारण होता है।

सर्वहारा व मध्यम वर्ग

मासक का कहना है कि इस पूँजीवासी युग में पूँजीवासी वर्ग के विरोध में जितने भी वर्ग हैं उन सबमें केवल सर्वहारा वर्ग अर्थात् क्रांतिकारी वर्ग है। दूसरे सभी वर्गों का प्राकृतिक उत्तमों के विनाश के फलस्वरूप ह्रास हो रहा है और वे मुप्त होते जा रहे हैं। सर्वहारा वर्ग स्वयं पूँजीवासी समाज की उत्पत्ति है और पूँजीवासी समाज के अस्तित्व के लिए वर्ग का होना निताम्य आवश्यक है। निम्न-मध्यम वर्ग भी—जिसमें छोटे-छोटे निर्माता दुकानदार, कारीगर व

विस्मयकार तथा किस्साभ घादि घामिल हैं—पूँजीबाद के विच्छेद संघर्ष करत हैं । लेकिन इनके संघर्ष का उत्स्य यह होता है कि वे अपने को नेस्तनाबूद होने से बचा सके और मध्यम वर्ग के वर्ग के रूप में अपना अस्तित्व कायम रख सकें । अतः वे बल अक्रान्तिकारी न होकर धनुवार (कंडरवेटिव) होते हैं । केवल यही नहीं वे प्रतिक्रियाकारी होते हैं, क्योंकि वे इतिहास को पीछे से आग की कोधिया करते हैं । यदि इच्छुक से वे क्रान्तिकारी भूमिका घटा करने हैं तो इसकी बजह यह होती है कि वे अपने को सर्वहारा वर्ग में परिणत होने से बचाने की काधिया करते हैं । इस तरह वे अपने अदमान हितों के बजाय भावी हितों की रक्षा करते हैं ।

राजनीतिक संघर्ष

मार्क्स का यह भी कहना है कि प्रत्येक राजनीतिक संघर्ष वास्तव में वर्ग-संघर्ष होता है और उन्होंने अपने इस निष्कर्ष को प्रमुच्य करने के लिए विभिन्न राजनीतिक संघर्षों और उन संघर्षों में अंश की कई विभिन्न भूमिकाओं का विश्लेषण किया है ।

धर्मों की भूमिका

मार्क्स का कहना है कि धर्म घादि भी घोषक वर्गों के हित-स्थापन में सहायता पहुँचाते हैं, क्योंकि उनके हित घोषक वर्गों के हितों के साथ जुड़े हुए होते हैं । यही कारण है कि साम्यवाद के विरोध में समाजवाय पूँजीपति वर्ग का साथ देते हैं ।

पूँजीबाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मार्क्स का कहना है कि धार्मिक पूँजीबाद की उत्पत्ति उत्पादन और विनिमय के तरीकों में अक्रान्तिकारी विदास होने के फलस्वरूप हुई और पूँजीपति वर्ग में ऐतिहासिक दृष्टि से एक क्रान्तिकारी भूमिका घटा की है । उसमें साम्यवादी सम्बन्धों को समाप्त किया है । लेकिन इसके साथ-साथ अपने यह भी किया है कि धर्मों तक घोषसु पर धर्म और आमक राजनीतिक पारणार्यों का जो परबा पड़ा रहता था उसे अपने उठा दिया है । फलतः जिसे हुए रूप में होने वाले घोषण का स्थान नरम निर्जन्म प्रत्यक्ष और बर्बर घोषण ने ग्रहण कर लिया है । धर्मों तक जो वेदे सम्भालनक मान जात थे पूँजीपति वर्ग ने उनसे सम्मानपूर्वक स्थिति समाप्त कर दी है । डॉक्टर, कमीन पुरोहित कवि और वैज्ञानिक घादि धर्मों पवार लकर काम करने वाले मजदूरों को धेरी में घा घये हैं ।

पारिवारिक सम्बन्ध

मार्क्स ने यह दावा किया है कि पूँजीवाद ने पारिवारिक सम्बन्ध को भी बदल दिया है। पहले पारिवारिक सम्बन्ध मानवतात्मक होते थे लेकिन अब पारिवारिक सम्बन्ध महज पैसे का सम्बन्ध बन गये हैं। पूँजीवाद ने सम्पूर्ण विश्व का अपना बाजार बनाया है और उसके द्वारा होन वाले बिचब-बाजार के घोषण के फलस्वरूप प्रत्येक देश के उत्पादन घोर उपभोग में बहुराष्ट्रीय स्वयं को प्रहण कर लिया है। पुरानी शक्तियों का स्थान नहीं शक्तियों में प्रहण कर दिया है, बिनकी शासकशक्तियों की पूर्ति के लिए दूरदराज देशों में उत्पादित होने वाली वस्तुओं की जरूरत पड़ती है।

राष्ट्रों का उदय

पूँजीवाद के उदय के फलस्वरूप राष्ट्रीय धात्म-निर्मलता का स्थान राष्ट्रों की परस्पर निर्मलता ने ले लिया है। बौद्धिक क्षेत्र में भी यही हुआ है। पूँजीवाद ने बहाली क्षेत्रों को सहर्षों के अधीन कर दिया है और बड़े-बड़े सहर्षों की उत्पत्ति हुई है। जिस तरह अपने श्रामीय क्षेत्रों को सहर्षों पर प्राथित बना दिया है इसी तरह अपने प्रतिकलित देशों को सहर्षों पर प्राथित बना दिया है। अपने जनसख्या को सहर्षों में केन्द्रित कर दिया है और उत्पादन के साधनों तथा सम्पत्ति को कुछ मोर्चों के हाथों में केन्द्रित कर दिया है। इस फलस्वरूप राजनीतिक केन्द्रीकरण भी हुआ है। जो प्रवेस पहले एक-दूसरे से प्रसय-प्रसय से घोर बिनकी सरकार, कर-भ्यवस्था कानून घोर हित घादि प्रसय प्रसय से घोर दूधरे के साथ मिलकर राष्ट्र बन गये हैं। इन राष्ट्रों की अपनी-अपनी एक सरकार है उनके अपने-अपने कानून हैं, उनके एक राष्ट्रीय हित हैं और उनकी सीमाएँ समस्त पीढ़ियाँ मिसाकर भी न कर सकी थी।

पूँजीपति वर्ग कैसे शक्तिशाली बना ?

पूँजीपति वर्ग जिस तरह शक्तिशाली हुआ तथा शक्तिशाली बना इसका विरलपरण करते हुए मार्क्स ने कहा है कि पूँजीवाद ने उत्पादन घोर बिनियम के बिन साधनों पर अपनी शीब खड़ी की है उसकी उत्पत्ति सामन्तवादी समाज में ही हो गयी थी। इन साधनों के विकास के फलस्वरूप सम्पत्ति-सम्बन्ध (सामन्तवादी सम्बन्ध) उत्पादन-शक्तियों के अनुकूल नहीं रह गए और वे उत्पादन-शक्तियों के विरुद्ध न बाधक बन गए। नतीजा यह हुआ कि वे सम्बन्ध समाप्त कर दिये

वह और उनका स्वाम प्रतियोगिता ने ग्रहण किया और सामाजिक तथा राज नीतिक ढाँचा भी उसी के अनुकूल बना। पूँजीवादी वर्ग ने प्राथमिक और राजनीतिक विजय हासिल की। लेकिन मार्क्स का कहना है कि जिस प्रक्रिया ने सामन्तवादी व्यवस्था को समाप्त किया था उसी तरह की प्रक्रिया अब पूँजीवादी समाज में देखी जा सकती है। सम्पत्ति-सम्बन्ध (पूँजीवादी सम्बन्ध) प्राकृतिक उत्पादन शक्तियों के अनुकूल नहीं रह गए हैं जिसके फलस्वरूप प्राथमिक उत्पादन-शक्तियों द्वारा सम्पत्ति-सम्बन्धों के विरुद्ध विद्रोह किए जाते रहे हैं। पूँजीवाद को समय समय पर संकटों का सामना करना पड़ता है। एक ओर तो उत्पादन के अधिक हो जाने के कारण उत्पादित वस्तुओं को मल्ट करना पड़ता है और दूसरी ओर नये बाजारों की खोज करनी पड़ती है। मार्क्स ने प्रविष्ट्यवादी की है कि इस तरह से बँधावा बड़े और क्या बिनापाकारी संकटों के लिए रास्ता साफ करते हैं। जिन वस्तुओं द्वारा पूँजीवाद ने सामन्तवाद को पराजित किया था वे ही वस्तु अब उसके खिलाफ उठ खड़े हुए हैं। अपनी मूल साने बाते इन वस्तुओं की उत्पत्ति स्वयं पूँजीवाद ने की है। इसके लिए उसने ही उस बर्ग की—सर्वहारा बर्ग की—उत्पत्ति की है जो इन वस्तुओं को उसके विरुद्ध प्रयुक्त करेगा। जिस अनुपात में पूँजीपतियों की पूँजी बढ़ रही है, उसी अनुपात में मजदूरों की संख्या बढ़ रही है। ये मजदूर तभी तक जीवित रहे सकते हैं जब तक उन्हें काम मिलता रहे और उन्हें काम तभी तक मिल सकता है, जब तक उनका श्रम पूँजी में बढ़ोतरी कर सके। ये श्रमिक एक प्रकार के जिनस बम गए हैं जो अपनी श्रम-शक्ति को बेचा करते हैं। फलतः अन्य जिनसों की भाँति उन पर भी बाजार के उतार पड़ाव और प्रतिद्वन्द्विता का असर पड़ता है।

मजदूरों की स्थिति

बर्गों के प्राथमिक प्रयोग तथा श्रम-विभाजन के कारण श्रमिकों के कार्य को वैयक्तिक विधिष्ठताएँ समाप्त हो गयीं हैं और उन्हें काम में कोई विश्वस्वी नहीं रह गई है। मजदूर स्वयं भी मशीन का एक पुर्जा-मान बन गया है। उद्योगी मजदूरी में बराबर कमी हुई है, उस पर काय का बोझ बराबर बढ़ा है। साथ ही निम्न-मध्यम बर्ग के लोग धीरे धीरे तथाह होते और सर्वहारा बर्ग में शामिल होत जा रहे हैं। अब सर्वहारा बर्ग में समाज के सभी वर्गों के लोग शामिल हुए हैं।

सर्वहारा बर्ष का विकास

मानव का कहना है कि सर्वहारा बर्ष विभ्रस की विभिन्न मंडियों से बुझता है। जन्म-कास से ही पूंजीपति बर्ष से उसका समर्पण शुरू हो जाता है। शुरू में मजदूर इसके-दुकने ही झाड़ा करते हैं, तब एक कारखाने के मजदूर मिलकर, फिर घर-घर मर के किसी एक उद्योग के सब मजदूर एक साथ उस पूंजीपति से मोर्चा लेते हैं जो उनका सीधे-सीधे खोपण करता है। उनका हमला उत्पादन की पूंजीवादी परिस्थितियों के खिलाफ नहीं होता बल्कि बुद्ध उत्पादन के धोखारों के खिलाफ होता है। वे अपनी देहगत के साथ होड़ करन वाले विदेशों से मंत्राए गए मालों को नष्ट कर देते हैं, मशीनों को दुकने-दुकने कर देते हैं, फँसटारियों में घाम स्या देते हैं और मध्य-युग के कारीगर की छोई हुई ईसियत को फिर से कायम करने की वे बसपूर्वक कोसिस करते हैं।

मजदूरों के संघर्ष के प्रारम्भिक स्वरूप के सम्बन्ध में मार्क्स ने कहा है कि कुछ-कुछ में मजदूरों में एकता नहीं होती बल्कि-नर म वे इतर-उपर प्रलय-प्रलय बिखरे रहते हैं और धारणी होड़ के कारण वे प्रलय-प्रलय टुकड़ों में बँडे रहते हैं। धपर कइो वे बोड़े-बहुत समठिठ हाठ भी हैं, तो उसका कारण उनकी अपनी सक्रिय पूनियन नहीं बल्कि पूंजीपतियों की पूनियन होती है। पूंजीपति बन को स्वयं अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पूरे मजदूर-बर्ष की क्रियाशील करना पड़ता है और ऐसा करन में वह कुछ समय के लिए, अपनी तक सफल भी होता रहा है। इसलिये इस प्रवस्था में सर्वहारा बर्ष के लोक अपने धनुर्धों से नहीं लड़ते बल्कि वे अपने धनुर्धों के धनुर्धों से (निरंकुश राजतन्त्र के धरधेधों सामन्तों वीर-धौधौपिक पूंजीपतियों मध्यम बर्ष के लोकों से) लड़ते हैं। इस प्रकार, इस समय की सम्पूर्ण ऐतिहासिक प्रवृत्ति के कर्त-वर्तरी पूंजीपति होते हैं। इस तरह हासिल की गई हर भीत पूंजीपति की भीत होती है।

लेकिन मार्क्स का कहना है कि उद्योग-धर्मों के विकास के साथ-साथ सर्वहारा बर्ष की संख्या में ही वृद्धि नहीं होती बल्कि घाटी संख्या में बबल-बबल उसका बयान हो जाता है, उसकी ताकत बढ़ जाती है और उसे अपनी इस ताकत का ध्विकारिक प्रहारा होने सकता है। मशीनों का उपयोग ज्यों-ज्यों धम के समान धेधों को मिटाता जाता है, ज्यों-ज्यों मजदूरों के समान हित और जीवन की परिस्थितियाँ भी एक-बैसी ही होती जाती हैं और उनकी मजदूरी भी घटकर समान सब बयह धाम एक समान हो जाती है। पूंजीपति बर्ष की बढ़ती हुई धारणी होड़ और उधसे पैदा होने वाले ध्यापारिक संघटनों के कारण मजदूरों

की मजदूरी की दर घीर भी प्रतिनिश्च हो जाती है। मशीनों का निरन्तर घीर बिन-बूना रात-बोमुना होवा हुमा विकास मजदूरों की जीविक को अधिकधिक खतरे में डालता जाता है। मजदूरों घीर पूँजीपतियों की प्रलय-प्रलय टक्करे दिनों-दिन हो बनों के बीच की टक्करों का रूप धारण करती जाती है। तब पूँजी-पतियों का मुकाबला करने के लिए मजदूर अपने संघ (ट्रेड यूनियनों) बनाने लगते हैं, मजदूरी की दर को कायम रखने के लिए वे संगठित होते हैं समय समय पर होने वाले इन विद्रोहों के लिए पहले से तैयार रहने के बाले वे स्थायी संस्थाओं की स्थापना करते हैं घीर जहाँ-तहाँ उनकी सहाई बलों का रूप भी धारण कर लेती है।

मजदूरों की ताकत प्रत्यक्षता किस तरह बढ़ती है, इस सम्बन्ध में मार्स ने कहा है कि यद्यपि जब-तब मजदूरों की जीत भी हो जाती है लेकिन ये जीतें केवल क्षणिक होती हैं। उनकी सहाइयों का प्रसंगी फल तात्कालिक सफलता के रूप में नहीं मिलता बल्कि मजदूरों की निरन्तर बढ़ती हुई एकता के रूप में मिलता है। प्राथमिक उद्योग-धर्मों द्वारा उन्नत किसे मए वातावात के साधनों से जो प्रलय-प्रलय बयहों के मजदूरों को एक-दूसरे के सम्पर्क में ला देते हैं एकता-स्थापन में मदद मिलती है। एक ही तरह के प्रत्येक स्थानीय संघों को मिलाकर उन्हें राष्ट्रीय संघर्ष का रूप देने के लिए ठीक इसी प्रकार के सम्पर्क की बरकत थी। लेकिन प्रत्येक वर्ग-संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष होता है घीर मध्य-युग के व्यापारियों को तात्कालीन रही सहाइयों-रास्तों के कारण जिस एकता को हासिल करने के लिए संघियों की बरकत पड़ी थी उसी को रेशों की कृपा से प्राथमिक मजदूर कुछ ही बयों में हासिल कर लेते हैं।

मजदूरों के संगठन

मजदूरों के संघटन के सम्बन्ध में मार्स का कहना है कि मजदूरों का यह संघटन स्वयं मजदूरों की प्रापती होइ के कारण बराबर दृढ़ता-विषकता रहता है। लेकिन हर बार यह फिर उठ लड़ा होता है पहले से भी अधिक मजदूर दृढ़ घीर अस्विच्छापी होकर। जब पूँजीपति वर्ग की नीतरी क्रमह का प्रयत्न उठकर यह मजदूरों के विशेष अधिकारों को कानूनी रूप से मनवा जाता है। इंग्लैण्ड में बस बन्दे के दिन का कानून इसी तरह पास हुमा था। पूँजीवादी समाज के भीतर होने वाले विभिन्न संघर्षों से मजदूर वर्ग को किस तरह लाभ पहुँचता है, इस सम्बन्ध में मार्स ने कहा है कि पुराने समाज के विभिन्न बयों की टक्करें कुल मिलाकर मजदूर वर्ग के विकास को प्रत्येक रूपों में बरह पहुँचाती

है। पूंजीपति वर्ग बराबर अपने को किसी-न-किसी सजाई में फँसा हुआ पाता है, पहले सामन्ती प्रभुत्व-उभय के साथ फिर कुछ पूंजीपति वर्ग के उन वर्गों के साथ जिनके हित उद्योग-मन्त्रों की प्रवृत्ति के विरोधी हो गए हों और विरोधी पूंजी-पतियों के साथ तो सदा ही। इन उभय सजाइयों के समय उद्ये मजदूर वर्ग से प्रतीति करने के लिए, उसको मजदूर मान्य के लिए, और इस प्रकार उद्ये राजनीतिक प्रवृत्ति में जीवित होने के लिए मजदूर होना पड़ता है। यह मजदूरों को राजनीतिक तथा दूसरी सामान्य शिक्षा देने का काम पूंजीपति वर्ग कुछ करता है। परन्तु मजदूर वर्ग को अपने विचारों के हथियारों से वह स्वयं ही लैस करता है।

मार्क्स का यह भी कहना है कि उद्योग-मन्त्रों की उन्नति के कारण साक्षर-पणों का फैलना ही उद्ये मजदूरों की अपनी मजदूर बनने का एक-मात्र कारण है या कम-से-कम उनकी जीविका के लिए सहायक हो जाता है। वे साथ ही मजदूरों के बीच शिक्षा का प्रकाश फैलाकर उनकी प्रवृत्ति में मजदूर बने हैं।

मार्क्स का कहना है कि उपर्युक्त कारणों से धन में जब वर्ग-सर्वप बढ़ता-बढ़ता निर्यातक बनी परपार्थक्य जाता है तो साक्षर वर्ग ही नहीं सम्पूर्ण पुराने समाज के धन-दूट-भूट की प्रवृत्ति इतनी उद्ये और सशक्त रूप धारण कर लेती है कि स्वयं साक्षर वर्ग का एक छोटा हिस्सा उद्ये धन होकर क्रान्तिकारी वर्ग के साथ (उद्ये वर्ग के साथ जिसके साथ में भविष्य की मजदूर है) या मिलता है। यह जिस तरह पहले के एक युग में समाजों का एक भाग दूटकर पूंजीपति वर्ग से या मिला या उसी तरह अब पूंजीपति वर्ग का एक वर्ग और साथ ही से पूंजीपति विचारकों का एक वर्ग मजदूर वर्ग से धारण मिल जाता है। पूंजी-पति विचारकों का यह वर्ग वह होता है जिसने समाज की पूरी ऐतिहासिक प्रवृत्ति को वैज्ञानिक रूप से समझ लिया हो।

पूंजीपति वर्ग के विचारों का यह विचार भी यह है कि उन उद्ये वास्तव में क्रान्तिकारी वर्ग केवल मजदूर वर्ग है। इनके वर्ग प्राकृतिक उद्ये-मन्त्रों की प्रवृत्ति में धारण मजदूर हो जाते हैं और साथ में उनका साथ हो जाता है।

विद्ये-मन्त्र वर्ग के लोग—छोटे कारखानेदार, व्यापार, बस्तकार व शिक्षा—अपनी मध्यवर्गीय हस्ती को बनाए रखने के लिए पूंजीपति वर्ग से सहाय लेते हैं। इसलिए क्रान्तिकारी न हाकर वे क्रांतिकारी होते हैं। इसका ही नहीं वे प्रवृत्ति क्रान्तिकारी होते हैं क्योंकि वे इतिहास के चक्रों की प्रवृत्ति की धारण करने की क्षमता करते हैं। मजदूर वर्ग से वे कभी क्रान्तिकारी हस्त भी हैं तो किन्तु इसलिए कि

के देखते हैं कि बहुत जल्दी के भी मजदूरों की झुंठी में पहुँच जायेंगे। इस प्रकार के अपने वर्तमान हितों की नहीं बल्कि अपने भावी स्वार्थों की रक्षा करते हैं। अपने दृष्टिकोण को विचारवृत्ति लेकर वे मजदूर वर्ग के दृष्टिकोण को अपना लेते हैं।

मार्क्स का कहना है कि धान तक जितने बरों के हाथ में ताकत आई है उन सबने अपनी ताकत को बनाये रखने के लिए पूरे समाज को घोपण की लकड़ी में पीसने की कोशिश की है। अपने घोपण की पद्धति को धीरे उसके साथ साथ सभी पुढानी घोपण-पद्धतियों को जड़-मूस से उखाड़े बिना मजदूर वर्ग समाज की उत्पादन-शक्तियों का स्वामी नहीं बन सकता।

वर्ग-संघर्ष का ऐतिहासिक विस्फेपण धीरे पूँजीवादी समाज के वर्ग-संघर्ष का विमल करके मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मजदूरों का संघर्ष एक विशेष प्रबन्ध में पहुँचकर ज़मीन ज़रमि का रूप धारण कर लेता है और पूँजीपति वर्ग को बलपूर्वक उखाड़ फेंकता है तथा मजदूरों की हज़ूमत की तीव्र बात देता है।

मार्क्स की भविष्यवाणी

मार्क्स का कहना है कि पूँजीपति वर्ग के जीवन और शासन के लिए यह निराला आवश्यक है कि पूँजी बने धीरे बिनो-बिन बढ़ती जाय। पूँजी के लिए मजदूरों की मजूरी आवश्यक है। मजदूरों की मजूरी का मिलना पूर्णतया मजदूरों की आपसी होड़ पर निर्भर करता है। पूँजीपति वर्ग न चाहते हुए भी उद्योग-धर्मों की उन्नति करता है। इससे आपसी होड़ के कारण उत्पन्न हुआ मजदूरों का विद्रोह खत्म हो जाता है और उसके स्थान पर एकता के ऊपर आपाठित लक्ष्य क्रान्तिकारी समर्थन पैदा हो जाता है। इस तरह प्राकृतिक उद्योग-धर्मों का विकास पूँजीपति वर्ग के पैरों के नीचे से उस ज़मीन को ही लिसका देता है जिसके आधार पर वह उत्पादन धीरे घोपण करता है। इसलिए, पूँजीपति वर्ग जो सबसे बड़ा शीश पैदा करता है वह है उन लोगों का वर्ग जो खुद उद्योग की कड़ खोद जाते हैं। उसका खारमा धीरे मजदूर वर्ग की जीत लोगों से समान रूप से भविष्य है।

अध्याय ६ समाजवाद

मार्क्स का कहना है कि जिस तरह सामन्तवादी व्यवस्था ने पूँजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया ठीक उसी तरह पूँजीवादी व्यवस्था के स्वान पर समाजवादी व्यवस्था का कायम होना अवश्यमान्मावी है। इस नई व्यवस्था का जन्म पूँजीवादी वर्ग और मजदूर वर्ग के संघर्ष के फलस्वरूप होगा। मजदूर वर्ग के नेतृत्व में हुए सभी महान्तरकालीन पूँजीवादियों के हाथ से सत्ता छीनकर उत्पादन के साधनों को पूरे समाज की भित्तिभूत बना देंगे। यही व्यवस्था समाजवाद होगी। उसमें सभी लोगों को उनके काम से अनुसार वेतन मिलेगा। पर उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत अधिकार न होने के कारण न कोई शोषण होगा और न कोई शोषित। इस सामाजिक व्यवस्था में अल्प-अल्प वर्ग नहीं होंगे। कारखानों का प्रबन्ध मजदूरों के सत्रिय सहयोग से राज्य द्वारा हुपा करेगा और समाज की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व सरकार पर होगा।

साम्यवाद

मार्क्स का कहना है कि बाद में यही समाजवादी समाज विकसित होकर एक ऐसी व्यवस्था में पहुँचिगा जिसे साम्यवाद कहते हैं। समाजवाद में तो लोगों को वेतन उनके काम के अनुसार दिया जायगा लेकिन साम्यवाद में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार वेतन दिया जायगा। यह इसलिए सम्भव हो सकेगा कि उत्पादन-शक्तियाँ इतनी विकसित हो चुकी होंगी कि कारखानों धारि की उत्पादन-क्षमता इतनी ज्यादा हो चुकी होगी कि प्रत्येक व्यक्ति को बहुत बड़ी बेर काम करना पड़ा करेगा और उत्पादन इतना अधिक हुपा करेगा कि वह जरूरत से बहुत ज्यादा होमा। पर उस समाज में सबकी आवश्यकताएँ पूरी की जा सकेंगी।

समाजवाद व साम्यवाद का अन्तर

समाजवाद और साम्यवाद में एक अन्तर यह भी होमा कि समाजवाद में ही राज्य की सत्ता यानी सरकार का अस्तित्व रहेगा। धार्मिक और सामाजिक

जीवन का संभारण न दियमान उसी के द्वारा हुआ करेगा। पर जब समाज साम्य-वादी प्रवस्था में पहुँचिया तब राज्य-सत्ता प्रथम सरकार का सोप हो चुका होगा। यह समाज अपना नियमन स्वयं करेगा। यह समाज की ऐसी विकसित प्रवस्था होगी जब किसी को भी किसी भी-ज का धमका नहीं होगा और न तो पुसिध या धेना की आवश्यकता रह जायेगी और न म्यायासय भादि की।

सामाजिक विकास की प्रमुख प्रवस्थाएँ

भावी समाज की इस मार्क्सवादी परिष्कणता तथा उसकी ऐतिहासिक प्रवस्य-म्भाकता के सम्बन्ध में मार्क्स के सहयोगी फ्रेडरिक एंगेल्स ने विषय रूप से लिखा है। सामाजिक विकास का विवरण करते हुए उन्होंने लिखा कि समाज को निम्न-लिखित प्रमुख प्रवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा है—

१. मध्यकालीन समाज—उत्पादन तथा बँयकितक का और छोटे पैमाने पर होता था। उत्पादन के साधन व्यक्तिगत इस्तेमाल के लिये बने थे। इसलिये वे बाबा भावम के बमाने के थे नहूँ वे हलके थे और उपयोगिता में क्षुद्र थे। उत्पादन उत्पादक या सामग्री प्रभु के तात्कालिक उपयोग के लिये होता था। प्रथम कहीं इससे अधिक पीर्ये उत्पन्न हुई तो उन्हें बिक्री के लिये लाया जाता था और उनका बनिमय होता था। मास का उत्पादन मारम्भिक प्रवस्था में था किन्तु सामा-जिक उत्पादन में पराजकता बीज रूप में इसमें बिद्यमान थी।

२. पूँजीवादी जगति—उद्योग-जगती में भारी परिवर्तन हो गया पहले मिस-जुसकर प्रबन्धि सहयोगपूर्वक काम करने से और तब कारखानों के ज़ुमने से। उत्पादन के साधन अब तक बिखरे हुए थे। अब उन्हें बड़े-बड़े कारखानों में एकत्र कर दिया गया। फलस्वरूप इन साधनों के स्वल्प में भी परिवर्तन हुआ। वे बँयकितक से सामाजिक बन गये। किन्तु बिनिमय की प्रणाली पर इसका प्रसर प्रायः नहीं के बराबर था। स्वामित्व और बितरण की पुरानी पद्धति ज्यों-की-स्त्यों बनी रही। पूँजीपति का उदय हुआ। उत्पादन के साधनों का स्वामी होने के कारण पूँजीपति उत्पादित वस्तुओं का भी स्वामी बन गया और इस प्रकार उसने उन वस्तुओं को मास में परिवर्तित कर दिया। उत्पादन सामाजिक बन गया था किन्तु बिनिमय और उसके साथ बितरण तथा स्वामित्व बँयकितक ही बने रहे। सामाजिक पैदावार को बँयकितक पूँजीपति ने हथिया लिया। वर्तमान समाज के मूल में यह भारी प्रसंगति पैदा हो गयी। इस एक से ही न सारी प्रसंगतियाँ उत्पन्न हुई जिन्हसे वर्तमान समाज बनकड़ गया है। प्राथमिक उद्योग-जगती

सम्झे उभार देते हैं। वे घसपतियाँ ये हैं—

- (क) उत्पादन के सामन उत्पादकों के हाथ से चीन सिय गए हैं। मजदूरों को प्राचीन मजूरी करने के लिए मजदूर कर दिया गया है। इसलिए पूँजीवादियों और मजदूरों में परस्पर विरोध उत्पन्न हो गया है।
- (ख) माल-उत्पादन के नियमों का भंग बढ़ता जाता है अतएव वे अधिक शक्तिशाली बन रहे हैं। प्रतियोगिता का बाजार यम है। घसप घसप कारखानों का संबन्ध तो सामाजिक हंग पर किया गया है किन्तु उत्पादन के पूरे क्षेत्र में व्यापक अराजकता छापी है। इसलिए शान्ति के बीच विरोध उत्पन्न हो गया है।
- (ग) प्रतियोगिता पूँजीपतियों को दो बाधा के लिए बाध्य करती है। एक ओर तो मशीनों का सुधार करना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। फलस्वरूप नयी-नयी मशीनें मजदूरों की अधिकारिक संघर्ष का स्थान छीन लेती हैं। बिना बंधन मजदूरों की शोचनीय शोच जाती है। दूसरी ओर उत्पादन का निरन्तर विकास और विस्तार करना भी पूँजीपतियों के लिए निरन्तर व्यापक और अनिवार्य बन जाता है। शान्ति ही परिणामों के फलस्वरूप उत्पादन-शक्तियों का अभूतपूर्व विकास होता है। जितने की माँग होती है उतने अधिक शीघ्र पैदा होने लगती है। बहु-उत्पादन का राग फँसता है। बाजारों में माल ठसाठस भर जाता है। हर बसनें शान्तिपूर्ण संकट आता है। शान्ति समाज शोच और मशीनें के भंग में बचकर काटने लगता है। कहीं उत्पादन के साधनों और उत्पादित वस्तुओं की अधिकता शोच पड़ती है, कहीं जीविका के साधनों से रिक्त बंधन मजदूरों की। किन्तु सामाजिक समृद्धि और इन शक्तियों की इतनी अधिकता होने पर भी वे काम में नहीं लायी जाती। पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली उन्हें कार्यशील शोच से रोकती है। शोच पुष्टि तो उनकी अधिकता ही उत्पादन-शक्तियों और उत्पादित वस्तुओं के बंधन रहने का कारण बन जाती है। पूँजीवादी समाज में कोई भी उत्पादन-शक्ति तब तक काम में नहीं लायी जा सकती कोई भी उत्पादित वस्तु तब तक बिक्री के लिये नहीं रखी जा सकती जब तक कि पहले वह पूँजी का रूप नहीं धारण कर लेती। बहुमत के बीच दुर्लभता की वह अंतर्गत अर्थ इतनी बढ़ गयी है कि उसमें हास्यास्पद और मुक्ततापूर्ण रूप

पारस्य कर दिया है। उत्पादन की प्रणाली विनिमय-व्यवस्था के विनाशक सिद्धोह कर रही है। पूँजीवादी इतने प्रयोग्य हो गये हैं कि अपनी सामाजिक उत्पादन-शक्तियाँ का प्रबन्ध नहीं कर पाते।

- (ब) उत्पादन-शक्तियों का सामाजिक स्वरूप को कुछ संघों में स्वीकार करने के लिए पूँजीपतियों को भी बाध्य होना पड़ा है। उत्पादन और मातायात की बड़ी-बड़ी संस्थाओं का लिमिटेड कम्पनियों तथा ट्रस्टों के धीरे-धीरे राज्यो के अधिकार में आ जाना इसका प्रमाण है। पूँजीवादी वर्ग ने अपने को निरुन्मा प्रमास्थित कर दिया है। उसके सभी सामाजिक कर्तव्य अब बेतनभोगी कर्मचारियों द्वारा पूरे किए जाते हैं।

१ सर्वहारा क्रांति—उपरोक्त प्रसंगति को मिटाने का केवल एक मार्ग है—सर्वहारा वर्ग राजसत्ता पर अधिकार कर ले। इस सत्ता के सहारे उत्पादन के साधनों को पूँजीवादियों के दुर्बल हाथों से छीनकर वह उन्हें सामाजिक सम्पत्ति बना दे। इस कार्य द्वारा उत्पादन के साधनों को पूँजी के बंधनों से बंध मुक्त कर दिया और अपने सामाजिक स्वरूप की प्रतिष्ठा करने का उन्हें (उत्पादन के साधनों को) मुहबसर होगा। उस अवस्था में समाज का उत्पादन पहले से बनी योजना के अनुसार हो सकेगा। उत्पादन का विकास हो भान से समाज में विभिन्न वर्गों का अस्तित्व अनावश्यक और निरर्थक बन जायगा। जैसे-जैसे सामाजिक उत्पादन के अन्त में प्रजायकता दूर होती जायगी वैसे-ही-वैसे राज्य के राजनीतिक अधिकारों का भी अन्त होता जायगा। मनुष्य अपने सामाजिक संगठन का स्वामी बन जाएगा। अतः वह प्रकृति का धीरे-धीरे-धीरे अपना भी स्वामी बनेगा। इतिहास में पहली बार मनुष्य पूर्णतः स्वतन्त्र होगा।

सामन्तवाद से पूँजीवाद

पारस्य एनेस ने अपनी पुस्तक 'सामन्तवाद' का 'राजनीतिक और वैज्ञानिक' में लिखा है कि मानव उत्पत्ति की या प्रणाली मध्य-युग में विकसित हुई थी उसमें यह प्रसन्न ही नहीं उठ सकया था कि यम की पदावार का मासिक वजन हो। हर चीज को पैदा करने वाला कोई-न-कोई व्यक्ति था जो वैयक्तिक रूप से काम करता था। कच्चे मांस का वही मासिक था या कभी-कभी कच्चे मांस को भी वह स्वयं ही पैदा कर लेता था। धर्म के धीरे-धीरे उसके अपने वे धीरे-धीरे-धीरे धर्म भी उसका ही या उसके परिवार के सोया का था। इस तरह से

सबहारा वर्ग की भूमिका

के अधिकाधिक भाग को सबहारा की स्थिति में साकर पूंजीवादी
 खाती ने ही बहु सक्ति उत्पन्न कर ही है जो अपने प्रतिस्व की रक्षा
 अथवा पय प्रपनाते पर बाध्य हो गयी है। सामाजिक स्वल्प बाधे
 उत्पादन-साधनों का राजकीय सम्पत्ति में परिवर्तित करके बहु लुभ इस
 को पूरा करने का रास्ता दिखाती है। सबहारा वर्ग राजसत्ता पर
करता है और सबसे पहले उत्पादन के साधनों को राजकीय सम्पत्ति
बनाता है। किन्तु इससे सबहारा वर्ग भी सबहारा के रूप में अपना प्रत्य
य का भी राज्य के रूप में अस्त कर जाता है। जब तक का समाज श्रेणी
पर आधारित था। परन्तु उस राज्य की प्राबल्यता की, अर्थात्
युग के शोषक वर्ग को एक ऐस संगठन की प्राबल्यता थी जो उत्पादीन
प्रणाली के लिए प्राबल्यक बाह्य स्थितियों को रक्षा कर सके अर्थात्
शोषित वर्ग को उस युग की उत्पादन प्रणाली के लिए प्राबल्यक उत्पीड़न
प्रबल्यता में बाधता या मजूरी की प्रबल्यता में बलपूर्वक बनाये रखे। राज्य
समाज का अधिकारी प्रतिनिधि उसका साकार रूप माना जाता था।
अतः इस प्राबल्य को राज्य केवल तभी प्राप्त कर सका था जब बहु ऐसे वर्ग
संगठन या जो स्वयं उस युग के पूरे समाज का प्रतिनिधित्व कर रहा था।
प्राचीन युग में बाध रहने वाले नागरिकों का राज्य मध्य युग के सामन्ती
शक्तियों का राज्य और प्राबल्य के पूंजीवाधियों का राज्य कुछ काल के लिए
ऐसा ही था। किन्तु अधिष्ण में जब राज्य पूरे समाज का सचमुच प्रतिनिधि बन
के कारण प्राबल्य अस्तित्व कीजाने में सफल हो जाता था फिर समाज के भीतर सत्ता
संघर्ष और वर्गीय घाघण का प्रत्य हो जाता था फिर समाज के भीतर सत्ता
संघर्षों और अराजकता के लिए भी कोई जगह न रह जाती। जब ऐसा हो
जाया, जब समाज में ऐसा वर्ग ही नहीं रहेगा जिसे हबाकर रखना प्राबल्यक
हो, तब राज्य-संरिक् विप्री विरोध दमन-बुज की भी प्राबल्यता न होती, क्योंकि
पूरे समाज के प्रतिनिधि के रूप में राज्य सचमुच तभी प्रमट होता जब कि सारे
समाज के नाम पर बहु उत्पादन के साधनों पर अधिकार कर स। किन्तु राज्य
का यह प्रथम सर्व-हितीय कार्य उसका अन्तिम कार्य है। इसके बाद सामाजिक
सम्बन्धों में एक के बाद एक भव से राजकीय हस्तक्षेप की प्राबल्यता घट

मयी और मूल में हस्तक्षेप ही बन्द हो जायगा। व्यक्तियों पर सामन के
मान पर वस्तुओं पर ध्यान होने समया और सामन-काय उत्पादन-क्रियाओं
 का संचालन करना हो जायगा। राज्य को भंग नहीं किया जायगा, उसका मोन
जायगा। स्वाधीन जनराज्य का नारा नयाया जाता है। मानवोन्नत के
 लिए इस नारे के घोषित्य को जानना तथा मन्तव्योपस्था उसकी वैज्ञानिक
 पर्याप्तता को दिखाना आवश्यक है। इस नारे पर विचार करते समय और
 बाकवित धरायकतावादियों को राज्य को एकाएक भंग कर देने की माँग की
 समीक्षा करते समय हमें इसी दृष्टिकोण को धरनाना चाहिए।

विचारकों की कल्पनाएँ

पूर्वीकाली उत्पादन प्रणाली के प्रचलन के बाद स कितन ही विचारकों ने
 विविध में एक ऐसे समाज का स्थापित होने की कल्पना की जिसमें उत्पादन के
 सभी साधनों पर समाज का ही अधिकार होगा। किन्तु यह कल्पना तभी साकार
 हो सकती थी यह धारस तभी ऐतिहासिक आवश्यकता का रूप धारस कर
 सकता था जब उसकी प्राप्ति के लिए अनिवार्य शैतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न
 हो जायें। कुछ खास विचारों के मस्तिष्क में आ जाने से ही सामाजिक प्रगति
 नहीं हासो। यह ती मोनों ने अनुभव किया कि बगों का अस्तित्व न्याय और
 समानता की कारण से प्रतिकूल है। साथ ही इन बगों को मिटा देने की इच्छा
 भी कई विचारकों में उत्पन्न हुई। किन्तु अनुभूति और इच्छा से ही बगों को नहीं
 मिटाया जा सकता। सामाजिक क्षेत्र की अन्य प्रगतियों की शक्ति समाजवाद
 का धारस भी नयी शैतिक परिस्थितियों द्वारा ही प्राप्त हो सकता था। शोषक
 और शोषित तथा दासक और दासित बगों में समाज का विभाजन उत्पादन के
 धस विकास का आवश्यक परिणाम था। जब तक समाज के धारे धम से जो
 वस्तुएँ उत्पन्न होती थी वे सबके जीवन की साधारण आवश्यकताया से कुछ ही
 अधिक था। धसएव समाज के अधिकतर व्यक्तियों का धारस था लगभग धारस
 समय महानत करने में ही बीत जाता था। इसलिए समाज में बगों का होना
 अनिवार्य था। मेहनतकश जनता के साथ-ही-साथ एक ऐसे बग का विरास हुआ
 जो प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में कोई काम न लेता था किन्तु सामाजिक प्रबन्ध
 का कार्य श्रे दखभास करता था। यह बग उन लोगों का था जो उत्पादन तथा
 वासन-सम्बन्धी कार्यों को संभालत और न्याय कला विज्ञान आदि का अनु
 चीनन करते थे। सब पुष्टिए तो विभिन्न बगों में समाज के विभाजन का पीछे
 धम का ही विभाजन का सिद्धान्त काम कर रहा था। किन्तु इस धमन का यह

धर्म नहीं है कि बर्गों की स्थापना में हिंसा और मृत तथा बोधेबासी और ठगी का सहारा नहीं लिया गया या यह भी धर्म नहीं कि शासन की बागडोर हाथ में आ जाने पर शासक वर्ग ने धर्मबीबी बर्ग को बचा-सठाकर अपनी स्थिति नहीं मजबूत की बल्कि सामाजिक प्रवृत्त के अपने अधिकार का दुरुपयोग करके उसने जनता का शोषण नहीं किया।

बर्ग विभाजन

इन कारणों से समाज का बर्गों में विभाजन ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ-कुछ उचित कहा जाता था। किन्तु साप ही हमें यह न भूलना चाहिए कि एक निश्चित काल के लिए और कुछ निश्चित सामाजिक अवस्थाओं में ही इस विभाजन का औचित्य था। इस औचित्य का आधार या उत्पादन की अर्थरूपिता थी कि प्राथमिक उत्पादन-शक्तियों के विकास से अवश्य ही मिट जायगी। सामाजिक बर्गों के अन्तर्गत की बारम्बार में ऐतिहासिक विकास की एक ऐसी अवस्था की भी कल्पना की गई है जिसमें न केवल किसी विशेष शासक वर्ग का शक्ति शासक वर्ग नामक सामाजिक शक्ति का ही अर्थ बर्ग-विभेद का ही औचित्य एवं अस्तित्व मिटकर रहेगा। उक्त अवस्था में उत्पादन का इतना अधिक विकास हो गया रहेगा कि उत्पादन के साधनों के और उत्पादित वस्तुओं के स्वामित्व को किसी विशेष वर्ग के हाथ में देने तथा विधा राजनीति और शैक्षिक अन्तु के क्षेत्र में इस वर्ग की एकमात्र प्रधानता मानने की आवश्यकता न रहेगी। शक्ति सब तो यह है कि किसी भी वर्ग के एकजत्र प्रभुत्व के स्थापित होने से समाज के धार्मिक राजनीतिक और शैक्षिक विकास में बहुत बड़ी बाधा पड़ेगी।

पूँजीवाद का द्विभाषियान

यह यह अवस्था या गई है। अपने राजनीतिक और शैक्षिक द्विभाषियान से पूँजीवादी भी अब अपरिचित नहीं हैं और उनके धार्मिक द्विभाषियान की पोषणा तो हर एक उस समाज पर उनके की चोट से होती है। हर एक वर्ग के समय पूँजीवादी समाज स्वयं अपनी उत्पादन-शक्तियों और उत्पादित वस्तुओं के भारी बोझ के तले पिचने लगाता है। उत्पादित वस्तुओं का कोई उपयोग नहीं दीखता और यह विविध अर्थरूपिता उत्पन्न हो जाती है कि उत्पादक किसी वस्तु को खरीद नहीं सकते क्योंकि समाज में कोई खरीदार नहीं मिलता। उत्पादन के साधनों की बढ़ती हुई शक्ति उन बन्धनों को तोड़ डालेगी जिनसे पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली ने इन साधनों को बाँध रखा है। वह अवस्था यह या गई

कार्य मात्र

है। इस प्रकार उत्पादन-शक्तियों के घटाने और निरन्तर विकास की आवश्यकता
 धर्म पूरी हो जाएगी और उत्पादन की प्रायः घसीम वृद्धि का रास्ता खुल
 जाएगा। प्रचलित उत्पादन-पद्धति में उत्पादित वस्तुओं और उत्पादन-शक्तियों
 की बहुत बड़ी बरबादी होती है जो संकट के दिनों में अपनी चरम सीमा पर पहुँच
 जाती है। उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार हो जाने से न केवल ऊपर
 बताये गए बन्धनों और कृत्रिम प्रतिबन्धों का ही अन्त हो जाएगा बल्कि वह
 बरबादी भी मिट जाएगी। इतना ही नहीं वर्तमान घासक वर्ग के लोगों और
 उनके राजनीतिक प्रतिनिधियों की मूर्खतापूर्ण विसासिता और किञ्चलबन्धी का
 अन्त हो जाने से उत्पादन के साधनों और उत्पादित वस्तुओं की महान् राशि का
 उपयोग सारे समाज के लिए हो सकेगा। इतिहास में पहली ही बार क्यों न हो
 लेकिन यह सम्भावना मात्र उत्पन्न हो गई है कि सामाजिक उत्पादन द्वारा प्रत्येक
 व्यक्ति के जीवन को भौतिक दृष्टि से सुखी और निर्भय अधिकारिक समृद्ध
 बनाया जा सके। अब यह सम्भावना उत्पन्न हो गई है कि हरेक व्यक्ति अपनी
 धारीक और मानसिक शक्तियों का भरपूर विकास कर सकेगा और उनका
 स्वतन्त्र रूप से प्रयोग कर सकेगा। यह सम्भावना पहली बार मौजूद हुई है
 मगर वह मौजूद है।

उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार

उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार हो जाने से (मानी समाजवाद
 की स्थापना हो जाने पर) माल-उत्पादन की पद्धति का अन्त हो जाएगा। साथ
 ही उत्पादकों पर उत्पादित वस्तुओं का प्रभुत्व भी मिट जाएगा। सामाजिक
 उत्पादन का सबलन सोच-समझकर योजनापूर्ण रूप से होया। अराजकता दूर
 कर ही जाएगी। व्यक्तिगत जीवन के लिए स्वयं का अन्त हो जाएगा। एक
 तरह से वह व्यवस्था आ जाएगी जब मनुष्य पशु-जीवन की अवस्थाओं को पीछे
 छोड़कर संप्रमुख मानवीय जीवन के क्षेत्र में प्रवेश करेगा। अब तक जीवन की
 अवस्थाओं और परिस्थितियों ने ही मनुष्य पर घासन किया या किन्तु अब उन
 पर मनुष्य घासन करने सकेगा। अपने सामाजिक संघटन का स्वामी होने के
 कारण अब मनुष्य पहली बार प्रकृति का सञ्चाल स्वामी बनेगा। उसने अपनी
 सामाजिक क्रियाओं के नियम अब तक बाहरी तथा अनियमित प्राकृतिक नियमों
 का रूप धारण करके मनुष्य का नियंत्रण करते थे। अब मनुष्य उनको पूरी
 तरह समझकर काम में लाएगा उनका वह स्वयं नियंत्रण करेगा। सामाजिक
 संघटन अब तक मनुष्य का विरोधी था, परन्तु वह प्रकृति तथा इतिहास द्वारा

निमित्त स्वेच्छाकारी विधान प्रदीप्त होया था। किन्तु धन बहु (संकट) मनुष्य की इच्छा पर सामाजिक विधान बल पाया। इतिहास की मतिविधि धन तक वस्तुतः धीरे-धीरे धर्म द्वारा निर्धारित होती आई थी। धन उठका निर्दिष्ट मनुष्य स्वयं करेगा। मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का नियामक धीरे-धीरे विधाता बनेगा। मनुष्य द्वारा परिचायित सामाजिक क्रियाओं के परिष्कार धन से सुस्पष्ट धीरे-धीरे अधिकाधिक मात्र में उठकर इच्छा-आकांक्षाओं के अनुकूल होंगे। इस प्रकार मनुष्य जाति धारण्यता के जन्म से निकलकर स्वाधीनता के चक्र में पहुँच पाएगी।

थोरस्टीन वेब्लन
(THORSTEIN VEBLEN)

अध्याय १

भूमिका

थोरस्टीन वेबसन (Thorstein Veblen) (१८५७-१९२९) का जन्म अमरीका के बिनकोनसिंग फार्म में हुआ था। उनके माता-पिता नार्बेजियन थे जो कि अमरीका में आकर बस गये थे। इस परिवार में कुछ ही सदस्य थे। कुछ समय बाद यह परिवार मिनेसोटा चला गया जहाँ वेबसन ने कार्सेटिंग कामें में प्रिया पायी। इस कामें में मर्जी होने के समय उनकी व्यवस्था केवल बीस बर्ष की थी। तीन बर्ष में उन्होंने बिथी हासिल कर ली। इसके बाद उन्होंने जाम्ब होपकिन्स (१८८१) वाले (१८८१-८४) और कार्नेस (१८९०-९२) में स्नातकोत्तर (पोस्ट-ग्रजुएट) प्रिया हासिल की। १८८४ से १८९० तक का समय उन्होंने स्वाध्याय में सयाया।

अध्यापन-कार्य

१८९२ में वेबसन को सिकागो विश्वविद्यालय में अध्यापन-कार्य मिला गया। यहाँ उनके एक प्रोफेसर, वे सार्वेण सायविल अर्थशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष हो गये थे और उन्हो की सहायता से वेबसन की नियुक्ति हुई। वे इस विश्वविद्यालय में कई बर्ष तक रहे और अपनी प्रमुख पुस्तकें यहीं लिखकर तैयार कीं। इससे उनकी प्रतिष्ठा तो बढ़ गयी लेकिन उनके स्वभाव और व्यवहार से विश्वविद्यालय के अधिकारी असंतुष्ट थे। फलतः वे सहायक प्रोफेसर होकर १९०१ में स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय चले गये। पर वहाँ भी लोग उनके उसी तरह परेशान रहे। जब उनके पास केवल यही एक रास्ता रह गया कि वे मिचुरी विश्वविद्यालय में लेक्चरर हो जायें और उन्हें यही करना पड़ा। वह बात १९११ की है। पर यहाँ का वातावरण उनके लिए और भी प्रतिकूल साबित हुआ। १९१८ में वे स्पुयाक-रिवर सामाजिक अर्थशास्त्र के एक स्कूल में चले गये और १९२७ में अरकाश पहुंच करे तक वहीं रहे। इस स्कूल में जाने से पूर्व वेबसन ने कुछ समय तक बार्किंगटन में वाच-प्रकाशन में भी काम किया था और 'जाम्ब मेयबीन' के सम्पादन-मण्डल में शामिल हो गये थे। सामाजिक अर्थशास्त्र स्कूल में प्रारम्भ से उनके वैभव सुनने के

लिए बहुत से छात्र भाये लेकिन वे अपने धीमे बोलने के कि छात्रों की लक्ष्मा चीख ही बटने लगी। इस स्कूल का छोड़ने के बाद सन् १९२९ में ७२ वर्ष की उम्र में उनका देहावसान हो गया।

मानसिक भ्रुकाम

जैसे तो बेबलन सर्वसास्त्री के लेफिन् १८७० घोर १८८० की दशकियों में बनने वाले सांसाधिक विचारों में उनका भूनाव दर्शन-शास्त्र की घोर कर दिया था। पर उन्हें न तो हीदेल के विचारवादी दम्भारमक सिद्धान्त में दिलचस्पी थी और न मार्क्स के दम्भारमक वैदिकवाद में। उन्होंने तत्कालीन सांसाधिक परिस्थितियों का विरलेपथ अपनी तरह से किया घोर बतियों की मन-संग्रह की प्रकृतियों की नई सासोचना की। पत्रकारिता के प्रति भी उन्हें नफरत थी और वे पत्रों काधेजों तथा विरजावर्षों को पूंजीपतियों के हित-साधक मानकर उनसे विन्दा किया करते थे। अध्यापक के रूप में भी वे बड़े बड़े वे घोर न तो स्नातक-पूर्व महाधर्मों के छात्रों के समझ कभी सेकवर देते थे और न कभी किसी छात्र को परीक्षा में 'डी' से ज्यादा ऊंची धेजी देते थे।

सेखन-खेसी

बेबलन ने इतिहास प्राचीन-शास्त्र, मनोचिञ्चल घोर राजनीति-शास्त्र का यहरा अध्ययन किया था। उनकी लेखन-धैर्यी सुनतात्मक कथा-मार्तों-जैसी थी। वे सारी भरकम खर्षों का प्रयोज किया करते थे और ब्यंवारमक रूप से लिखते थे। उनकी प्रत्येक पुस्तक को तत्कालीन सरदृष्टि पर एक दम्भार-खासा ब्यंज कहा जा सकता है। वे अपनी पुस्तकों के लिए मौखिक विषय चुनते थे और उनके विचार भी मौखिक हुआ करते थे। फिर भी उनकी पुस्तकों में तत्कालीन विचारों को प्रभावित नहीं किया। उनके विषयों तथा पाठकों की संख्या भी बहुत ही कम थी। एक दिलचस्प बात यह भी कि यद्यपि वे मुख्यतया सर्वसास्त्री के उनकी कृतियों के समान-कारिजनों, सांसाधिकों तथा इतिहासकारों को ज्यादा सादृष्ट किया। पिछले बीस वर्षों में उनकी क्पाति बहुत बढ़ी है और उनकी कृतियों के अध्ययन व समानशास्त्र तथा सर्वसास्त्र के छात्रों में रचि धी है।

अध्याय २

सामाजिक विकास-सम्बन्धी सिद्धान्त

बेवसन विकासवादी धर्ममास्त्री थे । उनका कहना था कि 'धार्मिक विज्ञान' पुण्यता पड़ चुका है । समाज विकास करता रहता है और वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुँचता है । पर सुनिश्चित सामाजिक धर्म या धार्मिक व्यवस्था-जैसी कोई चीज नहीं होती पर विभिन्न व्यवस्थाओं में अन्तर्निहित नियमों की खोज करने का प्रश्न ही नहीं उठता । उनका दृष्टि में मार्क्स का सामाजिक सिद्धान्त भी पुण्यता पड़ चुका है । वह सिद्धान्त उस युग का है जब कि डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त की खोज नहीं हो पायी थी । मार्क्स के धर्मशास्त्र के बारे में भी उनकी राय थी कि वह बुनियादी रूप से धार्मिक (कम्युनिज्म) है । समाज का विकास किसी पूर्व-निश्चित प्रक्रिया के अनुसार नहीं होता और यह समझना पतल है कि वह किसी पूर्व-निश्चित मध्य की ओर बढ़ रहा है, जिसके कारण उसे पूर्व-निश्चित व्यवस्थाओं से होकर गुजरना पड़े और एक व्यवस्था के बाद किसी दूसरी पूर्व-निश्चित व्यवस्था का प्राण्य अनिवार्य हो । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मार्क्स ने समाज के विकास के नियमों की खोज की है और अपने विश्लेषणों द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि एक सामाजिक व्यवस्था के बाद दूसरी सामाजिक व्यवस्था का प्राण्य साजिमी होता है । पुसायी प्रवा के बाद सामन्तवादी व्यवस्था का प्राण्य और उसके बाद पूँजीवादी व्यवस्था का प्राण्य साजिमी था और ठीक उसी तरह धर्म समाजवादी व्यवस्था का प्राण्य साजिमी है । पर बेवसन इस सिद्धान्त के विरुद्ध हैं । उनका कहना है कि सामाजिक विकास व्यवस्थाओं की कड़ो नहीं है । ऐसा नहीं होता कि सामाजिक विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप एक व्यवस्था के बाद दूसरी व्यवस्था प्राये यस्कि होयत केवल यह है कि अपने विकास की प्रक्रिया में समाज एक स्थिति से दूसरी स्थिति में पहुँचता है ।

सामाजिक व्यवस्था का आधार

मार्क्स और बेवसन में एक बुनियादी अन्तर और भी है । मार्क्स ने धार्मिक व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था तथा संस्कृति का आधार माना है । उनका कहना

है कि सर्वप्रथम प्राथिक व्यवस्था में परिवर्तन होता है। उसके बाद सामाजिक व्यवस्था उसी के अनुकूल बन जाती है तथा उसी प्राथिक व्यवस्था के अनुकूल संस्कृति का जन्म होता है। प्राथिक व्यवस्था कभी भीव पर ही सामाजिक व्यवस्था तथा संस्कृति कभी भ्रमण का निर्माण होता है। लेकिन बेबसन का सिद्धान्त इसके ठीक विपरीत है। उनका कहना है कि प्रमुख सांस्कृतिक विधिष्ठताओं से ही किसी प्राथिक व्यवस्था को जाना जा सकता है यानी जैसी संस्कृति होती है वैसी ही प्राथिक व्यवस्था। समाज का जैसा ढाँचा होता है और जिस तरह के सामाजिक मूल्यों का बाहुल्य होता है उसी तरह का लोगों का ठौर-उठीका होता है। सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि इस बात का अध्ययन किया जाय कि सामाजिक ढाँचे व सामाजिक मूल्यों की उत्पत्ति कैसे हुई वे लोगों के ठौर-उठीके को किस तरह प्रभावित करते हैं और उन सबके परिणामस्वरूप समाज में क्या परिवर्तन आता है।

समाज का विकासकारी बिदसेयसु बेबसन ने विभिन्न दृष्टिकोणों से समाज का विकासकारी बिदसेयसु प्रस्तुत किया है। एक विकासकारी समाजशास्त्री होने के कारण वे इस विषय पर पहुँचे कि नुटों और उद्यमशील लोगों के बीच सर्वत्र संघर्ष रहा है और यही संघर्ष सभ्यता के सम्पूर्ण इतिहास की बिधेयता रही है। सामाजिक विकास की विभिन्न व्यवस्थाओं में इस संघर्ष का रूप अलग-अलग रहा है। वह मूट-असोेट कभी तो नम्ब रूप में रही है तो कभी उस पर नीतिक बाँझनीयता और सामान्य शिष्टों की सुरक्षा का पर्दा पड़ा रहा है। जो एक गुप म नुटों के सरदार के रूप में सामने आया वही दूसरे युग में उद्योग के 'कण्टान' के रूप में सामने आया (बैबसन पूँजीपतियों की उद्योग के कण्टान कहा करते थे।) दानिष्ठपूर्ण व्यापार पर कर मयाने वाले ही सेठ-बाहुकर बन गये। यह मूट-असोेट किष्ठ हूँ तक हो सकती है, यह उत्पादन की प्रणाली पर निर्भर करता है। जिस उत्पादन-प्रणाली में प्रतिरिष्ठ उत्पादन की जितनी अधिक धमता होती है उसमें मूट-असोेट की कबाधों की बिधेय पर निर्भर करती है। और प्रतिरिष्ठ उत्पादन की धमता औद्योगिक होती है उद्योगों की उत्पादन-धमता उतनी ही अधिक होती है।

सामाजिक अस्तबिरोप

अन्य कहा है कि मधीनों के प्राधुर्भाव के कारण जो कि सभ्यता के विकास में एक बिस्तुन गये उन्हें के पीबल-मूल्यों की

घाबस्पकृता है। पर वर्तमान औद्योगिक समाज में भी बर्बर युग के जीवन-मूल्य कायम हैं। धन संग्रह करने वाले लोग (माली पूंजीपति) जिस तरह की मूट बसोटे करते हैं, वह प्रगट करता है कि उनके जीवन-मूल्य वही हैं जो बर्बर युग के मुठेरों के थे, जब कि वर्तमान औद्योगिक युग के जीवन-मूल्य विस्तृत भिन्न होने चाहिए। यह विरोधामाघ ही वर्तमान समाज की सबसे बड़ी समस्या है। अतः समाजशास्त्रियों का यह धर्म्य है कि वे इन विरोधामाघों को स्पष्ट रूप से प्रकाश में लायें ताकि उन्हें दूर करने का कोई रास्ता निकल सके। बेबसन ने इन विरोधामाघों को दूर करने का स्वयं कोई रास्ता नहीं सुझाया है।

समाज का मूल्यांकन

बेबसन ने वर्तमान समाज का मूल्यांकन सामाजिक मापदण्डों द्वारा किया। पर वे समाज के गुणों व दोषों का विश्लेषण इस प्रकार करते थे मानो वे वर्तमान सभ्यता के अंत न होकर किसी उच्चतर सभ्यता से प्रवर्तित हुए हों। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका सामाजिक मूल्यांकन बड़ा भयंकर होता था। उन्होंने धनिकों की बड़ी कटु आलोचनाएँ की हैं। यद्यपि वे ऐसे समाज में रहते थे जिसकी सभ्यता पर व्यापार व उद्योग का प्रभुत्व था तथापि उन्होंने व्यापार के प्रति तीव्र घृणा प्रगट की। उन्होंने पूंजीवादी बुराइयों का पर्दाकाश किया और अपने धारोप प्रमाणित करने के लिए बहुत से तथ्य प्रस्तुत किये। ऐसा करने के पीछे उनका उद्देश्य यह दिखाना था कि पूंजीवाद के समर्थकों द्वारा पूंजीवाद के जो सिद्धान्त प्रस्तुत किए जाते हैं उनमें और पूंजीवादी समाज के व्यक्तियों के वास्तविक व्यवहार में समीन-आसमान का अंतर है। इन सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने के पीछे पूंजीवाद के समर्थकों का उद्देश्य लोगों को भ्रम में डालना होता है ताकि वे वास्तविकता को समझ न पायें और ऐसे समय में तब तक उन्हें जिससे धार्मिक अंध-विज्ञान (टेक्नोलॉजी) का पूरा लाभ सम्पूर्ण मानवता को पहुँच सके। अतः बेबसन ने वर्तमान सिद्धान्तों को (पूंजीवाद के समर्थकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को) बदलकर ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित करने पर जोर दिया है जो वास्तविकता के अनुकूल हों।

अध्याय ३

आर्थिक विचारधारा

बेबसन मुख्यतया धर्मशास्त्री थे लेकिन उन्होंने आर्थिक मामलों के प्रति एकांगी धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण न अपनाकर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया और पूंजीवादी धर्मतन्त्र तथा पूंजीवादी समाज का विश्लेषण करने के लिए सामाजिक मानकों का सहारा लिया। अतः उनकी आर्थिक विचारधारा में धर्मशास्त्रियों को उल्टा प्राकृष्ट नहीं किया जितना कि समाज-शास्त्रियों को। वे एक स्वतन्त्र विचारक थे और किसी भी स्कूल' या दल के नहीं थे। केवल यही नहीं वे ऐसे पहले धर्मशास्त्री थे जिन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए यूरोपीय धर्मशास्त्रीय परम्पराओं का सहारा नहीं लिया। उनके समय के धर्मशास्त्रियों के सिद्धान्त उल्कासीन ब्रिटिश धर्मशास्त्रियों के सिद्धान्तों पर आधारित होठ थे। बेबसन इन धर्मशास्त्रियों का मजाक बनाते थे और उन्होंने अपना अफर एकांगी तय किया।

आर्थिक मनुष्य

वे एक ओर तो कर्तव्यधर्म धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध थे और दूसरी ओर मार्क्सवादी धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों के। वे आर्थिक मनुष्य' सम्बन्धी सिद्धान्त को नहीं मानते थे। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान युव एक धर्म प्रधान युग है और मनुष्य एक स्वतन्त्र न प्रतिद्वन्द्वी बाजार में एक धनु की शक्ति है। इस धर्म-प्रधान समाज में मनुष्य की प्रेरक शक्ति होती है धान्य प्राप्त करने और कष्ट से बचने की इच्छा। मनुष्य में यही इच्छा सबसे अधिक बलवती होती है और उसके धर्मसत कार्य-रूपाय कर्म इसी इच्छा द्वारा प्रेरित होते हैं। बेबसन इस प्रकार के मनुष्य का अस्तित्व-स्वीकार करने को तैयार न थे। उनका कहना है कि न तो मनोविज्ञान इस तरह के मनुष्य को जानता है और न इतिहास। वास्तविक जगत् में भी इस तरह के मनुष्य का अस्तित्व कहीं भी शीघ्र नहीं पड़ता।

मूल्य व्यवस्था

बेबसन ने वर्तमान आर्थिक व्यवस्था की आलोचना करते हुए कहा है कि उसे पूंजीवाद धर्म-व्यवस्था कहना या व्यक्तिवादी व्यवस्था कहना पसंद है। यह

तो बरघसन एक ऐसी 'मूल्य व्यवस्था' है (बहु व्यवस्था जिसका आधार वस्तुओं का मूल्य हो) जिसे मूल-बसोड प्रबंधन कहना चाहिए। उनके कथनानुसार पुण्य-पंथी प्रबंधास्थिओं का यह कहना सच है कि पूंजीपति जो मुनाफा कमाता है उसे वह उत्पादन के प्रयोगों के कुशल संयोजन तथा उनके कुशल कार्य-संवाहन द्वारा कमाता है। इसी तरह उनके मतानुसार, मार्क्सवादी प्रबंधास्थि का यह सिद्धांत सच है कि पूंजीपति का मुनाफा बरघसन उस मानव-श्रम का मूल्य होता है जो पूंजीपति मजदूर को न देकर स्वयं रूप में लेता है। बेबसन के सिद्धांतानुसार मुनाफा प्राकृतिक विज्ञान द्वारा प्रबत भौतिकीक टेकनीक का परिणाम होता है।

प्राकृतिक प्रबंधन का विश्लेषण

बेबसन ने प्राकृतिक प्रबंधन का विश्लेषण करते हुए कहा है कि मूल-विज्ञान (टेकनोलॉजी) के कारण उद्योगों को यह क्षमता प्राप्त होती है कि वे उन वस्तुओं का उत्पादन कर सकें जिनकी सीमाओं को प्रायदयकता हो। लेकिन व्यापार और उद्योग में अन्तर होता है। व्यापार बहु माध्यम होता है जिसके द्वारा उद्योगों पर कब्जा किया जाता है ताकि उद्योगों से मुनाफा कमाया जा सके। यह पता करना एक शीघ्र है और जिस उत्पादित करना दूसरी शीघ्र। इन दोनों की प्रक्रियाएँ अन्तर परस्पर-विरोधी होती हैं। जो व्यक्ति बहुत अधिक बन कमाता है वह अन्तर ऐसा व्यक्ति होता है जो ज्यादा उत्पादन नहीं होने देता (यानी उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाता है) ताकि मुनाफे की अधिकतम दर में कमी न घान पाये। वह प्रतिबन्धिता को लागू करता है ताकि उद्योग-विधेय पर उसका एकाधिकार रहे और वह मनमाना मुनाफा कमा सके। वह अपने मुनाफे की खातिर कार्यकुशलता का स्तर गिराता है, और चीजों में मिलावट करता है। कभी-कभी तो वह जिन्यों का सेन-सेन करवाई नहीं करता। वह जिन्यों उद्योगों की मिल्किमत्त को करीबता है और उसका सट्टा करता है और उसका बास्ता केवल धैर्यों के बाजों में होने वाली बट-बट से होता है। जिन सीमाओं को इस तरह से कम कमाने की धुन रहती है वे लोग अन्तर उपभोक्ताओं तथा छोटी पूंजी मगाने वालों के साथ बोवाबदी करते हैं और बाजार में मंरी बाटें हैं तथा बेकारी बढ़ाते हैं।

पूँजीपतियों की घालोचना

पूँजीपतियों की घालोचना करते हुए बेबसन ने सिद्धा है कि उद्योगों के उत्पादन (पूँजीपति) यह कमी नहीं चाहते हैं कि किसी भी चीज का मूल्य ही

उपभोक्ता को उसकी दिवानी ही बकरल क्यों न हो इतना ज्यादा उत्पादन हो कि उनके मुताफे की अधिकतम दर में कोई कमी घाये । घट उत्पादन न बढ़ने देने के लिए वे पूँजीवादी लोड फोड करते हैं । यदि कीमतें फिरने लपटी हैं तो वे मजदूरों की छटनी करते हैं और कुछ मशीनों को बन्द करवा देते हैं । इस प्रकार वे उत्पादन की प्राधुनिक टेकनीक का पूरा साथ उपभोक्ताओं को नहीं पहुँचाने देते ।

हड़ताओं के कारण

हड़ताओं के कारणों (बजूहटों) पर प्रकाश डालते हुए बेबसन ने कहा है कि उद्योगों के क्लाम मजदूरों को गरीबी की हासत में रखते हैं । वे अपने मुनाफ़ की दर कम न होने के लिए उत्पादन पर रोक मपाते हैं । मजदूर भी अपनी मजदूरी बढ़वाने तथा सुरक्षा हासिल करने हेतु उनका घमुरण करते हैं और हड़ताओं का रास्ता अपनाकर उत्पादन को रोकत हैं ।

बेबसन के काल में घमरीदा में बड़े-बड़े वित्तीय कापोरिडनों का निर्मास हो रहा था जिनका उद्देश्य उद्योगों पर वित्तीय नियंत्रण स्थापित करके एकाधिकार जमाना था । बेबसन ने जिस तरह पूँजीपतियों की कड़ी घामाजना की है, उभी तरह उन्होंने कापोरिडनों तथा सिडीकैटों की भी घामाजना की ।

मूल्य-व्यवस्था के अंत की चेतावनी

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं बेबसन ने वर्तमान प्राविक व्यवस्था को पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान 'मूल्य-व्यवस्था' की संज्ञा दी है । उन्होंने चेतावनी दी कि यह व्यवस्था प्राविक समय तक कायम नहीं रह सकती । इस व्यवस्था में घमन्विरोध निहित है जिसे कि दूर नहीं किया जा सकता । एक घोर तो वैज्ञानिकों और तकनीकी विद्येपकों (टेक्नोलाजिस्टों) की निरन्तर कोषिघ उत्पादन बढ़ाने की होती है दूसरी घोर पूँजीपति है जिनके कि वे वैज्ञानिक व टेक्नोलाजिस्ट घेतन मोभी कर्मचारी होते हैं और जो मूल्यों को कम न होने देने के लिए उत्पादन बढ़ने नहीं देते । इस घमन्विरोध का प्रमाण है घीघोगिक संकट का निरन्तर उघतर होना जाना । मूल्य-व्यवस्था' क कारणे की चेतावनी देने के बावजूद उन्होंने स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा है कि इस व्यवस्था का स्थान कौनसी व्यवस्था ग्रहण करेगी । लेकिन अपनी बाब की पुस्तकों में उन्होंने एक ऐसी प्राची व्यवस्था का संकेत किया है जिसमें उत्पादन और वितरण का नियंत्रण इंजीनियरों के हाथ में होना और सामाजिक जीवन का निर्बंधन उन्हीं का उत्तराधिकार होना ।

वर्ग-सर्घर्ष व फुरसतमद वर्ग

वेबसन ने पूँजीवादी धर्मतंत्र में निहित अन्तर्बिरोध और बर्ष-सर्घर्ष को तो स्वीकार किया है लेकिन मार्सवादी धर्म में नहीं। मार्स का कहना है कि पूँजीवादी धर्मतंत्र में जो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ होती हैं—मजदूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग—और इन वर्गों में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। मार्स ने भविष्यवाणी की है कि इस बर्ष-सर्घर्ष में मजदूर वर्ग की विजय होगी और पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त हो जायगा। वेबसन बर्ष-सर्घर्ष के उनके इस सिद्धांत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि पूँजीवादी धर्मतंत्र में सर्घर्ष उन दो शक्तियों के बीच है जिनमें से एक उत्पादन बढ़ाने वाली शक्ति है और दूसरी मुनाफ़ा कमाने वाली शक्ति। एक ओर तो वे इंजीनियर प्रादि हैं जो उद्योगों की उत्पादन-क्षमता बढ़ाने के लिए बराबर प्रयत्नशील रहते हैं। उत्पादन करने की इच्छा मनुष्य में सहज-स्वाभाविक रूप से मौजूद होती है। यह उसका प्राकृतिक गुण है उसका स्वभाव है। इस इच्छा के पीछे मुनाफ़ा कमाने की मंशा नहीं होती। लेकिन दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग है, जिसमें उत्पादन बढ़ाने की इच्छा नहीं होती। उसका उत्पादन से कोई वास्ता न होकर केवल मुनाफ़े से वास्ता होता है। वह केवल इतना उत्पादन होने देता है जिसमें मूल्यों में विरायट न माने पावे और उसके मुनाफ़े में कमी न होने पावे। ये दोनों ही शक्तियाँ पूँजीवादी धर्मतंत्र की प्रमुख शक्तियाँ हैं और जिनमें निरन्तर संघर्ष होता रहता है। इंजीनियर ऐसे-ऐसे आविष्कार करते हैं और ऐसी तकनीकों (टेकनीकों) को खोज करते हैं जिससे उद्योगों की उत्पादन-क्षमता बढ़े और अधिकतम उत्पादन हो सके। पर पूँजीपति ऐसी कोशिश करते हैं जिससे उत्पादन सीमित रहे और अधिक उत्पादन के कारण मूल्य गिरने न पायें। यद्यपि इन दोनों शक्तियों में संघर्ष होते रहना स्वाभाविक है।

धनिक वर्गों का विश्लेषण

वेबसन ने धनिक वर्गों का विश्लेषण विशेष रूप से किया है। उन्होंने उनकी पुस्तना बर्बर युग के सुनें के साथ करते हुए कहा है कि पश्चिमी पूँजीवाद के जो

सामाजिक मापदण्ड हैं वे प्राकृतिकता के नामे के धन्वर, करीब-करीब यही हैं जो बर्बर युग में थे। मानव का स्वभाव यद्यपि उसकी प्रकृति धनी भी नहीं है। गुरा धर्मगत तथा सम्पत्ति-संग्रह की होड़ ने उस केवल नया रूप प्रदान किया है।

उनका कहना है कि इन दोनों ही संस्कृतियों में उच्च वर्गों की विधिपट्टा नहीं रही है कि उन्हें धोषोन्मिक भय नहीं करना पड़ता। बर्बर युग में योद्धा यद्यपि पुरोहित सासक हुआ करते थे। वे उत्पादन की ध्येसा मूढ-बध्नेट द्वारा उच्च स्वाम प्राप्त करते थे। जो विधेय गुस्स उनमें थे वे ही युद्ध धान के धनिकों में देखने को मिलते हैं। वे धामिम होते थे कुतर्क होते थे कुतथापरस्त व मूर होते थे धीर वकलत पढ़न पर बब-प्रबोध तथा घोडाधड़ी से काम बने के लिए स्वतन्त्र होते थे। ये ही गुस्स धान के धनिकों में तथा उनके बाकरों (वैकिय व्यवसाय करने वालों तथा बन्धीसों) में देखने को मिलते हैं।

किन्तुमसर्ची

कुरसवमन्त्र वर्गों की एक विधिपट्टा यह होती है कि नागरिकों की धारस्वक-ताओं की वृष्टि से उनके कार्य-कलाप बिलकुल निरर्थक होते हैं। उनकी सफलता का प्रतीक उनका धनाप-धनाप बर्ष होता है। इस बर्ष से उनकी किसी धास्तविक वकलत की पूर्ति नहीं होती बल्कि वे बर्ष केवल प्रतिपत्ता बढ़ाने के लिए किये जाते हैं। सवाहुरण के लिए, वे ऐस कीमती कपड़ पहनते हैं किन्तु पहनकर धारीरिक धम नहीं किया जा सकता। वे धपनी पत्नी के लिए ववर व बवाहुराठ जरीबते हैं। उनके घरों में एक-से-एक बड़िया भोजन तैयार किये जाते हैं धीर वे ऐसी चीजें सीखते हैं जिनसे उत्पादन में कोई मदद नहीं मिलती जैसे कि मुकुधवारी धिकार बेलना इत्यादि। वे बड़ी-बड़ी बाबतों पर भी बन बब करते हैं। क्यूने का तात्पर्य यह कि वे धन को केवल धपनी वकलतों को पूरा करने के लिए बब न करके बर्ष बर्ष करते हैं ताकि उनकी सम्पत्ता का प्रधर्षन हो सके धीर धमाज में उनकी प्रतिपत्ता बड़ सके। इही प्रधर्षन की बाधिर वे वकलत से पयादा बड़ी कोठियों में रहते हैं धीर बगुठ से नीकर-बन्कर रखते हैं।

सुदेरों की संस्कृति

केवलन का कहना है कि केवल यही नहीं कि उच्च वर्ग के लोग धपनी धार्मिक सम्पत्ता के लिए किन्तुमसर्ची करते हैं। वे जिन वस्तुओं का उपयोग करते हैं, वे बड़िया-स-बड़िया किस्म की होती हैं। इस तरह उनके उपयोग की वस्तुओं धीर पन-साधारण के उपयोग की वस्तुओं में धन्वर या जाता है।

आगस्त कौंत (कॉम्टे)
(AUGUSTE COMTE)

अध्याय १

भूमिका

प्रसिद्ध कौट (Augusto Comte) का समाजशास्त्र के पितामह माने जाते हैं। क्योंकि वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस विज्ञान को यह नाम प्रदान किया और अपने समय की तथा अपने से पहले की राजनीतिक विज्ञान-सम्बन्धी प्रमुख विचारधाराओं को एक मूल में बाँधकर समाजशास्त्र को एक पद्धति के रूप में प्रस्तुत किया। उनकी विचारधारा मुख्यतया श्रेष्ठ शासन से प्रभावित रही है और उन पर ह्यूम काष्ट और गॉस आदि दार्शनिकों का भी गहरा प्रभाव रहा है।

उनका जन्म फ्रांस के मोन्तपेसियर नामक स्थान पर १७८९ में हुआ था और उन्होंने उच्च शिक्षा एकोल पॉलिटेक्नीक में हासिल की। छह वर्ष तक वे उत्कृष्टतम प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक श्री हेनरी डी सेंट साइमन के शिष्य रहे पर १८२४ में उनका उनके साथ मतभेद हो गया। सेंट साइमन सामाजिक परिवर्तन का बहुत बड़े समर्थक थे और अपने समय की अर्थिकारी प्रवृत्तियों का समर्थन करते थे पर कौट ने उनकी प्रथमा दृष्टिकोण अपनाया और यही उन दोनों के मतभेद का मुख्य कारण था। सन् १८३६ से १८४६ तक उन्होंने एकोल पॉलिटेक्नीक में परीक्षक के रूप में काम किया। वहीं से प्रसन्न किमे ज्ञान के बाव में मुस्सतवा अपने शिष्यों की सहायता पर निर्भर रहे। सन् १८४८ में उन्होंने 'पॉजिटिविस्ट सोसायटी' की स्थापना की।

कौट को सर्वप्रथम पुस्तक थी— 'समाज के पुनर्संघटन के लिए धारणात्मक वैज्ञानिक कार्य के हेतु एक कार्यक्रम'। यह पुस्तक एक प्रोपेण्डस के रूप में थी। इसके बाद उन्होंने सन् १८२६ में कुछ लेखकों के माध्यम से अपने रचना के प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत किए। १८३१ और १८४२ के बीच उनकी प्रमुख पुस्तक 'पॉजिटिव फिलॉसफी' प्रकाशित हुई और उनकी अन्तिम पुस्तक 'पॉजिटिव पॉसिटी' १८४१ व १८४४ के बीच में प्रकाशित हुई। इन दोनों ही पुस्तकों में उन्होंने सकारात्मक (वैज्ञानिक) रचना के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है और

१ फ्रांसीसी भाषा में Auguste Comte (अगस्त कोन्टे) का एक उच्चारण कौट है।

मावी समाज की परिकल्पना तथा उस समाज की स्थापना के हेतु सामाजिक परिवर्तन के लिए कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। सन् १८३० में उनका देहावसान हो गया।

सेष्ट साइमन का प्रभाव

वैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, कौल सेष्ट साइमन (१७६०-१८२३) के सिप्य के और उनका वर्तन सष्ट साइमन के वर्तन से मुख्य रूप से प्रभावित था। बल्कि यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपना प्रमुख सिद्धान्त सष्ट साइमन के वर्तन से ग्रहण किया। सेष्ट साइमन ने अपने समय की समाज-शास्त्रीय विचारधाराओं को संग्रहीत करके समझी जास-जास बातों को एक व्यवस्थित रूप दिया था। कौल ने इस पद्धति को ग्रहण किया और सेष्ट साइमन द्वारा प्रकीर्ण समस्त प्रमुख सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। पर उन्होंने इस पद्धति के लिए 'राजनीतिशास्त्र' के स्थान पर 'समाजशास्त्र' शब्द का प्रयोग कर उसे विकसित किया तथा नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

सेष्ट साइमन के सिद्धान्त

वहाँ पर सष्ट साइमन के प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा कर देना अनुपयुक्त न होना क्योंकि उन्हें जान लेना कौल के समाजशास्त्र के सिद्धान्तों को समझने के लिए आवश्यक है। सष्ट साइमन के प्रमुख और बुनियादी सिद्धान्त निम्न सिद्धित हैं—

(१) विज्ञान को मान की दृष्टि से सभी भाषाओं से निम्न मानना चाहिए।
 (२) विज्ञानों का बर्गीकरण किया जाना चाहिए और यह बर्गीकरण इस आधार पर होना चाहिए कि किस विज्ञान में कितनी अधिक बटिलता पहलू की है। दूसरे, राजनीतिक विज्ञान (राजनीतिशास्त्र) को समस्त विज्ञानों के ऊपर स्थान देना चाहिए।

(३) राजनीतिक विज्ञान (राजनीतिशास्त्र) इतिहास और परीक्षणों के निष्कर्षों पर आधारित होना चाहिए और जहाँ विकास तथा प्रगति की कारण

(४) प्रगति का सामान्य नियम मनोवैज्ञानिक विकास के नियम के समान ही

(५) प्रगति-सम्बन्धी समस्त समाजशास्त्रीय सिद्धान्त बुनियादी नियमों पर आधारित होने चाहिए।

(१) वैश्वविद्यालय का साधारण सामाजिक जीवन की ठीक परिस्थितियाँ होनी चाहिए और परसोक-सम्बन्धी साम्यताओं पर भरोसा न करके मानव की बुद्धिमानता के लिए सामाजिक व्यवस्था को बदलना चाहिए,

(२) सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन एक नये तरह के धीरोनिक संलग्न एक नयी तरह की सामाजिक व राजनीतिक पद्धति और यूरोपीय देशों के एक वैश्वीयुक्त धर्म द्वारा ही सम्भव है।

सेन्ट साइमन का कहना था कि समाज का पुनर्गठन इस रूप में किया जाना चाहिए कि उस पर धीरोनिक विधेयों का नियंत्रण हो। ये धीरोनिक विधेयों का नियंत्रण इस रूप में करें कि मानव के लिए किसी भी चीज की कमी न रहे। ये विधेयों समाजशास्त्रियों के निर्देशन पर काम करें और इन समाजशास्त्रियों पर इस बात की जिम्मेदारी हो कि वे नये-नये सत्य खोजते रहें और पुरानी सत्य नई खोजों का सम्भव व उपयोग इस रूप में करें कि सबसे मानव का अधिकतम हित हो सके।

सेन्ट साइमन के सिद्धान्त व कौंट

कौंट ने इन सिद्धान्तों को ग्रहण करके उन्हें व्यवस्थित रूप ही नहीं दिया बल्कि उन्हें विकसित भी किया और यही समाजशास्त्र को उनकी प्रमुख देन है। कौंट की एक बहुत बड़ी देन यह भी है कि उन्होंने सामाजिक प्रक्रियाओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन की शुरुआत की जिसे स्पेन्सर, बाइ और वर्तमान पीढ़ी के समाजशास्त्रियों ने विकसित किया। कौंट से पूर्व सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन और विश्लेषण धर्म-धर्मग बाइबिलिकों ने धर्म-धर्म विद्वानों के माध्यम से किया था बाकी किसी ने कर्म मनीषिज्ञान के माध्यम से तो किसी ने धर्म-धर्म विज्ञान के माध्यम से। किसी ने समाज के केवल धार्मिक पक्ष पर ध्यान दिया था तो किसी ने उसके बौद्धिक पक्ष पर। पर कौंट ने सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन और विश्लेषण करने के लिए समस्त विद्वानों का सम्भव करके एक नई पद्धति को एक नये विज्ञान का जन्म दिया, जिसे समाजशास्त्र कहते हैं।

पध्याय २ सामाजिक सिद्धान्त

कौट का सामाजिक सिद्धान्त इस बुनियादी मान्यता पर आधारित है कि कार्यों का विभाजन व प्रयासों की एकजुटता सामाजिक संघटन का आधार होती है। लेकिन यह धारणा उनकी कृप की न थी। इस उन्होंने अरस्तू (Aristotle) से लिया था। उनके सामाजिक सिद्धान्त की दूसरी विशेषता है सामाजिक प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विवरण तथा उसमें प्रयत्न की वैज्ञानिक (Positivist) पद्धति। इस कौट को उन्होंने ह्यूम केन्ट और गाम के दर्शन से लिया था। उनके सामाजिक सिद्धान्त की तीसरी विशेषता है सामाजिक प्रत्यावर्तन-सम्बन्धी धारणा। वे यह भी मानते थे कि यह ऐतिहासिक प्रत्यावर्तन एक प्राकृतिक व्यवस्था के अनुरूप होता है। यह सिद्धान्त उन्होंने ह्यूम केन्ट तुर्बोथ मिफो और डी-मेरवी के दर्शनों से प्राथमिक रूप से लिया था। कौट के सामाजिक सिद्धान्त की चौथी प्रमुख बात यह है कि मनुष्य के बौद्धिक विकास की तीन सीढ़ियाँ प्रथमा धरणाएँ होती हैं यह सिद्धान्त उन्होंने तुर्बोथ बौडिन और सेन्ट साइमन से लिया था। कौट का कहना था कि समाजशास्त्र को बुनियादी विज्ञान मानना चाहिए और यह धारणा उन्होंने सेन्ट पेरी सेन्ट साइमन तथा कुछ अन्य दार्शनिकों से ग्रहण की थी। मोटेस्क्यू की भाँति कौट भी यह मानते थे कि सामाजिक प्रक्रियाओं पर मौखिक बातबाण्य का विदेय रूप से प्रसर पड़ता है और वे प्रक्रियाएँ प्राकृतिक नियमों द्वारा निर्देशित होती हैं। कौट ने इस सिद्धांत को ग्रहण करने के साथ-साथ कौटोरसिट के इस सिद्धान्त को भी ग्रहण किया कि सामाजिक प्रकृति में विज्ञान महत्वपूर्ण भूमिका धरा करता है। सेन्ट पेरी और सेन्ट साइमन की भाँति उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि समाज के पुनर्गठन तथा निर्देशन के लिए समाज-विज्ञान का होना नितांत आवश्यक है। उन्होंने विज्ञानों का वर्गीकरण किया और विज्ञानों की सूची में समाजशास्त्र को सबसे ऊपर रखा।

सामाजिक विकास के नियम

कौट का कहना है कि तत्त्व दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जो स्थिर होते हैं और दूसरे हैं। सामाजिक प्रकृति एक प्राकृतिक

नियम के अनुसार होती है और उसे तीन भावस्वाधों से होकर पुनर्जना पड़ता है। जिस तरह जीवास्तुधों का विकास होता है ठीक उसी प्रकार समाज का भी विकास होता है क्योंकि उस पर भी वही नियम लागू होते हैं जो वेप प्रकृति पर। उनका कहना है कि यदि मानव ज्ञान विकसित किया जा सकता है तो केवल वैज्ञानिक पद्धति अपनाकर ही यानी चीजों के निरीक्षण परीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन द्वारा निष्कर्षों पर पहुँचने की पद्धति अपनाकर। पर सामाजिक प्रक्रियाधों का अध्ययन करने के लिए ऐतिहासिक पद्धति को भी प्रयुक्त करना आवश्यक है। इस पद्धति से तात्पर्य यह है कि सामाजिक प्रक्रियाधों का अध्ययन करने वालों को यह भी देखना चाहिए कि मानव-समाज का ऐतिहासिक विकास किस रूप में हुआ है और उस पर कौन कौनसे नियम लागू होते हैं। उनका कहना है कि मानव-समाज का अध्ययन करने के लिए समाज शास्त्र को यह तरीका अपनाना चाहिए। इसके लिए धार्यात्मवाद सही तरीका नहीं है और वह सही परिस्थानों पर नहीं पहुँच सका है। कौट ने धार्यात्मवादी पद्धतियों की बड़ी तीव्र धामोचना की है। उन्होंने विज्ञान की एक क्रमबद्ध सूची बनाई है जिसमें गणित ज्योतिष भौतिकशास्त्र रसायनशास्त्र और प्राणीशास्त्र प्रादि सभी विज्ञान सम्मिलित हैं। इन सबके ऊपर उन्होंने नये विज्ञान-समाज शास्त्र को रखा है। उनका कहना है कि प्रत्येक विज्ञान को निश्चये क्रम के विज्ञानों पर निर्भर करना पड़ता है और जैसे-जैसे हम ऊँचे क्रम के विज्ञानों की ओर बढ़ते हैं हमें देखने को मिलता है कि वे धार्किक विद्विष्ट और जटिल हैं तथा वैज्ञानिक नाप-तौल उन पर क्रम-से-क्रम लागू होते हैं। चूँकि समाजशास्त्र इस क्रम में सबसे ऊपर है, इसलिए वह सबसे जटिल विज्ञान है। वास्तव में उसे उसकी जटिलता के कारण ही क्रम में सर्वोच्च स्थान पर रखा गया है। कौट ने जब विज्ञान को क्रम-सूची में उतारा तो ऊँचे स्थान पर रखा है जितना कि वह जटिल है और उनका वह क्रम विज्ञानों की जटिलता पर निर्भर करता है। चूँकि समाजशास्त्र सबसे जटिल विज्ञान है, इसलिए उसका वैज्ञानिक ढंग से नाप तौल कर पाना तथा उसके द्वारा ठीक-ठीक भविष्यवाणी कर पाना बहुत कठिन काम है।

समाज और प्रयति

वे समाज को एक जीवाणु (Organism) की भाँति मानते थे और उसे उनही सामूहिक जीवास्तु की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि जो नियम जीवधारियों तथा पौध-पौधों पर लागू होते हैं और जिन नियमों के अनुसार उनका

विकास होता है वे ही नियम समाज पर भी लागू होते हैं। समाज में वे सभी प्राथमिक बुनियादी चीजें हैं जो अलग जगत् (प्राणियों) में पाई जाती हैं। अतः जीवधारियों और समाज के कार्यकलापों में समन्वय होता है उनके कार्यों की एक-दूसरे पर तथा बाताबरण पर प्रतिक्रिया होती है और इस क्रिया प्रतिक्रिया द्वारा वे समान लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। यह समन्वित विकास मानव-समाज में अपनी अरम अवस्था में पहुँचा है और इसलिए मानव-समाज जीवाणुविक विकास का अन्तिम चरण है। मानव की सामाजिक प्रवृत्ति कार्यों के विभाजन तथा विभिन्न कार्यों में अधिकधिक बलता प्राप्त करने की प्रकृति के कारण हुई है। सामाजिक पद्धतियों सामाजिक संयोजन में कारियों पर होने के कारण होती है और इसलिए उनका उपचार भी समाजशास्त्र द्वारा ही सम्भव है।

समाज और समाजशास्त्र

जनका कहना है कि वैयक्तिक और सामाजिक जीवाणु एक-जैसे होते हैं। बिना एक किसी भी जीवधारी में पोर (सेल) होते हैं, उसी तरह परिवार में सामाजिक पोर होते हैं। और सामाजिक संघटनों में सामाजिक मौल्योपेक्षा होती है तथा राज्य के अन्तर्गत अनेक सामाजिक घां होते हैं। वैयक्तिक जीवाणु (Individual organism) और सामाजिक जीवाणु (Social organism) में सबसे बड़ा अन्तर यह होता है कि वैयक्तिक जीवाणु में बड़े-बड़े परिवर्तन नहीं किये जा सकते लेकिन सामूहिक जीवाणु में बड़े-से-बड़ा सुधार किया जा सकता है। अतः उसका निर्वहन वैज्ञानिक विज्ञानों के अनुसार किया जा चुकी बात यह भी है कि सामाजिक जीवाणु अथवा सामाजिक संयोजन में कार्य विभाजन और प्रवासी क सम्भव की कही अधिक पुंभायस होती है। उनका कहना है कि समाजशास्त्र प्राणीशास्त्र के बहुत निकट है। प्राणीशास्त्र विषय अतीत-रचना और जीवन है अतः समाजशास्त्र का विषय उसी प्रकार विकसित है। इस दृष्टि से समाजशास्त्र का सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक प्रवृत्ति का विज्ञान कहा जा सकता है। उसे सामाजिक प्रक्रिया का विज्ञान कहा जा सकता है।

समाजशास्त्र के प्रमुख घां

कौन न समाजशास्त्र को दो प्रमुख विभागों में विभाजित किया है। पहले विभाग में वे विज्ञान हैं जिनका सम्बन्ध समाज के अस्तित्व (सिद्धि वस्तुओं) से है और दूसरे विभाग में वे विज्ञान हैं जिनका सम्बन्ध परिवर्तनशील अथवा

विकासमय (क्रियाशील) सामाजिक ढर्रों से है। और, सामाजिक व्यवस्था का पगार कायों का विभाजन और प्रयासों का समन्वय है। कायों के विभाजन का प्रर्थ है समाज में कम का विभाजन। जहाँ तक प्रयासों के समन्वय का सम्बन्ध है उसका वायित्व सरकार पर होता है।

बौद्धिक विकास को अवस्थाएँ

समाज को अपनी प्रगति के लिए बौद्धिक विकास के भी तीन चर्रों घबना अवस्थाओं (Stages) से होकर गुजरना पड़ता है। ये अवस्थाएँ हैं—बड़ा विद्या (Mythicism) धार्म्यात्मवाद (Theology) और विज्ञान (Science)। मानव-समाज के लिये इन तीनों ही अवस्थाओं से होकर गुजरना अनिवार्य है। इनसे से किसी भी अवस्था को लीभा नहीं जा सकता। लेकिन यह अवस्था है कि बुद्धि-बल से प्राथमिक अवस्थाओं के काम को कम किया जा सकता है। यदि सामाजिक प्रगति का निर्देकन बुद्धिमत्ता से न किया जाय तो प्राथमिक अवस्थाओं से गुजरने में ज्यादा समय लग सकता है। पर यह निश्चित है कि एक अवस्था से गुजरे बहैर दूसरी अवस्था में नहीं पहुँचा जा सकता।

मानव-प्रगति व बातावरण

मनुष्य की प्रगति इन बात पर निर्भर करती है कि वह बातावरण (भौतिक परिस्थितियों) पर कितना नियंत्रण कर पाता है। बातावरण पर उसका नियंत्रण कितना बढ़ता जायेगा उसकी प्रगति की रफ्तार भी उसनी ही बढ़ती जायेगी। इस प्रगति को तीन चर्रों में विभाजित किया जा सकता है—बौद्धिक, नैतिक और नैतिक। बौद्धिक प्रगति के लिए मनुष्य को उन तीनों अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है जिनका इन ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। नैतिक प्रगति की भी तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था होती है विजय अभियान की विजय मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है। दूसरी अवस्था होती है मुरधारमक विजय मनुष्य की मुख्य चिन्ता अपने मुरधार के लिए होती है। तीसरी अवस्था होती है औद्योगिक विजय मनुष्य उद्योग और परिश्रम के बल पर धाने बढ़ता है। मनुष्य की नैतिक प्रगति भी इसी अवस्थाओं के अनुबध होती है। प्रथम अवस्था में उसका ध्यान केवल अपने परिवार तक सीमित रहता है, दूसरी अवस्था में राज्य उसकी मुख्य चिन्ता का विषय होता है और तीसरी अवस्था में समस्त मानव जाति के हितों में उसे संतोष मिला पाता है। इस प्रगति को धाने बढ़ाने में इच्छार् और भावनाएँ बहुत बड़ी

भूमिकाएँ धरा करती हैं। बुद्धि-बल जैसे गति प्रदान करता है और बुद्धि की कमी के कारण प्रगति में बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

कॉठ ने परिवार को बुनियादी सामाजिक संस्था माना है और उनका कहना है कि समाज का नियमन मुख्य रूप से धर्म द्वारा होता है और समाज के विकास में परिवार और धर्म अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिकाएँ धरा करते हैं। यद्यपि कॉठ ने परिवार और धर्म को सामाजिक प्रगति के आधारभूत तत्व माना है और बुद्धि-बल की भूमिका को विशेष महत्त्व दिया है तथापि यह कहना समत होना कि उन्होंने सामाजिक प्रगति के दूसरे तत्त्वों को अनदेखा किया है।

राजनीतिक सिद्धान्त

कौट समाजशास्त्र को मध्य में पूर्णतः छोड़ करके बाका राजनीतिक विज्ञान मानते थे और इसलिए, उनकी दृष्टि में राजनीतिक विज्ञान तथा समाजशास्त्र में स्पष्टतया भेद नहीं किया जा सकता। इसके साथ-साथ वे समाजशास्त्र को पूर्ववर्ती राजनीतिक दर्शनों से भिन्न मानते थे क्योंकि इन राजनीतिक दर्शनों में साम्यात्मवादी धारणा का घटपधिक संभाव्य था। उनका कहना था कि राजनीतिक दर्शन वैज्ञानिक होना चाहिए। सिद्धियों पर पहुँचने के लिए वैज्ञानिक तरीके अपनाने ज़रूरी हैं और प्रयोगों तथा तुलनात्मक अध्ययन का सहारा लिया जाना चाहिए। बाहर है कि इस तरह का विज्ञान समाज के सामान्य विज्ञान से भिन्न नहीं हो सकता। कौट ने अपने राजनीतिक दर्शन में मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र और धातार विचार को भी शामिल करके उसे अपने समाजशास्त्र का अंग बनाया। वे यह नहीं मानते थे कि विशिष्ट समाज-विज्ञान वास्तविक विज्ञान है। उनका कहना था कि समाज के विशिष्ट अंगों का अलग-अलग अध्ययन करने की प्रवृत्ति सम्पूर्ण समाज का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाना चाहिए और इस अध्ययन के लिए केवल एक ही विज्ञान का यानी समाजशास्त्र का सहारा लिया जाना चाहिए। उनकी दृष्टि में राजनीतिक विज्ञान भी समाजशास्त्र का ही एक अंग है जिसका सम्बन्ध राज्य के इतिहास और संरचना से है। यद्यपि उन्होंने राज्य और उसके संगठन को कोई अलग-अलग विषय मानकर उनका अध्ययन नहीं किया बल्कि सामाजिक विकास के चरणों अथवा दौरों के रूप में उनका अध्ययन किया। कहने का तात्पर्य यह है कि कौट ने राज्य और उसके संगठनात्मक रूपों को समाज के अन्य सभी अंगों से सम्बन्ध करके देखा। सामाजिक विकास के किसी भी चरण-विशेष का अध्ययन करते समय उन्होंने केवल राजनीतिक संगठन विचारधारणों और प्रवृत्तियों को दृष्टिकोण रखकर धर्मशास्त्र मनोविज्ञान और धातार-विचार आदि सभी चीजों को दृष्टिगत रखा और उनके एक-दूसरे पर पड़ने वाले प्रभावों को भी समाज रूप से महत्त्व दिया।

राज्य और उसके स्वल्प

कौट ने राज्य और उसके स्वल्प का विस्तृत व स्पष्ट विश्लेषण करने की शक्ति नहीं की जिसका परिणाम यह हुआ है कि उनके समाजशास्त्र में समाज राष्ट्र और सरकार आदि के बीच स्पष्टतया स्थापित नहीं हो पाये हैं। वे उत्क्रांतिवादी पूंजीवादी राष्ट्रीय राज्यों के सैद्धांतिक आधारों-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन के अभाव में नहीं पड़े क्योंकि वे सभी समाज पर अपना ध्यान केन्द्रित किया हुआ थे। उनका कहना था कि वे पूंजीवादी राज्य और उनके अस्तित्व वाले साम संगठन प्रायः एक-जैसे ही हैं और उनमें अन्तर केवल यह है कि उनमें से कोई कम टिकाऊ है और कोई अधिक। यद्यपि उनकी व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे राजनीतिक इकाई को समाज के नीतिगत और सामाजिक-व्यवस्थाओं से घटाय करके नहीं देखते थे। उनके समाजशास्त्र में पारिवारिक आधार-विचार सामाजिक इकाई और सामाजिक व्यवस्था आदि समस्त पक्षों का समावेश होने के कारण यह सम्भव नहीं था कि वे केवल राजनीतिक आधारों की ओर ध्यान देते। लेकिन वे यह भी मानते थे कि राजनीतिक संघटन अर्थात् सरकार के अस्तित्व के बिना सामाजिक सम्बन्धों में स्थापित नहीं हो सकता। उनका कहना है कि बिना राज्य समाज के बिना सरकार का अस्तित्व सम्भव नहीं है। ठीक उसी तरह सरकार के बिना समाज का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है और संघटन चाहे छोटा हो और चाहे बड़ा इन दोनों बातों को ध्यान में रखे बहुरै सभी निष्कर्षों पर नहीं पहुँचा जा सकता। एक के अस्तित्व के बिना दूसरे का अस्तित्व अनिर्वाय है, अथवा अस्तित्व के कारण समाज का ही अस्त हो जाएगा।

समाज का कार्य-विभाजन

कौट का कहना है कि एक वर्ष द्वारा दूसरे वर्ष की मातृहृती समाज में कार्य-विभाजन का ही सामाजिक परिणाम है। जिस अनुपात में कार्य-विभाजन की प्रक्रिया पूर्ण होती जाती है उसी अनुपात में मातृहृती की प्रक्रिया सामाजिक रूप से मातृ होती जाती है। अन्त-अन्तय तरह के काम करने वाले लोग उन लोगों की मातृहृती से हो जाते हैं जिनके हाथ में सामान्य निबंधन और निर्देशन का कार्य होता है। यानी उन्हें अपने ऊपर वाले वर्ष की मातृहृती में काम करना पड़ता है। सामाजिक कार्य-कारणों का निर्माण और निर्देशन करने वाली अस्तित्वों सरकार का जन्म देती हैं। पिछले सामाने में कुछ इस तरह-वितर राजनीतिक व्यक्ति को एक अर्थ केन्द्रित करने में मुख्य भूमिका धरा करती था।

यस उच्च समय युद्ध सत्ता का माध्यम था। लेकिन अब सामाजिक अनुशासन और सरकारी नियंत्रण का माध्यम उद्योग-धर्म्य है। उद्योग-धर्म्यो से कुछ सोय मायेस देना सीखते हैं और सेप धोग आजा-वासन करना। सार्वजनिक धर्मो और प्रशासन म भी यही बात सागु होने लगती है। यह स्थिति मानव प्रकृति के विपरीत कदापि नहीं है। यद्यपि हुक्म पसाने की इच्छा प्राय सभी लोगों में होती है, लेकिन अधिकतर लोग निर्दोषन का बोझ दूसरों क धिर पर छोड़ देना ही अपने लिए बचावा सुविधाजनक मानते हैं। पर राज्य का आभार केवल कार्य-विभाजन और प्रयासों का समन्वय नहीं है। अस्तित्वगतता सरकार का आभार बल प्रयोग होता है और बल प्रयोग कर सकने की क्षमता पर ही सरकारी सत्ता का अस्तित्व निर्भर करना है। कौट का कहना है कि राज्य के लिए एक धर्म्य धीक की भी आवश्यकता पड़ती है और वह धीक है सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था अथवा समाज का नियमन करने वाली सामान्य शक्ति। यद्यपि राजनीतिक सत्ता बुनियादी रूप से भौतिक शक्ति पर आधारित होती है तथापि सामाजिक नियमन के लिए तीन चीजों का होना अनिवार्य है—भौतिक निर्दोषन भौतिक अधिकार और सामाजिक नियंत्रण। ये तीनों धीजें मिलकर उच्च शक्ति को जन्म देती हैं जो समाज का सामान्य रूप से नियमन करती है।

समाज का नियमन

कौट का कहना है कि समाज का नियमन करने वाली यह शक्ति वस्तुतः धर्म र्म निहित होती है, इसलिए उच्च सत्ता के सञ्चालन का वास्तविक धर्मधार्यो अथवा पुरोहितों पर होना चाहिए। राज्य की पूर्णता के लिए समाज में तीन धर्मधार्यो का होना आवश्यक है। पहली धर्म्यी है परिवार जो कि भावनाओं और प्रेम पर आधारित होता है। दूसरी धर्म्यी है राज्य जोकि कार्यधर्मता या कार्यवाहियों पर आधारित होता है और तीसरी धर्म्यी होती है धर्म जोकि मुक्तताया बुद्धि पर आधारित होता है, लेकिन जोकि वास्तव में इन तीनों धर्मधार्यो में समन्वय स्थापित करता है। ये तीनों धर्मधार्यो मानव-अस्तित्व के तीन बुनियादी धर्म-धर्मधार्यो के अनुक्रम होती हैं। मानव-अस्तित्व के ये बुनियादी धर्म धर्मधार्य हैं—भावना धर्म और बुद्धि।

सामाजिक इकाइयों

कौट का कहना है कि समस्त सामाजिक धर्म-धर्मधार्यो क निर्दोषन और देख-रेख का काम धर्म के धर्मधार्यो हो जाने पर अत्याचारी राज्यो का धर्म हो

पेगा और भ्रष्टाचार का बहुत उत्पन्न हुए बड़े सामाजिक संघर्ष में पूर्णता या सकेमी। उस ह्रास में वर्तमान राजनीतिक राज्य के स्थापन पर नवों के ऐसे घमूह हूँ जो समान मानव-धर्म के माध्यम से एक-दूसरे के साथ बंधे हुए हों और उनका नियमन उस धर्म के प्राचारों द्वारा होना। उस हासत में विघास राजनीतिक इकाइयों भी बन सकेगी। पर न तो भ्रष्टाचार हो सकने का बहुत रहेगा और न तानाशाही कायम हो सकने का। उस ह्रास में इन राजनीतिक इकाइयों की सीमाएँ स्वाभाविक होंगी और यूनिक वे स्वीकृत होंगी यत वे अपेक्षाकृत स्वाबा टिकाऊ भी होंगी। वे राज्य न तो कृत्रिम हूँ और न उनका आधार हिंसा होगी। उन राजनीतिक इकाइयों में केवल वे ही लोग हूँ अपने चारों तरफ के देहाती क्षेत्रों सहित नगर ही ऐसी सबसे बड़ी राजनीतिक इकाई हो सकती है जिसका आधार बस भ्रष्टाचार और हिंसा न हो। इन नगरों के समूहों को एकजुट करके उन्हें वित्तीय राजनीतिक इकाई का रूप देना शक्य है ही हो सकता है। उस हासत में नगर एक-दूसरे के साथ नैतिक पना होने पर ही सामाजिक संघर्ष में पूर्णता या सकेमी और ऐत समाज में वे ही ही तत्त्व मौजूद होंगे जो राज्य की स्थापना के लिए अनिवार्य हैं यानी—

बौद्धिक निर्दोषता नैतिक सहमति या अधिकार और सामाजिक नियंत्रण।

अध्याय ४ इतिहास-दर्शन

कौट ने समाज की उत्पत्ति और राज्य की व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टिकोण से की की है। उन्होंने यह बताया है कि मानवता को अपने विकास में किन-किन शीर्षों से होकर गुजरना पड़ा है और उसके विकास की भरम भरस्था क्या होगी? इतिहास की व्याख्या करते समय उन्होंने आर्थिक सम्बन्धों तथा अन्य तथ्यों का उल्लेख नहीं किया है।

सामाजिक विकास के ऐतिहासिक काल

उनका कहना है कि सामाजिक मूलभूत की मूल सामाजिक विकास भी मानव-अस्तित्व के विमुखी कार्य-क्रमापों—भावना कार्य और बुद्धि—की उत्पत्ति है। भावना नतिवृत्ता का आधार होती है और उसे तीन अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ता है। पहली अवस्था यह है जब कि उसकी भावनाएँ मुख्यतया परिवार तक सीमित रहती हैं; दूसरी अवस्था यह है जब कि उसकी भावनाओं का क्षेत्र राज्य होता है; और तीसरी तथा अन्तिम अवस्था यह है जब कि सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए उसकी बड़ी भावनाएँ होती हैं जो कि उसके स्वयं के परिवार के लिए। इस नियम को ऐतिहासिक कालों पर लागू करके कौट ने कहा है कि प्राचीन युग में मनुष्य की भावनाएँ पारिवारिक और नागरिक ही मध्य युग में वै सामूहिक की और वैज्ञानिक युग में विश्वव्यापी। इस प्रकार मनुष्य की प्रवृत्तियाँ अपने विकास में तीन अवस्थाओं से होकर गुजरी। इस भावनात्मक विकास का नैतिक विकास के साथ गहरा सम्बन्ध है और नैतिक विकास को भी इन्हीं तीन अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा। बौद्धिक विकास को भी इन्हीं तीन अवस्थाओं—पदार्थ-विद्या प्राप्यात्मिक ज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान—से होकर गुजरना पड़ा। मनुष्य के विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया में भावना ने अविश्वस्यक तत्त्व के रूप में कार्य की प्रवृत्ति के माध्यम के रूप में मूर्तिकार्य घटा की है। कौट ने अपने इतिहास-दर्शन को केवल बौद्धिक विकास के नियमों पर आधारित नहीं किया है बल्कि स्वयं बौद्धिक विकास में नैतिक और प्राप्यात्मिक तत्त्वों के योगदान को स्वीकार किया है।

सामाजिक विकास का काल-विभाजन
 कौल ने सन् १३० से पूर्व के काल को प्राचीन काल या पारम्परिक-विद्या-काल की संज्ञा दी है और उसके बाद सन् १८० तक के काल को प्राध्यात्मवादी काल (Positive Period) कहा है। पारम्परिक-विद्या-सम्बन्धी काल को भी उन्होंने तीन भागों में बाँटा है। उनका कहना है कि इस काल के प्रथम भाग में परिवार का एक सत्त्वा के रूप में प्राबुल्य हुआ जिसके कारण बाद में राज्य का विकास सम्भव हो सका। इसी दौर की सबसे बड़ी राजनीतिक विशेषता थी मध्य-युगीन राज्य का निर्माण और भू-सम्पत्ति का एक सत्त्वा के रूप में विकास। इस दौर में जाति व्यवस्था का भी विकास हुआ पर सामरिक जीवन में पूर्णता न पा सकने के कारण धर्म का विकास सम्भव न हो सका।

सामन्तवाद की पृष्ठभूमि

इस प्रथम काल के द्वितीय भाग को रोमन काल कहा जा सकता है। इस दौर में पितृभूमि और मातृभूमि की पारस्परिकता का विकास हुआ। दूसरे, कुछ ने जो प्रथा परिवर्तित होकर धर्म-मुलामी प्रथा बनी और साम्राज्यों के स्थान पर छोटे राज्यों की संकुचत राज्य-व्यवस्थाएँ कायम हुईं। इन सबके कारण सामन्तवाद का विकास सम्भव हो सका।

धार्मिक युग

प्रथम काल के तीसरे और अन्तिम भाग में धर्म का विकास हुआ और धर्म की स्थापना हुई। इस दौर में धर्मियों को नजात और धर्मियों को राहत मिली। पर इस दौर में एक धर्म तो धर्मों का स्वल्प विरचम्पायी या धर्म हूँटी और राजनीतिक सत्ताएँ स्वायत्त थी। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म और राज्य एक-दूसरे से बिलकुल अलग-अलग हो गये। इस दौर में यह भी हुआ कि युद्ध ने आकाशक (Idealistic) से रक्षात्मक स्वरूप ग्रहण किया। महिलाओं के प्रति धारसंबन्धितापूर्ण रव्य अपनाया गया और मानवता की उपासना शुरू हुई। धर्म-मुलामों को नजात मिली और नास्तिक व धर्मिक का विभेद कायम हुआ।

प्राध्यात्मिक काल

पश्चिमी जर्मनी होने से सन् १३०० में द्वितीय काल का प्रारम्भ हुआ जिसका विकास का प्राध्यात्मिक काल कहा जा सकता है। इस काल में धर्म का विकास

मे घाठ ठरवों का बिरोध कम से हाव रहा है—महिलाओं का प्रभाव कसा की उन्नति राज्य का बिकास बैज्ञानिक प्रगति धौद्योगिक बिकास, वर्ष के प्रभाव में कमी कानूनों का बिकास धौर धाध्यात्मबादी दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत की गई बिचारधारार्थ । इस काम में उद्योग धर्मों ने धपमी बड़ें जमा की धौर उनका बिकास हुआ क्योकि मानिक धौर मजदूर, बोनां ही यह महनुस करने लये वे कि धर्म बनों के बिरोध में जनका समाम हित है । सरकारों ने भी उद्योगों को संरक्षण धौर प्रोत्साहन प्रदान किया धौर इसकी एक बजह यह भी थी कि धौद्योगिक बिकास से सरकारों की धाय बढ़ती थी जितसे वे धपने सैनिक खर्च की पुष्टि कर सकये वे । इसका परिणाम यह भी हुआ कि चासकों में प्रसासनिक उत्तरदायित्व की भावना पैदा हुई । राजनीति में भी उद्योगों का बलम सुक हो गया धौर धो धम्यता धब तक मुख्यतया सैनिक की बह टंडी से धौद्योगिक बनने लगी । फ्रांसीसी क्रांति ने बिपटन की प्रक्रिया का धोमसेध किया धौर इस तरह हीसरे मागी बैज्ञानिक कास क प्रारम्भ क लिए पुष्टभूमि तैयार हुई ।

बैज्ञानिक युग

कौल का कहना है कि बैज्ञानिक युग (पॉजिटिव पीरियड) का प्रारम्भ उनक (कौल के) समय से पूर्व हो चुका था । कई महत्वपूर्ण बैज्ञानिक प्रक्रियाएँ शुरू हो चुकी थी धौर कई बाउलिक समाजशास्त्र को दार्शनिक धाधार प्रदान कर चुके थे । कौल ने समाजशास्त्र के बुनियादी नियमों की खोज की धौर समाजशास्त्रीय पद्धति को जन्म दिया । इस तरह बिज्ञानवाद (पॉजिटिविज्म) के लिए बौद्धिक पुष्टभूमि तैयार हो लगी । १८३१ में टानाघाही के प्राबुर्माण ने राजनीतिक क्षेत्र में भी बिज्ञानवाद क सिध पुष्टभूमि तैयार कर दी धौर इस तरह एक नये युग का धोमणोष हुआ ।

यहाँ यह उल्लेख कर देना धावश्यक है कि कौल के उपर्युक्त ऐतिहासिक बिस्लेषण मुख्यतया यूरोप की ऐतिहासिक घटनाओं पर धाधारित है । उन्होंने काम-बिभाजन में भी केवल पश्चिम के इतिहास को धृष्टिकर रखा है धौर वहीं की घटनाओं का उल्लेख किया है ।

सामाजिक पुनर्गठन

कौट ने सामाजिक पुनर्गठन की योजना भी प्रस्तुत की है और बुकि उस योजना का फ़ाँस की तत्कालीन स्थिति से नहरा सम्बन्ध था अतः सामाजिक पुनर्गठन के सम्बन्ध में उनके विचारों का समझना के लिए फ़ाँस की तत्कालीन राजनीतिक व धार्मिक स्थिति को ध्यान में रखना पड़ेगा।

सामाजिक व धार्मिक स्थिति

कौट के समय में फ़ाँस की पुरानी सामाजिक व्यवस्था विघटित हो रही थी। असीसी काश्त और प्रोचोबिक काश्तियों ने एक नये युग का भीरुगुण्ड निर्यात था। असीसी समाज एक नया स्वरूप धारण कर रहा था। यह स्पष्ट था कि भावी समाज-व्यवस्था पूँजीवादी व प्रोचोबिक होगी। कौट इस परिवर्तन को ही नहीं देख रहे थे बल्कि उन्होंने उन सुधारों को भी देख लिया था जो इस नये समाज में होंगे।

पूँजीवादी समाज की आलोचना

कौट ने पूँजीवाद की कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है कि उसकी राजनीतिक आस्थाएँ अज्ञेयहीन हैं। उनका इस बात से कोई वास्ता नहीं है कि सत्ता का उपयोग किस अज्ञेय से और किस रूप में किया जाना चाहिए। उनका राजनीतिक अज्ञेय तो केवल सत्ता हासिल करना है। यही कारण है कि वह समझता है कि संसदीय शासन की स्थापना हो जाने मात्र से काश्त (असीसी) काश्त) पूर्ण हो गई है। इस अज्ञेय को मारने वाला मध्यम वर्ग सामाजिक पुनर्गठन के प्रति उत्तना ही भयभीत है जितना कि पुगना जन्म वर्ग उसके प्रति भयभीत रहता था। यह पूँजीवादी वर्ग पुरानी व्यवस्था की उन बातों को काममें रखना चाहता है जिसे यह आस्थाघित हो जाय कि जनता शासन के आदेशों के समक्ष घिर चुकाती रहती। यह राजनीतिक नेताओं से किसी विधिष्ट कर्तव्य की अपेक्षा नहीं करता। यही कारण है कि सर्वहारा-वर्ग में कोई सुधार नहीं

हो सका है और उनकी हासल बराबर वियकृती नहीं है। यह पूंजीवादी वर्ग समझता है कि माथा सोपों को उन्हें म्यामोपित अधिकार और समाज में सम्मानपूर्वक स्थान देने बखेर, धार्मिक समाज में अतिरिक्त कास तक बन्धी बनाकर रखा जा सकता है। इस पूंजीवादी वर्ग की पूंजी विस्तने सोनों को नजात बिलाने में माम्मम का काम किया है अब उनके समय का माम्मम बन नहीं है। फलतः मशीनों का आविष्कार सर्वहाय-वर्ग के लिए नहीं मुसीबतों का कारण बना है।

धौद्योगिक और सामाजिक नैतिकता

कौशल ने पूंजीवाद के उद्गमन की सिफारिस नहीं की है। उनका कहना है कि इस दुरवस्था का कारण नहीं धौद्योगिक व्यवस्था की धौद्योगिक और विलीय टेक्नीक नहीं है, बल्कि उसका कारण यह है कि नहीं धौद्योगिक और सामाजिक नैतिकता का विकास नहीं किया जा सकता है— ऐसी नैतिकता जो धार्मिक धौद्योगिक व्यवस्था को नियमित व अनुशासित रख सके। इस बात में कोई भुलाई नहीं है कि धौद्योगिक प्रविष्ट कुछ सोनों के हाथ में सीमित है। लेकिन यदि व प्रगती इस सत्ता का उपयोग समय करने के लिये करते हैं तो यह बुरा है। यदि पूंजीपति यह भसी प्रकार जानते हों कि उनका कर्तव्य क्या है और यदि वे उन कर्तव्यों का पालन करें तो पूंजीवाद में कोई भुलाई नहीं है। जनता को इस बात से कोई संशय नहीं है कि पूंजी किन सोपों के हाथ में है बखर्त वे उसका उपयोग पूरे समाज की समझ के लिये करें। पूंजीवाद की सबसे बड़ी कमी यह है कि उसने किसी नैतिक व्यवस्था को जन्म नहीं दिया है। धौद्योगिक सम्बन्ध नैतिक नियमों पर आधारित नहीं है। अतः पूंजी और समय के बीच बराबर संबंध बसता रहता है। इस भुलाई को एक नहीं धौद्योगिक और सामाजिक नैतिकता विकसित करके ही दूर किया जा सकता है और उसके लिये नैतिक (पॉजिटिव) शिक्षण-व्यवस्था को धपनाना पड़ेगा।

सामाजिक पुनर्वसन का आधार

कौशल ने समाजवाद का समर्थन नहीं किया। उनका कहना है कि राजनीतिक कार्यवाहियों द्वारा कुछ सोपों के हाथों में पूंजी को इकट्ठा होने से रोका जा सकता है, लेकिन ऐसा करने पर धौद्योगिक कार्य-क्रमापों का विकास न हो सकेगा। सामाजिक पुनर्वसन का आधार राजनीतिक या धार्मिक न होकर नैतिक होना चाहिये। और अभी यह पुनर्वसन स्थायी हो सकेगा। पूंजीपतियों की पूंजी

छीनने के स्थान पर यह उपाय ज्यादा कारगर साबित होगा कि उनमें भी यह नैतिकता चलात्म की बाय कि वे अपनी पूंजी का उपयोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए न करके पूरे समाज की भलाई के लिए करें। इसके लिए सामान्य नैतिक शिक्षा नितान्त आवश्यक है। पर इस आवश्यकता की पूर्ति किसी-न-किसी प्राध्यापिक सत्ता के स्थापित होने पर ही सम्भव है। प्राध्यापिक सत्ता के निर्दोष में सामान्य नैतिक शिक्षा की व्यवस्था हो जाने पर इस बात का कोई भय नहीं रह जायगा कि पूर्वीपति-बर्ग बुराई पर जुम्न कर सकेगा। पूर्वीपति अपने को बतता के मन का नैतिक सारक्षक मानये। उनसे यह अपेक्षित होना कि वे पहले नैतिक शिक्षा हासिल करे और उसके बाद सबकी भलाई के लिए काम करे। कौल का विश्वास था कि सामाजिक नैतिकता विकसित करके ही ऐसी शक्ति उत्पन्न की जा सकती है जो पूंजीवादी समाज की समस्त समस्याओं को सतोपजनक रूप से हल कर सके और वनों के भापसी संघर्षों को समाप्त कर सके।

सामाजिक शक्तियों का बर्णिकरण

कौल ने मानव-व्यक्तित्व का जिन तीन बिनामों में विभाजित किया है यानी भावना, कर्म और बुद्धि उन्हीं के आधार पर उन्होंने सामाजिक शक्तियों को तीन विभागों में विभाजित किया है—नैतिक शक्ति जो कि कर्म पर आधारित होती है और जिसकी अभिव्यक्ति संस्था तथा सम्पत्ति के रूप में होती है। दूसरी नैतिक शक्ति जो कि विभिन्न जातियों के रूप में अभिव्यक्त होती है और तीसरी नैतिक शक्ति जो कि प्रेम व सहृदयता पर आधारित होती है और जिसकी अभिव्यक्ति जाजाओं तथा जाजा-पालन के रूप में होती है। यह भाजा के सफ़रने का अधिकार बरिज द्वारा प्राप्त होता है और जाजा-पालन की भावना वृत्त-बन्धित होती है। सामाजिक सपठन में इन तीनों ही कर्मों का सही अनु-पान में समन्वय होना चाहिये। अतः ये तीनों कार्य सामाजिक पुनर्निर्माण के आधाररूप हैं और कौल ने सामाजिक पुनर्निर्माण-सम्बन्धी सिद्धान्तों को इसी तीन शक्तियों के समुचित समन्वय पर आधारित किया है। वहि हम किसी भी राज्य के बुनियादी सामाजिक बनों पर तजर बालें तो हम देखेंगे कि ये बने तीन तरह के हैं। पहला बने पुरोहिता या धार्मिक शाखाओं का है जो हमारी बार छाओं का निर्दोषन करता है। दूसरा बने महिमाओं का है जो हमें प्रेम व सहानु-भूति के सिध प्रेरित करता है। और तीसरा बने जन मैठाओं का है जो व्यवहार जयतु में हमारे कार्य-क्रमाओं का मने ही व पुन-सम्बन्धी हों प्रबन्ध उद्योग सम्बन्धी निर्दोषन करता है। जन-साधारण इन तीनों ही बनों से पुनः हुषा होता है।

मस्त कौत

भाषी समाज की परिकल्पना
 कौत ने जिस भाषी समाज की परिकल्पना प्रस्तुत की है उसके शासन का
 वास्तविक इन्होंने दो वर्गों पर रखा है—पॉजिटिव (बैज्ञानिक) धर्म के पुरोहितों
 और प्रौद्योगिक नेताओं पर। उनका कहना है कि धार्मिक निर्देशन तथा नैतिकता
 का पालन करने का वास्तविक पॉजिटिव (बैज्ञानिक) धर्म के नेताओं पर होगा
 बाह्ये घोर धार्मिक संवित का स्वाम प्रौद्योगिक संवित को ग्रहण करना चाहिये।
 इस समाज में पुरोहितों का स्वाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण होगा। इन पुरोहितों
 प्रथम धार्मिक नेताओं से कौत का तात्पर्य समाजशास्त्रियों से है। वे समाज
 के वैज्ञानिक निदेशक प्रथम संचालक के रूप में होंगे और उनके चुनाव का
 आधार उनकी विद्वान् योग्यता तथा समाजशास्त्र के सिद्धान्तों की जानकारी
 होगी। समाजशास्त्र के सिद्धान्त ही मनुष्य के धर्म होंगे। उन सिद्धान्तों की
 व्याख्या करने का वास्तविक इन्हीं पुरोहितों पर होगा। इस नव मानव-धर्म यानी
 वैज्ञानिक समाजशास्त्र (पॉजिटिविज्म) का निर्देशक-सिद्धान्त प्रेम होना उसका
 आधार होगी सुखदशा और उसका उद्देश्य होना प्रेम होना उसका
 कार्य-विशेष के लिये प्रेषित किया जायगा और उनसे साहस और धैर्य प्राप्त
 वे सभी कुछ प्रेषित होंगे जो उनके कर्तव्य-शासन के लिये आवश्यक हों।

पुरोहितों के भाषी संघटन की योजना

पुरोहितों का संघटन किस प्रकार का हुआ चाहिए, इसके सम्बन्ध में भी
 कौत ने विस्तृत योजना प्रस्तुत की है। उदाहरण के लिए उन्होंने कहा है कि
 विभिन्न यूरोप के लिए करीब २० हजार पुरोहितों (Priests) की आवश्यकता
 है। उनका प्रथम एक महापुरोहित प्रथम बड़ा पादरी होना जिसका सब
 मुकाम पेरिस में होना चाहिए। उसकी सहायता करने के लिए ७ राष्ट्रीय प्रमुख-
 पुरोहित या पादरी होना चाहिए और इस धर्म का जैसे जैसे विकास होता जाय
 जैसे-जैसे राष्ट्रीय प्रमुख-पुरोहितों की संख्या बढ़ायी जानी चाहिए। जब सम्पूर्ण
 विश्व इस धर्म के प्रसंगत या नाम उस समय प्रमुख-पुरोहितों की कुल संख्या
 ४६ होनी चाहिए। १ हजार परिवारों के लिए एक मन्दिर होना चाहिए और
 प्रत्येक मन्दिर के लिए एक पुरोहित या पादरी। समस्त पुरोहितों को निश्चित
 दर पर वेतन मिलना चाहिए, लेकिन वह वेतन दर इतनी कम होनी चाहिए कि
 पुरोहित बनने के लिए कोई धार्मिक कार्यक्रम न रहे और कबल वे ही लोग पुरो
 हित बनने के लिए सामने पायें जो समाज की सेवा करना चाहते हों।

पुरोहितों के कर्तव्य व दायित्व

यहाँ तक इन पुरोहितों के कर्तव्य व दायित्वों का सम्बन्ध है, कौट का कहना है कि उन्हें धिम्मा का संभासक होना चाहिए। उन्हें समाज के प्रत्येक व्यक्ति को योग्यताओं तथा गुणों के बारे में व्यक्तिगत जानकारी हासिल करके इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज में उसकी योग्यता के अनुरूप काम व परामिते। उन्हें यह काम सुझावों द्वारा तथा समझ-बुझकर करना चाहिए, न कि धोर-जबरजस्ती द्वारा। व्यक्तियों के सुखों तथा उनके समताओं का सम्बन्ध समाना बढ़ा कठिन काम है। व्यक्तियों के सुखों तथा के बारे में तब तक सही अनुमान लगा पाना बहुत ही मुश्किल होता है जब तक कि वह किसी कार्य-विषय को पूरा करके अपनी क्षमता का परिचय न दे वे तथापि कौट पुरोहितों से यह प्रार्थना करते हैं कि वे इन कठिनाइयों के बावजूद प्रत्येक व्यक्ति के बारे में प्रारम्भिक रूप में भी सही अनुमान लगा सकने के योग्य होंगे। समाज में एकजुटता (Solidarity) की भावना उत्पन्न करना भी इन पुरोहितों का ही काम होगा। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के प्राचरण की देख रेख करने का काम भी इन पुरोहितों का ही होगा। उन पर यह जिम्मेदारी होगी कि वे लोगों को उनके सामाजिक कर्तव्यों के बारे में बताते रहे और जो लोग उन कर्तव्यों का पालन न करें उन्हें वे समझाएँ-बुझाएँ और प्रावश्यकता पड़ने पर चेतावनी भी दें। इन पुरोहितों में विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान भी होना चाहिए और वे इस योग्य होना चाहिए कि सभी सामाजिक मामलों में राय दे सकें। लेकिन इन पुरोहितों के पास मौखिक शक्ति कहीं नहीं होनी चाहिये। उनकी शक्ति का आधार नीतिगतता व बुद्धि होनी चाहिए। उन्हें अपने प्रभाव का उपयोग धिम्मा नसीहत तथा उपदेशों के माध्यम से करना चाहिए। उनके परिचय प्राचरण और बोद्धिकता का स्तर इतना ऊँचा होना चाहिए कि लोग उनके उन गुणों के कारण उनके शक्त बन जायें और उनकी बातों को माना करें।

भौतिक व प्रौद्योगिक शक्ति

यहाँ तक भौतिक या प्रौद्योगिक शक्ति का सम्बन्ध है वह मानिक बर्तन में निहित होनी चाहिए। मानिक बर्तन से कौट का तात्पर्य पृथिवीय बर्तन है जिसमें बैकर (महाजन या लेन-देन का काम करने वाले) व्यापारी और उत्पादक (पानी कारखाने के मानिक) शामिल हैं। किसानों को भी कौट न इसी बर्तन में रखा है। इसके बाद उम्होने इन उपबर्तनों के लिए, उनके प्रभाव के अनुरूप समय समय स्थान प्रदान किया है। उम्होने सबसे ऊँचा स्थान बैकरों (महाजन) को

क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र में उनका प्रभाव सर्वाधिक होता है। उनका कि शासन में भी महाबलों के पास सबसे अधिक शक्ति होनी चाहिए। मासिक के पास केवल उतने ही उद्योग होने चाहिए, जितने का निर्देशन विद्यमान रूप से कर सके। इन मासिकों को यह अधिकार होना कि वे ग्रामदली प्रथम प्रथम पारिवारिक स्वयं निर्धारित कर सकें। कानून दृष्टि से उन्हें यह अधिकार होगा कि वे ग्रामदली जितनी भी अधिक रखना चाहें लेकिन उनसे यह अपेक्षित होगा कि वे व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रवृत्ति का भी भलाई को ब्यापक महत्त्व देने और अपनी ग्रामदली निर्धारित करते नये सोम का संवरण करत। उन्हें अपने इस सामाजिक कर्तव्य के प्रति जागृत करने का उत्तरदायित्व पुरोहितों पर होना।

सामाजिक न्याय

कौट की यह मांग्यता है कि इस तरह की सामाजिक व्यवस्था होने पर एक मोर तो सभी लोगों के साथ सामाजिक न्याय हो सकेना और दूसरी ओर उद्योग धर्मों की कार्य-कुशलता पर कोई बुरा प्रसर न पड़ना। कारखाने के मासिकों को मासिक बने रहने का पूरा अधिकार होना और दूसरा ओर मजदूरों को अपने पारिवारिक जीवन को मुझी बनाने के समस्त साधन प्राप्त करने का अधिकार होना। कारखानों के मासिक प्रवकाश प्रहृण से सात वर्ष पूर्व अपनी सम्पत्ति तथा कारखाने का उत्तराधिकारी नामजब कर सकेंगे। वे किसी भी व्यक्ति को नामजब करने के लिए 'पुलत' स्वतन्त्र होंगे फिर भी उन्हें अपनी इस नामजबकी की सार्वजनिक घोषणा करनी पड़नी और उनसे अपेक्षित होना कि वे ऐसे व्यक्ति को नामजब करें जो जमता को पसन्द हो।

महिलाओं का स्थान

कौट ने अपनी योजना में महिलाओं को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। उनका कहना है कि जिस तरह सार्वजनिक नैतिकता का दायित्व पुरोहितों पर होना ठीक उसी तरह पारिवारिक नैतिकता का दायित्व महिलाओं पर होना चाहिए और परिवारों का निर्देशन भी महिलाओं द्वारा ही होना चाहिए। के वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद की मनाही हानी चाहिए और विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं होनी चाहिए। उस समाज में वैदिक सम्बन्धों की समस्त जटिलताएँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी क्योंकि दुनिया के सभी भाग

पुरोहितों के कर्तव्य व दायित्व

वहाँ तक इन पुरोहितों के कर्तव्यों व दायित्वों का सम्बन्ध है, कौतूहल का कहना है कि उन्हें शिक्षा का संभालक होना चाहिए। उन्हें समाज के प्रत्येक व्यक्ति की योग्यताओं तथा गुणों के बारे में व्यक्तिगत जानकारी हासिल करके इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज में सचकी योग्यता के अनुकूल काम व पद मिले। उन्हें यह काम सुझावों द्वारा तथा समझ-बुझकर करना चाहिए, न कि धोर-बबरबस्ती द्वारा। व्यक्तियों के सुखों तथा उनकी समस्याओं का ध्यान रगाना बड़ा कठिन काम है और किसी भी व्यक्ति के बारे में जब तक सही अनुमान लगा पाना बहुत ही मुश्किल होता है जब तक कि वह किसी कार्य-विशेष को पूरा करके अपनी क्षमता का परिचय न दे दे, तथापि कौतूहल पुरोहितों से यह प्रार्थना करते हैं कि वे इन कठिनाइयों के बावजूद प्रत्येक व्यक्ति के बारे में प्रारम्भिक रूप में भी सही अनुमान लगा सकने के योग्य हों। समाज में एकजुटता (Solidarity) की भावना जगाना करना भी इन पुरोहितों का ही काम होना। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के पाठ्यक्रम की देख-रेख करने का काम भी इन पुरोहितों का ही होना। उन पर यह जिम्मेदारी होगी कि वे लोगों को उनके सामाजिक कर्तव्यों के बारे में बताते रहे और जो लोग उन कर्तव्यों का पालन न करें उन्हें वे समझाएँ-बुझाएँ और प्रोत्साहित करने पर बेठावनी भी हैं। इन पुरोहितों में विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान भी होना चाहिए और वे इस योग्य होने चाहिए कि सभी सामाजिक मामलों में राय दे सकें। लेकिन इन पुरोहितों के पास भौतिक व्यक्ति कठई नहीं होनी चाहिये। उनकी शिक्षा मसीहवादी तथा उपदेशों के माध्यम से करना चाहिए। उनके धर्म-प्राथम्य रखे और बोद्धिकता का स्तर इतना ऊँचा होना चाहिए कि लोग उनके उन सुखों के कारण उनके भक्त बन जायें और उनकी बातों को माना करें।

भौतिक व धार्मिक शक्ति

वहाँ तक भौतिक या धार्मिक शक्ति का सम्बन्ध है वह मानिक बर्न में निहित होनी चाहिए। मानिक बर्न से कौतूहल का उत्पन्न पूँजीपति बर्न से है, जिसमें बेकर (महाजन या सैन-बैन का काम करने वाले) व्यापारी और उत्पादक (यानी कारखाने के मानिक) शामिल हैं। किसानों को भी कौतूहल न इसी बर्न में रखा है। इसके बाद उन्होंने इन उपबर्णों के लिए, उनके प्रभाव के अनुकूल धर्म-धर्म स्थापना प्रदान किया है। उन्होंने सबसे ऊँचा स्वाम बेकरों (महाजन) को

दिया है क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र में जनका प्रभाव सर्वाधिक होता है। उनका कहना है कि शासन में भी महाजनों के पास सबसे अधिक सत्ता होनी चाहिए। प्रत्येक मासिक के पास केबल उतने ही उद्योग होने चाहिए, जितने का निर्देसन वह व्यक्तिगत रूप से कर सक। इन मासिकों को यह अधिकार होना कि वे अपनी ग्रामदली प्रकृता अपना पारिष्मिक स्वय निर्धारित कर सक। कानून की दृष्टि से उन्हें यह अधिकार होना कि वे ग्रामदली जितनी भी अधिक रखना चाहें रहें लेकिन उनसे यह अपेक्षित होना कि वे व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रेम्ता जनता की भलाई को क्याया महत्त्व देने और अपनी ग्रामदली निर्धारित करते समय शोभ का संवरण करय। उन्हें अपने इस सामाजिक कर्तव्य के प्रति जाम रूप रखने का उत्तरदायित्व पुरोहितों पर होगा।

सामाजिक न्याय

कौट की यह भाष्यता है कि इस तरह की सामाजिक व्यवस्था होने पर एक ओर तो सभी लोगों के साथ सामाजिक न्याय हो सकता और दूसरी ओर उद्योग धर्मों की कार्य-कुशलता पर कोई बुरा प्रसर न पड़ेगा। कारखाने के मासिकों को मासिक बने रहने का पूरा अधिकार होगा और दूसरे ओर मजदूरों को अपने पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने के समस्त साधन प्राप्त करने का अधिकार होगा। कारखानों के मासिक प्रकृता प्रदत्त से सात वर्ष पूर्व अपनी सम्पत्ति तथा कारखाने का उत्तराधिकारी नामाङ्क कर सकेंगे। वे किसी भी व्यक्ति को नामाङ्क करने के लिए पुर्युत स्वतन्त्र होवे फिर भी उन्हें अपनी इस नामाङ्कनी की सांबन्धनिक बोधत्या करनी पड़ेगी और उनसे अपेक्षित होना कि वे ऐसे व्यक्ति को नामाङ्क कर जो जनता को पसन्द हो।

महिलाओं का स्थान

कौट ने अपनी योजना में महिलाओं को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। उनका कहना है कि जिस तरह सांबन्धनिक प्रतिकृता का दायित्व पुरोहितों पर होगा ठीक उसी तरह पारिवारिक नैतिकता का दायित्व महिलाओं पर होना चाहिए और परिवारों का निर्देसन भी महिलाओं द्वारा ही होना चाहिए। परिवार में महिलाओं की सत्ता प्राप्तासिद्ध करण के लिए कौट ने यह कहा है कि वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद की मनाही होनी चाहिए और विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं होनी चाहिए। उस समय में वैदेशिक सम्बन्धों की समस्त बहिलवार्थ स्वतः समाप्त हो जायेंगी क्योंकि दुनिया के सभी लोग

१५६

समान सिद्धान्तों के अनुयायी होते । इस समाज में साक्षियों के साथ कोई युक्त
 स्यादती नहीं हो सकेगी क्योंकि साक्षकों को पुरोहितों के उपदेशों के अनुसार
 प्रारण करना पड़ेगा । इस समाज में अधिकारों की प्रवेष्टा कर्तव्यों को महत्त्व
 दिया जाएगा पर साक्षियों का शासन में कोई हाथ न होगा । न तो चुनाव हुआ
 करे और न संसदीय सरकार होगी ।

सामाजिक विकास की प्रक्रिया

कौल की यह मान्यता थी कि सामाजिक विकास की मूल प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक नियमों के अधीन हैं और समाज को अपने विकास के लिए सुनिश्चित सोपानों (घबस्ताघों) से होकर गुजरना पड़ता है। इन प्राकृतिक नियमों में मूलभूत परिवर्तन कर पाना मनुष्य के बस के बाहर है। लेकिन दूसरी ओर यह भी सही है कि मनुष्य अपने बुद्धि-बल से सामाजिक विकास की प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान कर सकता है और सीमित हद तक उसका निर्बंधन भी कर सकता है। पर वह यह भी ठीक कर सकता है जब सामाजिक विकास की प्रक्रिया को ठीकता से जाने के लिए प्रयास करे। अतः सामाजिक विकास के प्राकृतिक नियमों की आवश्यक है कि तत्सम्बन्धी योजनाएँ सम्मता के सामान्य विकास की दिशा के अनुरूप हों। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि समाज-सुधार की योजनाएँ तात्कालिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखकर बनाई गईं हों और वे इतनी घब्त निर्धारण करते समय इस बात को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि मूलकाल में सामाजिक विकास ने कौनसी दिशा ग्रहण की थी और उसके लिए कौन कौनसे तत्त्व उत्तरदायी थे।

समाज के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने विकास को प्राकृतिक नियमों पर छोड़ दे और स्वयं केवल एक बर्तक बन जाए। वह अपनी बुद्धिसंगत कार्यवाहियों द्वारा सामाजिक विकास की प्रक्रिया को ठेक बना सकता है पर इसका धर्य यह नहीं है कि मनुष्य सामाजिक व्यवस्था को एकदम बदल सकता है। यह सोचना गलत है कि कोई नया सुविधान बना देने से ही सामाजिक व्यवस्था औरत बदल जाएगी। सामाजिक व्यवस्थाओं को बदलने में समय लगता है और मनुष्य बुद्धि प्रयोग द्वारा उस घबधि को केवल कम कर सकता है। सामाजिक विकास घबबना समाज-सुधार के लिए जो भी योजनाएँ बनाई जाएँ वे मनमानी नहीं होनी चाहिए बल्कि इतिहास द्वारा प्राप्त अनुभवों के आधार पर होनी चाहिए।

सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक सिद्धान्त का सम्बन्ध

कॉट का कहना है किसी भी काम-विशेष की सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था और उत्कृष्टतम सामाजिक सिद्धान्तों में गहरा सम्बन्ध होता है। दूसरे शब्दों में, किसी भी काम-विशेष का सामाजिक दर्शन उस काम-विशेष की सामाजिक परिस्थितियों का अनुकूल होता है। उदाहरण के लिए, समाज की प्रारम्भिक अवस्था में वैज्ञानिक सिद्धान्त सम्भव नहीं थे। मनुष्य का जीवन छतना छोटा होता है और उसकी ठक-बुझ इतनी कल्पवृक्ष होती है कि वह अपने को वातावरण के प्रभाव से मुक्त नहीं कर पाता। ऊँची-स ऊँची कास्मिक उड़ानें करने वाले लोग भी जो विचार प्रकट करते हैं वे उनके समय की सामाजिक परिस्थितियों से थुड़ हुए होते हैं।

सामाजिक नियन्त्रण

सामाजिक नियन्त्रण के लिए कॉट ने तीन बातें अनिवार्य मानी हैं—

(१) सामाजिक सिद्धान्तों की स्थापना

(२) जन-साधारण द्वारा उन सिद्धान्तों को मान्यता और जन-परिष्कार

(३) इन सिद्धान्तों का निर्धारण करने तथा इन्हें व्यवहृत करने वाली

माध्यम-प्राप्त एजेंसी व्यवस्था माध्यम का होना।

इन तीनों बातों के मौजूद होने पर ही जनमत को इस रूप से संबन्धित किया जा सकता है कि वह सामाजिक नियंत्रण के लिए एक प्रभावकारी माध्यम के रूप में काम करे। सामाजिक नियंत्रण के लिए जनमत निवृत्त आवश्यक है और इसके बगैरे सार्वजनिक नैतिकता सम्भव नहीं है। यह सामाजिक सुधारों तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए जनमत को बुद्धिसंगत ढंग से सम्बन्धित करने की आवश्यकता होती है। जनमत के प्रभावकारी होने के लिए आवश्यक है कि उसकी अभिव्यक्ति का कोई-म-कोई माध्यम प्राप्त माध्यम हो। कॉट का कहना है कि उनकी परिष्कारना के समाज में सुरोहित बर्न जनमत की बुद्धिसंगत अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम माध्यम होगा।

जनमत का प्रभाव

कॉट का कहना है कि समाज जैसे-जैसे जाने बढ़ना जैसे-जैसे जनमत का प्रभाव भी बढ़ता जाएगा। हम जिस तरह के समाज की ओर बढ़ रहे हैं उसकी एक खास विशेषता होगी जनमत का प्रभाव और इस तरह एक समय वह पायेगा जब कि समाज का निर्माण मुख्यतया जनमत द्वारा हुआ करेगा। उस समाज में

पलायन की

न तो क्रांतियाँ सम्भव होंगी और न उपद्रव क्योंकि सब लोगों के कर्तव्य सुस्पष्ट होंगे और सभी लोग जनमत के प्रभाव के कारण अपना कर्तव्य-पालन क्रिया करेंगे। उस समाज में राजनीतिक पार्टियाँ आदि के लिए भी कोई स्थान न होगा और जनमत को निर्देशित करने का काम ब्रह्मतिक समाज-सुधारकों का होगा।

दार्शनिक विचार

सन् १९वीं शताब्दी के एक ऐसे दार्शनिक विचारक और समाज-सुधारक थे जिनका दर्शनशास्त्र काण्ट के दर्शनशास्त्र से प्रभावित तो अवश्य हुआ था लेकिन जिसे उनके दर्शनशास्त्र को साक्षात् नहीं कहा जा सकता। सैत के वैज्ञानिक दर्शन और काण्ट के आसोचनशास्त्रक दर्शन में बहुत अन्तर है। सैत तो सैत भी काण्ट की तरह ही आत्म-विद्या और ब्रह्म-विद्या के विरोधी थे पर काण्ट ने इस बात से इन्कार नहीं किया कि कुछ चीजें ऐसी भी हो सकती हैं जिनका समझ पाना विज्ञान के परे है। उन्होंने इस बात से भी इन्कार नहीं किया है कि कुछ बौद्धिक प्रक्रियाएँ ऐसी भी होती हैं जो विज्ञान के नियमों के अनुकूल न हों। उन्होंने जीवन के प्रति इस परम्परागत दृष्टिकोण को चुनौती नहीं दी है कि जो कुछ भी विज्ञान के परे है वह ठीक-सही नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल विज्ञान ही ज्ञान नहीं है। पर सैत के इस तरह के दृष्टिकोण को मान्यता नहीं दी है। उन्होंने विज्ञान से परे ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। वे केवल उसी को ठीक-सही मानते हैं जो वैज्ञानिक हो और उसी आधार पर उन्होंने ब्रह्म-विद्या और आत्म-विद्या को ज्ञान नहीं माना है। उन्होंने केवल विज्ञान को ही ज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति को ही ज्ञान की पद्धति माना है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने नैतिकता और धर्म को पूर्णतः अस्वीकार किया है। वास्तव में उन्होंने जो दर्शन प्रस्तुत किया है उसमें नैतिकता और धर्म का भी समावेश है और उस उन्होंने मानवता के धर्म की संज्ञा दी है। अपने इस धर्म को उन्होंने वैज्ञानिक (पॉजिटिविस्ट) कहा है और उनका कहना है कि ऐसी किसी भी बात पर विश्वास न करना चाहिए जिसकी वैज्ञानिक पद्धति द्वारा पुष्टि न की जा सकती हो। चूंकि ब्रह्म-विद्या और आत्म-विद्या वैज्ञानिक नहीं हैं इसलिए उन्हें स्वीकार नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत उन्होंने केवल धर्म नामक-धर्म धर्मात् अपनी 'पॉजिटिविस्ट प्योटी' को एकमात्र वैज्ञानिक धर्म कहा है।

तीन अवस्थाओं का नियम

कॉट ने जिस नियम की खोज की है उसे तीन अवस्थाओं (Stages) का नियम कहा जा सकता है। उनका कहना है कि मनुष्य का मानसिक बौद्धिक सामाजिक और ऐतिहासिक सभी प्रकार का विकास तीन अवस्थाओं में हुआ है। यानी मनुष्य को सभी क्षेत्रों में तीन अवस्थाओं में होकर गुजरना पड़ा है। उन्होंने ब्रह्म-ज्ञान को मानव के बौद्धिक विकास की पहली अवस्था, धारम-ज्ञान को दूसरी अवस्था और विज्ञान को तीसरी अवस्था कहा है। इस तीसरी अवस्था के लिए उन्होंने पॉजिटिव साइंस का प्रयोग किया है और यह दावा किया है कि 'पॉजिटिव साइंस' में ही समस्त मानव ज्ञान सीमित है।

कॉट ने वैज्ञानिक दायनिक होने के कारण विज्ञान की शक्ति के घाटकों को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि विज्ञानों में जो अन्तर है वह केवल उनके कार्यक्षेत्र अथवा उनकी सीमाओं का है। भक्ति भूमि सभी विज्ञानों की पद्धतियाँ समान हैं और ये पद्धतियाँ परीक्षण तथा तर्क पर आधारित हैं इसलिए इन सबमें बुनियादी एकता है। दर्शन-शास्त्र को भी उन्होंने एक प्रकार का विज्ञान ही माना है। भक्ति उन्होंने इसकी गलत बुनियादी विज्ञानों में नहीं की है। उनका कहना है कि केवल दो ही विज्ञान बुनियादी हैं—धरित-विज्ञान और समाजशास्त्र।

मानव विकास की अन्तिम अवस्था

कॉट का कहना है कि मानव अपने विकास की तृतीय और अन्तिम अवस्था से गुजर रहा है। वह अवस्था अथवा युग विज्ञान का युग है। इस युग में ऐसा कोई भी नर्म मानव के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता जो वैज्ञानिक न हो। पर मर्यादित नर्म ऐसी साम्यताओं पर आधारित है जो वैज्ञानिक नहीं हैं और उनको मानने का अर्थ है उनकी धार्मिक साम्यताओं को स्वीकार करना। वे व्यक्ति और समूह की समस्याओं के समाधान में सहयोगी बनने के बजाय उनकी ओर से मनुष्य का ध्यान हटाती हैं। अतः इस युग में एक ऐश नर्म की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक हो और सेवा तथा प्रेम के विधानों पर आधारित हो। कॉट का कहना है कि उनका दर्शन इस नये मानव-नर्म के लिए आधार प्रस्तुत करता है क्योंकि वह वैज्ञानिक है और इसलिए वर्तमान युग के अनुकूल है। कॉट ने मानव विकास की तीन अवस्थाओं की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रथम अवस्था में मानव-मस्तिष्क ने सभी चीजों के उद्गम और मूल कारणों का पता लगाने की कोशिश की है। इस अवस्था में उसकी कोशिश पूर्ण ज्ञान हासिल करने की रही

है। दूसरी घबस्पा में उसने निर्गुण शक्तियों को समझने और जानने की कोशिश की है। लेकिन तीसरी घबस्पा में उसने इन अर्चहीन प्रयासों का परित्याग कर दिया। उसने प्रकृति और उसकी प्रक्रियाओं के उद्गम का पता लगाने की कोशिश छोड़कर उसके नियमों को जानने और समझने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। तीन घबस्पा बाह्य विश्व प्राकृतिक नियम की खोज करने का कौंठ बाबा करते हैं। उसके मिये उन्होंने अनेक प्रयास भी प्रस्तुत किए हैं। उनका कहना है कि केवल मानव इतिहास ही तीन घबस्पाओं में विभाजित नहीं है, बल्कि प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन-काल में इसी तीन घबस्पाओं से होकर गुजरना होता है। बचपन में उसकी मानसिक घबस्पा ब्रह्मज्ञानी-जैसी होती है, युवा घबस्पा में धर्मज्ञानी-जैसी और प्रौढ़ावस्था में एक दार्शनिक-जैसी।

कौंठ के वर्तन का साधारण यह है कि समस्त प्रक्रियाएँ धनिबाय रूप से प्राकृतिक नियमों के अनुरूप होती हैं। उनके कारणों की खोज करना व्यर्थ है। हमारा काम तो उन नियमों की खोज करना होता चाहिए। उनके उद्गम उद्भव और कारणों के बारे में पता लगाना रहने से हम किसी भी नतीजे पर नहीं पहुँच सकेंगे। हम तो प्रत्येक प्रक्रिया की परिस्थितियों का सही-सही विक्षेपण करना चाहिए और धर्म प्रक्रियाओं के साथ उसके स्वाभाविक सम्बन्धों की जानकारी द्वारा तथा धर्म प्रक्रियाओं के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उसे समझने की कोशिश करनी चाहिए।

मैक्स वेबर
(MAX WEBER)

अध्याय १

भूमिका

मैक्स बेबर का जन्म बर्लिन के एस्प्लेन्ड नामक स्थान पर २१ अप्रैल १८६४ को हुआ था। उनके पिता एक बकील और म्यूनिखिपल कौन्सलर थे। १८९१ में वह परिवार बर्लिन आ गया। वहाँ उनके पिता समुद्रियवादी राजनीतिक बन गये। वे बर्लिनपन्थी उदारवादियों में से थे। मैक्स बेबर की माँ भी उदार विचारों की थी और प्रोटेस्टेंट धर्म में उनका विश्वास था। बेबर की धर्म के प्रति उदासीनता थी जिससे उनकी माँ चिन्तित रहती थी। वे स्कूल की उबा बेने वाली विषयों को पसन्द नहीं करते थे और बड़ों की सलाह के प्रति उनका रुख विरोधवादी था। उन्होंने विश्वविद्यालय की शिक्षा पाने से पूर्व ही १८७९ में स्कूल छोड़ दिया। उनके अध्यापक उनसे प्रभावित नहीं थे। बाद में वे हिटलर बन जाकर कानून के विद्यार्थी हो गये और इतिहास अर्थशास्त्र व दर्शनशास्त्र आदि विषयों का अध्ययन किया। १९ वर्ष की अवस्था में वे प्रतिभार्य सैन्य सेवा के लिए स्ट्रेटवर्ग बने गये। एक वर्ष की सैन्य-शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने बर्लिन और ओटिनबर्ग में विश्वविद्यालय-शिक्षा जारी की और कानून की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। पढ़ाई समाप्त करने के बाद उन्होंने बर्लिन में कुछ वर्षों के बाद में उन्होंने व्यापारिक कम्पनियों के इतिहास पर भी लिख निकलकर पी-एच० डी० की डिग्री हासिल की और कानून की नौ दूसरी परीक्षा पास की।

१८९१ में उन्होंने 'जुपि संस्थाओं का इतिहास' नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसे मार्क्स ने 'रोमन्स के जुपु इतिहास' की संज्ञा दी। इसमें उन्होंने प्राचीन इतिहास का समाजशास्त्रीय अर्थशास्त्रीय और सांस्कृतिक विश्लेषण प्रस्तुत किया था। १८९३ में उन्होंने अपना विवाह किया। १८९४ में वे प्रोबर्ग विश्व विद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हो गए। दूसरे ही वर्ष वे स्काट्समंड और प्रायरलैंड गये। बाद में अमेरिका की यात्रा करके वे उससे बहुत प्रभावित हुए। अमेरिका में उनका ध्यान इस बात की ओर गया कि वहाँ की पूँजीवादी व्यवस्था में मानव-जीवन बेकार हो जाता है। अमेरिका में उनका मुख्य अनुभव प्रजा-तन्त्र में लोकशाही की भूमिका के सम्बन्ध में था। उन्होंने यह देखा कि यदि

जातन्त्र को नेतृत्वहीन नहीं बनना है तो धातुनिक प्रजातन्त्र के लिए संघीय राजनीति अनिवार्य है। संघीय राजनीति से उनका तात्पर्य वा वेबेयर सोमों अनुसंधानित पार्टी संघनों और प्रचार के साधनों द्वारा राजनीति का संभालन। इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण इन्ट्रात्मक था। उनका कहना था कि प्रजातन्त्र द्वारा एक प्रकृति के रूप में लौकरसाही का विरोध साजिमी है क्योंकि यह प्रकृति एक ऐसा बवं उत्पन्न कर देती है जो अपने प्रविभण परीक्षा के सटिफिकेटों और परों के कारख भ्राम बनता से असंग-सङ्गम रहता है। बंफिन दूसरी तरह के प्रशासनों में सामंजसिक धन का प्रपम्प्य होता है अनियमितताएँ उत्तरोत्तर प्रसम्भव और अप्रजासंघीय बनता जाता है। फसत प्रजातन्त्र को नहीं बीज (लौकरसाही) प्रपताली पड़ती है जिससे प्रजातन्त्रीय भावना बूणा करती है। उम्होंने उन धमरीकी मजदूरों का बार-बार जिक्र किया है जो विशेषतः अधिकारियों के विरुद्ध थे क्योंकि वे उन अधिकारियों से बूला करते थे और वे अधिकारी अपने परों से हटाए नहीं जा सकते थे। ऐसा करके ये मजदूर वास्तव में नागरिक सेवाओं में सुधार का विरोध करते थे और उनकी दृष्टि में इन अधिकारियों की अपेक्षा प्रजा राजनीतिज्ञ वैह्वर थे क्योंकि वे उन्हें बूला की दृष्टि से देख सकते थे और उन्हें चाहे बवं प्रभव कर सकते थे। सम्य-सेवा के उनके अनुभवों में भी समाजशास्त्र और लौकरसाही के प्रति उनकी धारणाओं को प्रभावित किया था।

अध्याय २

राजनीतिक और बौद्धिक दृष्टिकोण

मैक्स वेबर एक राजनीतिक व्यक्ति तथा राजनीतिक बुद्धिजीवी थे। उनके विचारों को राजनीतिक सार्वजनिक बटनाओं तथा वैयक्तिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि से ही समझा जा सकता है। उनके राजनीतिक विचारों के पीछे उर्वर यह सिद्धांत रहा है कि राजनीति के बारे में परिणामों के अनुसार एक आराम की जगह चाहिए और मनुष्यों की नीयत या उद्देश्य जानने के लिए उनके कामों के प्रत्याक्षित प्रकृति प्रत्याक्षित परिणामों को मापदण्ड मानना चाहिए।

यह एक सक्रिय राजनीतिज्ञ थे और शुरू-शुरू में उन्होंने अपने पिता के 'राष्ट्रीय उदारवाद' (National Liberalism) को अपनाया। बीस बप की अवस्था से वे राष्ट्रीय उदारवादियों में शामिल हो गए थे। वे बिस्मार्क के प्रसक्त थे और जर्मनी के एकीकरण तथा उसकी क्षति बढ़ाने के पक्ष में वे पर वे बिस्मार्क को एक हीरो के रूप में पूजने को तैयार न थे तथा स्वतंत्र विचारों नाम राजनीतिज्ञों के प्रति उनकी असहिष्णुता की घोषणा करते थे। पर यह धान्दोलन बड़े-बड़े पूर्वीपठियों का पिछला अनु बनता जा रहा है। पर २६ वर्ष की अवस्था से उनका धुंधल 'सामाजिक उदारवाद' की ओर होने लगा और वे यह महसूस करने लगे कि समाज के छोटे-से-छोटे और कमजोर-से-कमजोर वर्ग के प्रति भी राज्य का कुछ कर्तव्य होता है। वे मजदूरों की स्थिति सुधारने के पक्ष में थे और उनका कहना था कि मजदूरों के प्रति पूर्वीपठियों का दायित्व पिता के दायित्वों के समान है। यही कारण है कि उन्होंने चुनावों में अनुदार बन का साथ दिया यद्यपि वे उसके सदस्य नहीं बन।

१८वीं सताब्दी के प्रारम्भ में वेबर न ऐतिहासिक बौद्धिकवाद के विरुद्ध सेव मिथे। उन्होंने यह तक प्रस्तुत किया कि धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता में राष्ट्रीय विभिन्नता तथा धर्म तत्त्व धार्मिक नियमों और बपों की स्थिति की प्रेरणा कपारा बड़ी भूमिका प्रदा करते हैं। बार में मार्क्सवाद के प्रति उनके विचारों में परिवर्तन और जटिलता आयी। जब वे ३० वर्ष के थे तब उन्होंने देखा कि समस्त धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रयासों के फल मौजूदा पीढ़ी को

न मिलकर यात्री पीढ़ी को भिखते हैं इसलिए भविष्य वर्तमान की प्रतीक्षा यात्राया महत्वपूर्ण होता है। उन्होंने यह भी लिखा कि वास्तव में सत्ता के लिए संघर्ष ही धार्मिक विकास की प्रक्रिया होती है।

राष्ट्र का नेतृत्व

१९वीं सताब्दी के मध्य में बेबर एक साम्राज्यवादी के रूप में सामने घाये और उन्होंने राष्ट्रीय राज्य की सत्ता तथा उसके हितों की रक्षा को ही जीवन का सर्वोपरि मूल्या ठहराया। उन्होंने यह पेशानगी की कि धार्मिक सत्ता सर्वत्र राष्ट्र के राजनीतिक नेतृत्व की आवश्यकता के अनुरूप नहीं होती। उन्होंने अपने को धार्मिक राष्ट्रवादी कहा और विभिन्न वर्गों का मूल्यांकन राज्य के राजनीतिक हितों की दृष्टि से किया। उन्होंने कहा कि यदि राजनीतिक सत्ता किसी ऐसे वर्ग के हाथ में हो जो धार्मिक दृष्टि से भ्रष्टाचारपूर्ण हो तो वह राष्ट्र के लिए घातक और खतरनाक होता है। पर वह उससे भी स्पष्टा खतरनाक होता है कि जिस वर्ग के हाथों में धार्मिक सत्ता के साथ-साथ राजनीतिक सक्ति विम टटी जा रही हो वह राज्य के राजनीतिक नेतृत्व में अपरिपक्व हो। उनकी इस धारणा का सम्बन्ध सीधे-सीधे जर्मनी की उत्कासीन परिस्थितियों से था क्योंकि जर्मनी की इस के साथ पुनसंन्धि नहीं हो पाई थी और जर्मनी डेट्रिटन के साथ भी कोई समझौता नहीं कर पाया था। इस तरह वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अकेला पड़ गया था और उसे हर तरफ से अपने अस्तित्वात्मी पड़ी विमों से खतरा था। बेबर की दृष्टि में इसके लिए उत्कासीन अपरिपक्व राज नीतिक नेतृत्व उत्तरदायी था।

पूर्वोदाह व प्रजातन्त्र

१८६७ में जब कि पूर्वीपटियों द्वारा हड़ताल कराने वाले ट्रेड यूनियन नेताओं को सजाएँ देने के लिए कानूनी व्यवस्था की माँग की जा रही थी बेबर ने औद्योगिक पूर्वोदाह का समर्थन किया जो उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय अस्तित् के लिए अनिवार्य था। पर उन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता का भी समर्थन किया। १९०३ में उन्होंने एक तरिके से अनुवाद बस (Conservative party) से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और उस पर खेतिहर पूर्वीपटियों के भीतिक तथा राजनीतिक हितों के परोक्ष समर्थन का आरोप लगाया। इसके बाद वे समरीका चले गये और १९०५ में जब वे जर्मनी वापस आये तो उस में वास्तविक गुरु हो चुकी थी। उन्होंने कृष की बटनाओं का अध्ययन करके दो लेख लिखे

जिनमें उन्होंने यह चेतनाही की थी कि यदि जार का पतन हो गया और साम
 प्रकीय सत्ताका हो गये तो रूस के समुचे सामाजिक ढांचे पर नीकरपाही का
 साम्राज्य हो जायेगा। उस समय स्वयं जर्मनी भी एक राजनीतिक सत्ता से
 मुक्त रहा था जिसके लिए सीध-सीधे केंद्र उत्तरदायी था। अपनी अनुसंधानों
 नीतियों और प्रसंगत मापणों के कारण केंद्र अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मजबूत और
 निम्न का पाठ बन गया था। वेबर ने देखा कि इस स्थिति का मूल कारण यह
 है कि जर्मनी का राजनीतिक ढांचा ऐसा है जिसकी मजबूत शासन बसाये के
 लिए विभिन्न राजनीतिक नेताओं का पयन नहीं हो पाता और संवैधानिक
 व्यवस्थाएँ ऐसी हैं जिनके कारण योग्य और कुशल व्यक्ति राजनीति को अपना
 पेशा बसाये की अपेक्षा व्यापार या विज्ञान के क्षेत्र में जाना बेहतर समझते हैं।
 इस कारण के कारण वेबर के विचारों में कुछ प्रजातंत्रीयता प्रापी। वैसे प्रजा
 तन्त्र और प्रजातंत्रीय मूल्यों में उनकी कोई आधारभूत भासा नहीं थी। वे
 प्रजातंत्रीय संस्थाओं तथा विचारों को स्वयं में मूल्यवान नहीं समझते थे बल्कि
 उनके प्रति उनकी बारासा तात्कालिक प्रावण्यकारणा के अनुस्य थी। उनकी
 दृष्टि में प्रजातंत्रीय संस्थाओं और विचारों का महत्व केवल यह था कि प्रजा-
 तंत्रीय व्यवस्था में कुशल राजनीतिक नेताओं का पयन किया जा सकता है।

वे यह महसूस करते थे कि प्रापुनिक समाज में राजनीतिक नेता ऐसे होने
 चाहिए, जो विद्याम जन-समूहों को नियंत्रित व प्रमुसासित कर सकें। उनकी
 दृष्टि में समाज मताधिकार बोटों के लिए स्वयं और सबल की स्वतन्त्रता
 का सब तक कोई महत्व नहीं हो सकता जब तक उनके परिष्कारस्वरूप सक्ति-
 घासी राजनीतिक नेता उत्तरदायित्व ग्रहण करने के लिए सामने न धारें और
 विभिन्नारियों से बचने की कोशिस न करें। उन्होंने एक घोर तो केंद्र के विरुद्ध
 भावाज उठाई और दूसरी घोर घोषण डेमोकर्टा के विरुद्ध, जो कि दुर्नुपा
 (वृत्तीयति) बलों के साथ समझौता करके शासन का दायित्व सौभाघने को
 तैयार न थे और इस प्रकार, संवैधानिक शासन बजाए जान के मार्ग में बाधक
 बने हुए थे। उन्होंने अपना ध्यान ऐसे जन की खोज करने में लगाया जो
 साम्राज्यवादी प्रतिवृत्तिता के उस युग में राजनीतिक कार्यों के अनुस्य कुशल
 मसूब प्रदान कर सकें।

नीति-निर्धारण

यद्यपि वेबर कट्टर राष्ट्रवादी थे और वे सक्ति को ही नीति के धीरित्व का
 निर्णायक ठक मानते थे, तथापि उन्होंने १९११ में यह विचार प्रकट किया कि

फिरही भी सुनिश्चित राजनीतिक विचारों को धार्मिक कहकर उनकी धामोचना करना उचित नहीं है। उनकी मान्यता भी कि गीति-निर्धारण न तो नैतिक बन्धा है और न हो सकता है। उनकी महात्माकांक्षाएँ साम्राज्यवादी भी और वे चाहते थे कि जर्मनी अपने सीमित क्षेत्रों काबज करे और बड़े क्षेत्र तथा नेमर पर २० वर्ष के लिए प्राधिपत्य जमा ले। फिर भी कुछ धारम्भ होने पर उन्होंने जर्मनी द्वारा बेसन्जियम पर प्राधिपत्य किये जाने का विरोध किया। वे जर्मनी की तत्कालीन परिस्थितियों से बहुत चिन्तित थे। अक्टूबर, १९१५ में उन्होंने लिखा कि इस समय की स्थिति की विशेषता यह है कि प्रत्येक विजय हमें धाम्ति से दूर हटाती जा रही है। उनकी मान्यता यह भी कि प्रथम महायुद्ध का कारण राष्ट्रों की प्राधिक और राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता थी। उन्होंने जर्मनी पर अपने मामलों को कुछसत्तापूर्वक न जमा सकने का आरोप लगाया और युद्ध का समर्थन करने वाली पार्टियों की महात्माकांक्षाओं की निन्दा करते हुए कहा कि उसके परिणामस्वरूप मयकर बरबादी प्रावेगी। उन्हें मय था कि जर्मनी के युद्ध में प्रामित हो जाने पर जर्मनी किसकुस प्राकेला पड़कर तबाह हो प्रावेगा। १९१६ में उन्होंने यह मत प्रकट किया कि जर्मनी प्राकृतिकाली पक्षों से चिरा हुआ है उसे दूसरे देशों पर विजय प्राप्त करने तथा महाकारपूर्व नीति अपना देने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसे समझौते की नीति अपनानी चाहिए ताकि वह प्राकेला न रहे। वे यह मानते थे कि युद्ध का कारण यह था कि एक प्राौद्योगिक प्राकृति के रूप में जर्मनी का विकास विस्तार से हुआ।

३ नवम्बर १९१८ को जर्मनी में नी-सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। दूसरे दिन युनिवर्सल ने भावण करते हुए उन्होंने जर्मनी के पुनर्निर्माण पर जोर दिया पर प्राकृतिकाली बुद्धिवाधियों ने उनके भावण में बाधा पड़वाई। कुछ ही समय बाद मजदूरों और नी-सैनिकों की परिपक्षों द्वारा एक प्राकृतिकाली सरकार की स्थापना हो गई। बेबर उन प्राोफेसरों के विच्छेद थे जो इस समय जर्मनी पर बोधारोपण कर रहे थे। पर उन्होंने प्राकृति का भी कड़े-से-कड़े उध्नों में विरोध किया। उनकी यह धारणा थी कि यह प्राकृतिकाली सरकार प्राकृति-समझौतों के लिए जो घर्षे हासिल कर सकेगी वे उन घर्षों से बेबर होंगी जो विच्छेदी सरकार हासिल कर सकेगी की स्थिति में थी।

मजदूरों का संघर्ष

बेबर की पत्नी का कहना है कि बेबर की मजदूरों के संघर्ष के प्रति बहुत उदात्तप्राकृति भी और वे कभी-कभी यह भी सोचते थे कि उनके मन में प्रामित

हो जायें पर वे हमेशा नकारात्मक परिस्थानों पर पहुँचे। उनकी पत्नी के कबानानुसार उनका तर्क यह था कि कोई भी व्यक्ति उष्ण समाजवादी ठभी हो सकता है जब वह सम्पत्तिहीन व्यक्तियों की भाँति जीवन व्यतीत करने को तैयार हो पर वह बेबर के लिए सम्भव नहीं था क्योंकि अस्वस्वता के कारण वे फिराये से होने वाली धाय पर निर्भर थे। दूसरी वजह यह भी कि वे एक व्यक्तिवादी थे।

संबंधानिक प्रजातन्त्र

मैक्स बेबर में प्रथम महायुद्ध के बाद की जर्मनी की स्थिति और दलगत राजनीति के कारण बड़ी निराशा पैदा हो गई थी। उन्हें उस वातावरण में कुछ महसूस होती थी। उन्होंने 'बुर्जुआ प्रजातन्त्र' की मार्क्सवादी आलोचना का अध्ययन धारम्भ किया जिसके फलस्वरूप वे अनुरार दल और साम्राज्यवाद से विमुख हो गये। उन्होंने मार्क्सवाद को अपनाया तो नहीं पर उससे प्रभावित अवश्य हुए। वे अब भी प्रजातन्त्रीय संबैधानिक शासन को स्वयं में कोई मूल्य-मान थोड़ा न समझकर यह मानते थे कि संबैधानिक प्रजातन्त्र से जर्मनी की उत्कामीन समस्या हल हो सकती है। अप्रैल १९१७ में उन्होंने लिखा कि वे राजघाड़ी की रक्षा हेतु होने वाले किसी भी युद्ध का समर्थन करने को तैयार नहीं हैं। उन्होंने यह भी लिखा कि वे राष्ट्रीय युद्ध के घनावा किसी भी युद्ध के लिए एक भी गोली न बसायेंगे या एक भी पसा न होंगे। उनका सबसे अधिक जोर इस बात पर था कि प्राप्त राजनीतियों द्वारा बसावा जाना चाहिए, भले ही राज्य का स्वरूप कुछ भी क्यों न हो। राजा को वे धारण बसाने का हक्कार ठभी मानते थे जब वह राजनीतिज्ञ हो अथवा राजनीतिज्ञ बन सकने के योग्य हो। वे संविधान को भी मशीनों की भाँति एक माध्यम मात्र मानते थे। उन्हें संबैधानिक प्रजातन्त्र में सबसे बड़ा बाध यह दिखाई पड़ता था कि राजनीतिक दलों की सदस्यीय प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप महत्वाकांक्षी और योग्य राजनीतिक नेता धारण संभालने के लिए सामने आते। वे इसका साम यह देखते थे कि नेता नीकरघाड़ी को दबा सकेंगे और उससे अपनी इच्छानुसार कार्य से सकेंगे क्योंकि वे नीकरघाड़ी को कोई नीति-निर्धारक तथा उत्तरदायी राजनीतिक एजेंसी न मानकर केवल एक माध्यम मानते थे जिसका उपयोग राजनीतिक नेताओं द्वारा किया जाना चाहिए। अतः उन्होंने संबैधानिक प्रजातन्त्र के लिए प्रचार करना धारम्भ कर दिया।

मैक्स बेबर के जीवन-काल में जर्मनी की बौद्धिक स्थिति समाजशास्त्र के सैद्धांतिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त अनुपमक थी। हीमल के राजनिक विचारों का विशेष प्रभाव था और अनुरार विचारों का बोलबाला था। पर

बुद्धिजीवी वर्ग में उदारवाद का प्रभाव बढ़ चला पा । ये उदारवादी उन लोगों के विचार थे जिन्हें सेतिहर वृजीपति कहा जा सकता है । यानी जिनके पास बड़े-बड़े कृषि फार्म थे और जो धनाज का व्यापार करते थे । वे लोग यह धाम्योत्सव कर रहे थे कि स्वतंत्र व्यापार की छूट होनी चाहिए । यानी उन्हें यह सूचना चाहिए कि वे फर्मों के मबोत्पन्न औद्योगिक चहरों को धनाज न बेचकर उच्चका ईकमैड निर्वाह कर सकें । १९४५ में समाजवादी पार्टी का निर्माण हुआ मकिन यह पार्टी जस्यो मार्क्सवादी बन गई और उसने कितने ही कुछात्र बुद्धि वाले लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया । इस तथैके स बर्मनी के बुद्धिजीवी तीम विचार वापसों में विवक्त थे—

- १ अनुदारवाद,
- २ उदारवाद और
- ३ मार्क्सवाद ।

बौद्धिक दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि

उन दिनों राजनीतिक पार्टियाँ अपनी अधिकांश शक्ति संवैधानिक बर्षाओं में ही बनाती थी क्योंकि संवैधानिक प्रजातन्त्र न होने के कारण के सत्ता हाथिल कर सकने की स्थिति में नहीं थीं । ये दल धनम-धनम बनों का प्रतिनिधित्व करते थे । उमीदार और सेतिहर वृजीपति अनुदार दल के छात्र थे । चहरों के व्यापारी और मेन-मेन का बन्धा करने वाले लोग उदार दल के छात्र थे । समाजवादी पार्टी में मजदूर वर्ग के लोग और बुद्धिजीवी थे । औद्योगिकरण की श्राव्मिक धक्का होने के कारण एक ऐसा बाठावरण बन गया था जिसमें हर व्यक्ति धीम-ध-धीम धमीर बनने की कोशिश कर रहा था । इन समय और बर्षक सचरों के बीच मैसूर बेबर ने अपना बौद्धिक दृष्टिकोण स्पिर किया । उन्होंने उत्कासीन तीनों ही विचारवापसों में समन्वय स्थापित करने और संघर्षरत बनों के समल द्दित दूँद निकालने की कोशिश की । वे मुख्यत उदारवादी थे लेकिन उन पर अनुदारवाद और मार्क्सवाद दोनों ही का प्रभाव पड़ा था ।

बेबर और मार्क्स

मैसूर बेबर ने मार्क्स की ऐतिहासिक पद्धति को तो धपमाया था और वे ऐतिहासिक बौद्धिकवाद के भी सर्वथा विवक्त नहीं थे मकिन उन्होंने मार्क्स के धार्मिक बौद्धिकवाद को स्वीकार नहीं किया । उन्होंने उक्त स्थान पर

राजनीतिक और सामाजिक शक्तिवाद को धपनाया। मार्क्स ने मानव-इतिहास को धार्मिक आधार पर कामों (धर्मस्वार्थों) से विभाजित किया है। उनका कहना है कि उत्पादन के साधन बदलने के साथ-साथ मानव-इतिहास में सुम-परिवर्तन होता रहा है। दूसरे, उनका कहना है कि मानव इतिहास का विकास धर्म-समर्पण काठ हुआ है। वेबर मानव इतिहास पर धार्मिक प्रभाव को तो स्वीकार करते थे लेकिन उनकी दृष्टि में धार्मिक ढाँचे को आधार बनाकर मानव इतिहास का काल-विभाजन करना पलत है। यद्यपि उन्होंने मानव इतिहास को जिन कामों से बाँटा है वे मार्क्स द्वारा विभाजित कामों से प्रायः मिसल जुलते हैं तथापि उनके काम-विभाजन का आधार धार्मिक न होकर राजनीतिक और सामाजिक है।

धार्मिक व राजनीतिक सत्ता

मैक्स वेबर की दृष्टि में धार्मिक और राजनीतिक सत्ता दो विसकुल भिन्न चीजें हैं और राजनीतिक सत्ता धार्मिक सत्ता पर धार्मिक नहीं। वे मार्क्स के इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे कि जिन लोगों के पास उत्पादन के साधन रहे हैं वानी जिन लोगों के पास धार्मिक सत्ता रही है उन्हीं के पास राजनीतिक सत्ता भी पसी गई है। वेबर का कहना है कि राजनीतिक सत्ता उन लोगों के हाथ में रही है जिनके पास हथियार और प्रशासन कनी साधन रहे हैं। उदाहरण के लिए सामन्तवाद को लें। उस समय धारण का युद्ध-सामग्री और प्रशासन के साधनों पर एकाधिकार नहीं था। बहुत से सरदारों को वैयक्तिक सम्पत्ति की ही भाँति सुसम्बन्धित सेनाएँ रखने का अधिकार था। बाह में ये सरदार खुद ही राजा बन बैठे क्योंकि इनके पास राजनीतिक सत्ता का माध्यम (धर्मात् सेना) और प्रशासन के धर्म्य साधन मौजूद थे।

मानव-इतिहास

मानव इतिहास के प्रति उनका दृष्टिकोण बुनियादी रूप से धार्मिक न होकर राजनीतिक था। वे बरखससत यह मानते थे कि किसी जीवोत्पत्ति क्षेत्र-विशेष में सभित-अभाव के एकाधिकार को ही 'राज्य' कहा जाता है। व जीवोत्पत्ति विधि की भी विशेष महत्त्व देते थे। उनका कहना था कि समूह उठो और हीरो के राज्य प्रजातन्त्रों के रूप में विकसित होते तथा मरानी बर्षों के राज्य साम्राज्यों की स्थापना के लिए वयादा उपयुक्त होते हैं। मार्क्स की तरह वेबर ने भी वैयक्तिक बर्षों को धर्म्यत्व और राजतन्त्र की सीधियों के भीतर तथा इनसे

रत करके देखा है। पर मार्स की तरह वेबर का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है। वे कूटनीतिवादी के घोर राष्ट्रीय इकाइयों को अन्तिम ऐतिहासिक भी मानते थे। उनका कहना था कि इन इकाइयों को मिलाकर क्या बनाया जा सकता है। अपने इस दृष्टिकोण के कारण वे राष्ट्रीय हितों को बर्बाद मानते थे।

सामाजिक डींचा

सामाजिक डींचा को समझने के लिए वेबर ने दो धार्मिक राजनीतिक धार्मिक और धार्मिक संस्थाओं के परस्पर सम्बन्धों पर विशेष जोर दिया। मार्स की तरह वे भी यह मानते थे कि राजनीतिक धार्मिक संस्थाएँ धार्मिक व्यवस्था से सम्बन्धित होती हैं। लेकिन वे जिन राजनीतिक सिद्धांतों पर पहुँचे वे मार्स के सिद्धांतों से बिलकुल भिन्न थे। मार्स का कहना है कि पूँजीवाद में विरोधाभास तिहित है। उन्होंने पूँजीवादी उत्पादन को अराजकता की छाया ही घोर उनकी दृष्टि में पूँजीवादी बुद्धिसमत् (Rational) नहीं कहा था। लेकिन वेबर धार्मिक पूँजीवाद को पूर्णतः बुद्धिसमत् मानते थे। वे वर्ग-संबन्ध के अस्तित्व को तो मानते थे और यह भी मानते थे कि वह ऐतिहासिक भूमिका धरा करता है। पर वे उस मुख्य चीज नहीं मानते थे। उनका कहना था कि कबल मजदूरों का ही एक ऐसा वर्ग नहीं है जिसका उत्पादन के साधनों पर कोई अधिकार नहीं है। जहाँ की माँठि न तो संसदीय प्रणाली पर विस्तृत होती है और न राज्य-कर्मचारी प्रशासन के साधनों का मानिक होता है। इसी तरह वैज्ञानिक भी प्रत्येक के लिए प्रयुक्त होने वाली सामग्री का स्वयं मानिक नहीं होता।

बुद्धिसमत्ता का सिद्धान्त

वेबर के इतिहास-सम्बन्धी दृष्टिकोण में बुद्धिसमत्ता के सिद्धान्त को विशेष स्थान प्राप्त है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मानव इतिहास के बुद्धिसमत् विकास में बुद्धिजीवी धार्मिक तथा घोर उत्पादन, संघ घोर धार्मिक विधि-परिष्कार तथा वैज्ञानिक योजन है। लेकिन वेबर ने यह भी स्वीकार किया है कि मानव-इतिहास का विकास सदैव बुद्धिसमत् रूप से नहीं हुआ है। उनका कहना है कि एक घबराहट पर अन्तर्कारी (Charismatic) व्यक्तियों ने भूमिका धरा की है। जब एक मोके प्राप्त है कि परम्परागत संस्थाएँ अक्षम होनी लगती हैं और जीवन का तीर-तरीका समय की आवश्यकता के अनुकूल नहीं

यह बात है ये जमाकापी व्यक्ति स्व-निमुक्त नेता के रूप में सामने आते हैं। उनकी प्रसाधारण योग्यताओं के कारण मुसीबतबहा भोग उनके पीछे हो भेते हैं। यमों के सस्थापक और कितने ही सैनिक व राजनीतिक नेता इसी प्रकार के व्यक्ति थे। जमत्कारिक कार्यों साहसी कारनामों और धार्षभर्यजनक सफलताओं से उनकी भाव बमती है, वे पूरे जाते हैं और प्रसफुलता मिभने पर लष्ट हो जाते हैं। यद्यपि बेबर इस बात से प्रबबध थे कि सामाजिक एकता बहुत ही सामाजिक सक्तियों का परिणाम होती है फिर भी उन्होंने इन जमत्कारिक नेताओं की भूमिका को महत्व दिया है। उनका कहना है कि ये भोग साधारणतः परम्पराओं और परम्परागत नियमों के विबद्ध होते हैं। उनके द्वारा बभाये गए प्रभियान कभी-कभी इतना बरसाह और उत्तेजना पैदा कर भेते हैं कि अपने बर्गगत बन्धनों को त्यागकर विभिन्न बर्गों के भोग सभमें शामिल हो जाते हैं और सामुदायिक भावना खोर पकड़ती है। इस तरह वे मानव-इतिहास में सभमुच अमिठकारी सक्ति साबित होते हैं।

विचार और समाज

समाजशास्त्रीय विस्लेषण मे मैक्स बेबर ने अन्ति पर सबसे अधिक खोर दिया है। चूकि समाजशास्त्र में 'राज्य' और 'संघ' से मानव-समुदायों के विस्लेष कार्यकलापों का भोग होता है उन्हें ठीक-ठीक तमी समझना सा सकता है जब उनमें शामिल होने वाले व्यक्तियों के कार्यकलापों का विस्लेषण किया जाय। भावसं और नीस्के की भांति वे यह नहीं मानते थे कि विचारक मनोवैज्ञानिक वा सामाजिक हितों का प्रतिबिम्ब मात्र होता है। भावसं ने इस बात पर खोर दिया कि किसी भी विचार पर राज कसम करने के लिए यह देखना चाहिए कि विचारक किस बर्ग का है। नीस्के का विचारों के प्रति यह दृष्टिकोण रहा है कि सससे होने वाले मनोवैज्ञानिक लाभ को देखना चाहिए। इस तरह नीस्के और भावसं ने विचार को मनोवैज्ञानिक और सामाजिक हितों के साथ जोड़कर देखा है। पर बेबर उनसे सहमत नहीं। उनका कहना है कि बौद्धिक मनोवैज्ञानिक राजनीतिक धार्मिक और धार्मिक सभों मे विचारों का स्वतन्त्र विकास भी होता है। बंस तो विचारों और हितों का परस्पर सम्बन्ध भी होता है लेकिन ऐसा नहीं होता कि विचार की विषय-वस्तु और उस विचार के धनुयायियों के हितों में कोई पूर्व-निश्चित सम्बन्ध हो। विचारों और हितों में सभर्ष भी होता है लेकिन यदि कालान्तर मे विचार द्वारा किसी-न-किसी हित का समर्भन या पोषण नहीं जाता तो वह विचार काल-अवसिठ हो जाता है।

पूँजीवाद के विभेद

श्रीक्रीमिस बेबर राजनीति और धर्मशास्त्र को एक मानते थे, इसलिए [जीवाद का मिश्रण] करते समय भी उन्होंने उसे दो बुनियादी किस्मों में बाँटा है। उनकी दृष्टि में एक तो है राजनीतिक पूँजीवाद, जिसके अन्तर्गत साम्राज्यवादी पूँजीवाद और विदेशी पूँजीवाद भी आ जाता है। और दूसरी ओर है प्राथमिक औद्योगिक पूँजीवाद। राजनीतिक पूँजीवाद में साम्रज्य के लिए युद्ध के साधनों को इस्तमाल किया जाता है। युद्धों पर विजय हासिल की जाती है और राजनीतिक प्रशासन पर सर्वोच्च अधिकार स्थापित किया जाता है। राजनीतिक सत्ता हासिल करके उसके माध्यम से साम्रज्य के राजनीतिक पूँजीवाद की सत्ता भी गई है। साम्राज्यवादी पूँजीवाद का घोषा-साधा सम्बन्ध राजनीतिक साम्राज्यवाद से है जिसके द्वारा उपनिवेशों का बोधण किया जाता है। इस तरह के पूँजीवाद में राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए अन्तर्गत अन्तःराष्ट्रीय की विदेश सुविधाएँ और दूसरी राजनीतिक सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। ऐतिहासिक पूँजीवाद राजनीतिक पूँजीवाद के अन्तर्गत ही आता है और उससे तात्पर्य है दूसरे देशों पर आक्रमण करके उनके अर्थ प्रणाली को सम्भल करना। विदेशी पूँजीवाद से तात्पर्य है अन्तःराष्ट्रीय की सुविधाएँ को राजनीतिक अधिकारों द्वारा प्रदान की जाती हैं जैसे करों द्वारा बसुस की गई रकमों को व्यक्तिगत साम्रज्य के लिए विदेश सुविधा प्राप्त लोगों को दिया जाता है। यह प्रथा प्राचीन रोम और अंग्रेज में ही मिली है।

प्राथमिक औद्योगिक पूँजीवाद

प्राथमिक औद्योगिक पूँजीवाद से बेबर का तात्पर्य उस अवस्था से है जिसके अन्तर्गत अन्तःराष्ट्रीय की सुविधाओं के उत्पादन के लिए अन्तःराष्ट्रीय उत्पादक इकाइयों स्थापित की जाती हैं और जो कि पूँजीवादी रूप से पूर्व की उत्पादक इकाइयों को प्रतिद्वन्द्विता में पराजित करके उनके अर्थ प्रणाली पर अपना विस्तार करती हैं। यह व्यवस्था बड़ी कायम हो पाती है जहाँ इसके लिए आवश्यक राजनीतिक, सैन्यिक और कानूनी सुविधाएँ पैदा हो चुकी हों। पूँजीवादी इकाई के लिए किसी निश्चित स्थान में कारखानों का होना और उत्पादक मजदूरों का होना आवश्यक होता है। कारखाने का सामरिक अर्थ प्रणाली पर कारखाने को बनाता है और बाजार में प्रतिद्वन्द्विता करके विजय करने हेतु अर्थ प्रणाली का उत्पादन करता है। यह प्रक्रिया बुद्धिसयल होती है क्योंकि अन्तःराष्ट्रीय और साम्रज्य में निरन्तर अनुसन्धान कायम करण करने की जरूरत पड़ती रहती है। मार्क्स

की भाँति वेबर ने भी व्यापार प्रवृत्ति वित्त को आधार में मानकर उत्पादन की इकाइयों को ही प्राथमिक औद्योगिक पूँजीवाद का आधार माना है। इन उत्पादक इकाइयों के आधार पर पूँजीवादी व्यवस्था कायम होती है और यह व्यवस्था एक स्तर से होकर दूसरे स्तर में पहुँचती है। उसका सबसे ऊँचा स्तर वह होता है जबकि उत्पादक इकाई की निष्क्रियता और उसका प्रबन्ध धनग प्रसंग लोगों के हाथों में होता है। बड़े-बड़े कारपोरेटों की स्थापना की जाती है जिनके हिस्से जनता को बेचे जाते हैं, लेकिन प्रबन्ध दूसरे लोगों के हाथों में ही होता है। मैक्स वेबर पूँजीवादी व्यवस्था को बुद्धिमत्त मानते हैं लेकिन उन्होंने न तो इस व्यवस्था में होने वाली उत्पादन की घटारकता की ओर कोई ध्यान दिया है और न उसके लिए कोई स्पष्टीकरण ही दिया है।

वर्ग निर्धारण

वहाँ तक वर्गों (Classes) का सम्बन्ध है मैक्स वेबर ने यह भी माना है कि जो व्यक्ति जिस प्रकार अपनी-पार्षन करता है उन्हीं से सम्बन्ध वर्ग निर्धारित होता है, न कि उसके विचारों से। उदाहरण के लिए कारखाने का मालिक पूँजीपति वर्ग का माना जायगा और मजदूर श्रमिक वर्ग (proletariat class) का जैसे ही उसके विचार कुछ भी क्या न हों। वे यह भी मानते थे कि लोभ-मोटे-मोटे रूप में दो वर्गों में विभाजित हैं—सम्पत्तिवादी वर्ग और सम्पत्तिहीन वर्ग। मनुष्य के विचारों और उसकी इच्छाओं से उसका वर्ग नहीं बनता। वर्गों के परस्पर सम्बन्ध उनके विचारों द्वारा निर्धारित न होकर बाजार में निर्धारित होते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने को सचकारा मानने लगे तो वह सर्वहारा वर्ग का नहीं हो जायगा।

प्राथमिक राजनीतिक बुद्धिजीवी अपने-अपने वर्गों की महत्वाकांक्षाओं को ऐतिहासिक आवश्यकताओं की धृष्टा देखते हैं लेकिन मैक्स वेबर न उदारवादी होने के कारण इस प्रकार का निष्कर्षात्मक बुद्धिकोण कभी नहीं प्रयत्नताया। उनकी दृष्टि में स्वतन्त्रता का धर्म तपाकपित ऐतिहासिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना न होकर प्रस्तुत विवस्था में से किसी एक का चुनाव करना होता है। उनकी दृष्टि में सामाजिक जीवन ऐसे मूल्यों का अन्वयण होता है जिनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है और कबल उन्हीं मूल्यों में से किसी एक का चुनाव करना सम्भव होता है।

राजनैतिक और अर्थशास्त्रीय विचार

राजनैतिक सत्ता

मैक्स वेबर के दृष्टिकोण की एक बुनियादी बात यह है कि वे राजनीतिक सत्ता को धार्मिक सत्ता पर आधारित नहीं मानते। उनकी दृष्टि में राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए धार्मिक सत्ता हासिल करना आवश्यक नहीं बल्कि कुछ परिस्थितियों में राजनीतिक सत्ता द्वारा धार्मिक सत्ता भी प्राप्त की जा सकती है। फिर भी उन्होंने यह स्वीकार किया है कि धार्मिक हितों का राजनीतिक सत्ता तथा राजनीतिक दृष्टि पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

मैक्स वेबर यह मानते हैं कि समस्त राजनीतिक सत्ताओं (Political powers) द्वारा अहित प्रयोग किया जाता है। अन्तर केवल मात्रा और स्वरूप का होता है, मानी कौनसी राजनीतिक सत्ता किन्तु हृद तक धीर किस रूप में दूसरे राजनीतिक संगठनों के विरुद्ध अहित प्रयोग करती है प्रयत्न करने की बमकी होती है। यह बात कि कौनसी राजनीतिक सत्ता किन्तु हृद तक धीर किन्तु रूप में अहित प्रयोग करती है राजनीतिक समुदायों के स्वरूप तथा भाव्य-निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका धरा करती है। पर सभी राजनीतिक सत्ताएँ समान रूप से विस्तारवादी (expansionist) नहीं होती। वे सब-की-सब बाहरी क्षेत्रों में अपनी सत्ता को फैलाने प्रयत्न दूसरे क्षेत्रों व समुदायों को पीठने प्रयत्न उन्हें अपने अधिन बनाने के लिए सेना तैयार नहीं रखती। अन्तः सत्ता के दृष्टि धीर राजनीतिक संगठनों में इसी आधार पर भिन्नताएँ होती हैं।

राजनीतिक सत्ताओं का स्वरूप दूसरे क्षेत्रों या देशों के प्रति दो प्रकार का होता है। यह या तो मुख्यतया विस्तारवादी होता है या अपने तक सीमित रहने का। ये स्वरूप परिवर्तनशील होते हैं क्योंकि राजनीतिक दृष्टि की अहित बतिसील होती है। इसी अहित के आधार पर राजनीतिक समुदाय के लोगों में यह भावना धारणी है कि वे विशेष प्रतिष्ठा के हक्कार हैं धीर इस प्रतिष्ठा के लिए उनका दिखाना राजनीतिक सत्ता के बाह्य आधार (अर्थात् दूसरे राजनीतिक समुदायों

के प्रति उसके आधारण) को प्रभावित करता है। समुच्चय ने यह सिद्धाया है कि प्रतिष्ठ्य की खातिर किये ही मुख हुए हैं।

राजनीतिक समुदाय की सत्ता के विस्तार का धर्म होता है छासकों के लिए स्वयं अपनी सत्ता की तथा उस पर आधारित मान-प्रतिष्ठ्य की अभिवृद्धि करना। सत्ता के विस्तार से सत्ताक्य व्यक्तियों को ही अधिक लाभ भी पहुँचता है। उन्हें शोषण और हकूमत के लिए नये क्षेत्र मिलते हैं। नौकरवाही के लिए सत्ता के विस्तार का धर्म होता है, ज्वाबा पद पदोन्नति के लिए ज्वाबा व्यवहार इत्यादि। इन प्रत्यक्ष राजनीतिक हितों के अलावा जो कि राजनीतिक सत्ता के नाम पर जीवन निर्वाह करने वाले लोगों में सभी जगह स्वाभाविक रूप से मौजूब रहते हैं, प्रतिष्ठा-अभिवृद्धि की भावना भी सभी राजनीतिक समुदायों में मौजूब रहती है। पर यह भावना राष्ट्रीय शोष्य की भावना जैसी नहीं होती। यह अपने राजनीतिक समुदाय के किन्हीं विशेषे मुखों अथवा अपने राजतन्त्र के प्रति किसी काल्पनिक अथवा वास्तविक गौरव भावना जैसी भी नहीं होती। प्रतिष्ठा का आन्वहारिक धर्म होता है दूसरे समुदायों पर अपनी सत्ता अमान में छान महभूष करना। उसका धर्म होता है सत्ता का विस्तार करना। पर यह चकरी नहीं है कि प्रतिष्ठ्य-अभिवृद्धि के लिए दूसरे क्षेत्रों को हकपा ही बाय अथवा उन पर बुलामी मायी जाय। सभी राजनीतिक सत्ताएँ यही चाहती हैं कि उनके पड़ोसी शक्यतः होने की अपेक्षा कमजोर हों। बड़ी शक्तियाँ साधारणतः विस्तारवादी होती हैं। वे बल प्रयोग द्वारा अथवा बल-अयोग की धमकी द्वारा अथवा इन दोनों ही उपायों द्वारा अपने राजनीतिक समुदायों के अर्थों को विस्तृत करने की कोशिस करती हैं। लेकिन बड़ी शक्तियाँ के लिए विस्तारवादी होना अथवा सर्वत्र विस्तार के लिए प्रयत्नशील रहना अनिवार्य नहीं। उनके सब अन्तर बदलते रहते हैं और इन सब-परिवर्तनों में प्रायिक मुखे अन्तःकार मूमिकारण अथवा करते हैं। यही कारण है कि एक समय ऐसा भी आया जब कि ब्रिटेन में भी राजनीतिक विस्तार की नीति का परिवर्तन किया और उसने यह नीति अपनायी कि उप निवेशों पर बल प्रयोग द्वारा आसन काम न रखा जाय। इसके पीछे प्रायिक कारण वे और ऐसे किये ही दूसरे बृष्टान्त इतिहास में मौजूब है। स्पार्टन भी अपने राजनीतिक विस्तार को सीमित रखत वे और बिल राजनीतिक सत्ताया से उन्हें अलग होता था उनका केवल शिष्य करके व समुष्ट हो जाते थे। उनको बुझाम नहीं बनात थे। राजनीतिक विस्तार को सीमित रखने की इस नीति के पीछे यह सब भी काम करता था कि धुँकि सत्ता के कन्वीकरण की प्रवृत्ति के कारण साम्राज्यवादी देशों में निरन्तर युद्ध होते रहना सार्थक हो जाता है अतः

कहीं ऐसा न हो कि राजनीतिक समुदाय में प्रसाधारण योग्यता वाला कोई ऐसा हीरो (बमत्कारी व्यक्ति) पैदा हो जाय जो कि सातक-बर्ब पर हावी हो जाय पक्का उसे राजनीतिक सत्ता से वंचित करके कुल सातक बन बैठे।

साम्राज्यवाद और अर्थतन्त्र

मैक्स वेबर राजनीतिक सत्ता के विस्तार में व्यापार को स्वयं में कोई निर्धारक भूमिका नहीं मानते लेकिन उनका कहना है कि साम्राज्यवादी धार्मिक डॉक्ट्रिन निर्यातकों के सहयोग से राजनीतिक विस्तार की मांग थी और उसके स्वयं का निर्धारण करता है। वे यह नहीं मानते कि साम्राज्य-विस्तार की आवश्यकता धार्मिक कारणों से होती है। यद्यपि कुछ दृष्टान्त ऐसे मौजूद हैं जब कि व्यापार बढ़ाने की खातिर राजनीतिक एकीकरण हुआ है तथापि वे प्रपक्व-व्यक्त हुए हैं तो उस व्यापारिक आधार पर उस क्षेत्र का राजनीतिक एकीकरण हो जाय। उन्होंने जर्मनी का उदाहरण दिये हुए यह बताया है कि उसका एकीकरण विमुक्त राजनीतिक रूप से हुआ था। यदि इस राजनीतिक एकीकरण के फलस्वरूप सीमान्तों पर चुंबी जमीन बीचारे बड़ी न की जाती तो पूर्वी जर्मनी के बीच प्रपक्व परिस्थिति घबराव परिचयी जर्मनी में न फैलकर ईसाई भेजना ज़रूरी पड़ता। इसी तरह परिचयी जर्मनी में स्थापित होने वाले सोवियत साम्राज्य का निर्माण भी पूर्वी जर्मनी व अज़रबैजान के बीच हुआ। यह प्रकट करता है कि जर्मनी को पूर्वी जर्मनी व अज़रबैजान के बीच बड़ी मात्रा में एकता थी क्योंकि यदि ऐसा होता तो वहाँ के लोग उत्पादकों को उद्योग में लाने की कोशिश करते। बल्कि सब तो यह है कि जर्मनी का राजनीतिक एकीकरण धार्मिक कारणों को नज़रअन्दाज करके किया गया था। दूसरी ओर ऐसे दृष्टान्त भी मौजूद हैं जब कि व्यापारिक सम्बन्ध राजनीतिक एकीकरण के लिए आधार बने जैसा कि स्वीडिश के मामले में हुआ।

मैक्स वेबर का कहना है कि साम्राज्य का विस्तार पक्का बड़े राज्य का निर्माण सर्वत्र निर्यात-व्यापार पर ही निर्भर नहीं करता। फिर भी कई मामलों में निर्यात-व्यापार ने समुद्र पार देशों में साम्राज्यों की स्थापना करने में निर्धारक भूमिका घरा की है। एमेस और रोम के साम्राज्य इसके उदाहरण स्वयं हैं। लेकिन इन मामलों में भी व्यापारिक लाभ की अपेक्षा धर्म धार्मिक हितों ने ज्यादा बड़ी भूमिका घरा की है। उदाहरण के लिए, युरोप के प्रान्त होने वाले अक्स तथा दूसरे नाम भी साम्राज्य-विस्तार के कारण रहे हैं। साम्राज्य-

विस्तार के पीछे पूंजीवादी देशों का उद्देश्य विदेशों में सामान बेचना होता है लेकिन बृहत् क्षेत्रों पर प्राथमिक जमाने में प्राचीन राज्यों का हित उन क्षेत्रों में सामान बेचना न होकर वहाँ से कच्चा माल प्राप्त करना होता था। मैदानी क्षेत्रों में जो बड़े-बड़े राज्य बने, उनके निर्माण में जिनमें के विभिन्न भागों में कोई निर्यातिक भूमिका बरा नहीं थी क्योंकि मैदानी क्षेत्रों में तो विभिन्न राज्यों के बीच विनियम हमेशा से होता रहा है। साम्राज्य के विस्तार के लिए पूंजीवादी हितों का होना भी आवश्यक नहीं। उदाहरण के लिए जब फारस ने अपने राजनीतिक मूल का विस्तार किया था तब पूंजीवादी हितों के मौजूद होने का प्रश्न ही नहीं था। चीनी साम्राज्य के पीछे भी कोई पूंजीवादी हित नहीं थे यद्यपि कुछ-कुछ व्यापारिक व प्राथमिक हित किसी-न-किसी रूप में मौजूद थे। साम्राज्य-विस्तार के पीछे जो बृहत् प्राथमिक हित होते हैं वे हैं बड़े-बड़े प्रोड्यूसर और परोक्षतः प्राप्त करने के सुधबधर।

यातायात और बार्ताबहल का विकास

यातायात (Transport) और बार्ताबहल (Communication) का विकास में भी प्राथमिक कारण ही अर्थात् निर्यातिक नहीं रहे हैं, बल्कि राजनीतिक कारणों ने भी निर्यातिक भूमिकाएँ बरा की हैं। इस में रेल यातायात की व्यवस्था मुख्यतया प्राथमिक कारणों से न की जाकर राजनीतिक कारणों से की गई थी। वास्तविकता के रेल यातायात के बारे में भी यही बात लागू होती है। रोमन साम्राज्य में जो मुख्य-मुख्य सड़कें बनाई गई थी उनके पीछे भी व्यापारिक उद्देश्य न होकर सैनिक और राजनीतिक उद्देश्य थे। फारस और रोम साम्राज्य में डाक-द्वारा की व्यवस्था के पीछे भी मुख्यतया राजनीतिक उद्देश्य था। पर राजनीतिक एकीकरण के फलस्वरूप व्यापार का भी विकास हुआ। राजनीतिक एकीकरण ने व्यापार को सुनिश्चित और कानूनी आधार प्रदान किया। दूसरी ओर यह भी सही है कि यातायात आदि का विकास प्राथमिक नाम की दृष्टि से रूढ़िवादी होता है। साम्राज्यों के विस्तार में स्थिरता पशु, मुसाम और भूमि हासिल करने की महत्वाकामनाएँ भी रही हैं।

उद्योगों का वर्गीकरण

मैक्स वेबर ने उद्योगों को दो वर्गों में रखा है—पुनर्जातीय उद्योग और प्राथमिकीय उद्योग। प्राथमिकीय उद्योग को साम्राज्यवादी विस्तार में कृषक यह विमर्शनी होती है कि वह अधिकृत क्षेत्रों में अपना माल बेच सके और वहाँ

होता और वह अपना एकाधिकार कायम करने की कोशिश करता है। मुनाफ़ा कमाने के लिए एकाधिकार कायम करने का सबसे प्रबल तरीका यह होता है कि उस क्षण पर अपना प्राधिपत्य बना लिया जाय जबवा उसे अपना सुरक्षित प्रदेश बनाकर या ऐसी ही कोई अन्य व्यवस्था करके उस पर अपनी राजनीतिक सत्ता कायम कर ली जाय। अतः साम्राज्यवादी प्रकृति महान् व्यापारिक स्वतन्त्रता चाहते बानी साम्यवादी प्रकृति को रखा देती है। इसके इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि साम्राज्यवादी पूर्वीवाद के पुनर्जीवन और विस्तार के लिए किने गए राजनीतिक अभियान आकस्मिक बटनार्ह नहीं रही हैं और साम्राज्यवादी इसी रूप में पूर्वीवादों को प्रभावित करते रहे हैं।

समाजवाद और शोषण

मैक्स बेबर का कहना है कि समाजवाद की स्थापना से भी इस स्थिति में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं होगा। बस बोझी बेर के लिए मांग लिया जाय कि वैयक्तिक उद्योग राष्ट्रीय उद्योग (समाजवादी समुदायों के उद्योग) बन जाते हैं और सामूहिक धर्मत्व द्वारा समुदाय की आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति करने की कोशिश की जाती है। तो उस हासल में भी वे राजनीतिक समुदाय, उन समुदायों से मस्ती-सह-सस्ती क्षीमता में मान लीजिये की कोशिश करेंगे, जिन पर जलका एकाधिकार होगा। सम्भव है कि उन चीजों को सस्ती बरों पर हासिल करने के लिए बल-शयों भी किना जाय और कमबोर समुदायों को बचाया जाय। यह कैसे माना जा सकता है कि समाजवाद की स्थापना होने जाने पर पहले की ही भाँति सक्रियवादी राजनीतिक समुदाय कमबोर समुदायों का शोषण करने की कोशिश नहीं करेंगे?'

मैक्स बेबर अपने समुदायों के आधार पर इस तर्क पर भी पहुँचे कि एकसर विस्तारवादी नीति के लिए मध्यम बय और सर्वहारा (Proletariat) बर्ग का समर्थन हासिल करना भी आसान होता है। इसकी वजह एक तो यह होती है कि विस्तारवादी नीति का सभी असन्तुष्ट जन-समूहों पर भावनात्मक प्रभाव पड़ता है, और दूसरी वजह यह होती है कि वे कुछ के फलस्वरूप धर्मस्थापित व्यवस्था की प्राप्ति की आशा करते हैं। बनी धावारी बासे देशों में लोग बहु उन्मील भी करते हैं कि साम्राज्यवादी विस्तार के फलस्वरूप उस देश के कुछ लोगों को अधिकृत क्षेत्रों में जल्द बसल का मौका मिलेगा। इसके पतावा विस्तारवादी नीति के लिए जन-समर्थन हासिल करने में यह तथ्य भी मदद पहुँचाता है कि निहित स्वार्थ वाले लोगों की प्रेरणा साम्राज्यवादी लोगों को

युद्ध में कम जोखिम उठानी पड़ती है। युद्ध में पराजय हो जाने पर राजा को अपनी पत्नी से बर्चित होना पड़ सकता है और सासक वर्ग के लोगों को अपने हाथों से सता छिन जाने का भय रहता है तथा सम्पत्तिघाती व वृत्तीय वर्ग को यह भय रहता है कि सामान्य व्यापार में बाजारों उपस्थित हो जाने से उन्हें धार्मिक मुकसान उठाना पड़ेगा, पर साधारण लोगों के लिए अधिक-से अधिक यह जोखिम उठानी पड़ती है कि उन्हें अपने प्राण बचने पड़ सकते हैं। लेकिन उनके दिमाग में इस भय का भूम्यांकन तथा प्रभाव सर्वत्र एक जैसा नहीं रहता वह बटता-बढ़ता रहता है। नाबाल्यक प्रभाव द्वारा (यानी भावनाओं को जमारकर) इस भय को सासानी से दूर भी किया जा सकता है।

राष्ट्र और उसका आधार

सामंतों से उपर्युक्त भावनात्मक प्रभाव का कोई धार्मिक उद्गम नहीं होता। उसका आधार यह तथा प्रतिष्ठा की भावना होती है जो कि ऐतिहासिक उप सम्बन्धों वाले देशों के मध्यम वर्ग में बहुत बहरी होती है। कभी-कभी भावी पीढ़ियों के प्रति अपनी जिम्मेदारी-सम्बन्धी मान्यताएँ भी इस भावना के साथ जुल-मिल जाती हैं। ज़रूर उन्निश्चित प्रत्यक्ष और भीतिक साम्राज्यवादी हितों के धनाभा बुद्धिजीवियों के कुछ प्रत्यक्ष भीतिक तथा वैज्ञानिक हित भी होते हैं। ये बुद्धिजीवी अपने को किसी-ब-किसी विशिष्ट संस्कृति के धर्म मानते हैं और उनके प्रभाव से साम्राज्यवादी अभिमान राष्ट्रीयता का रूप या प्रायः रूप धारण कर लेता है।

राष्ट्र की परिभाषा

जबकि 'राष्ट्र' सम्बन्धी धारणा की कोई स्पष्ट परिभाषा की जा सकती हो तो वह राष्ट्र के सदस्यों के बाह्य सामान्य गुणों के आधार पर नहीं की जा सकती। राष्ट्र-सम्बन्धी इस धारणा का धर्म यह होता है कि दूसरे समुदायों के मुकाबल किसी समुदाय-विशेष के लोगों से एकता की भावना की प्रेरणा की जा सकती है। साधारणतः राष्ट्र से किसी एक राज्य प्रथम एक राजनीतिक समुदाय के लोगों का बोध भी नहीं होता। प्रथम एक ही राज्य में रहने वाले विभिन्न समुदायों अपने को अलग-अलग राष्ट्र मानते हैं। दूसरे, कई राज्यों में बँटे हुए लोग भी अपने को एक राष्ट्र का मान सकते हैं। राष्ट्र का आधार भाषा भी नहीं होती यानी एक ही भाषा के बोलने वाले लोगों का एक राष्ट्र होना आवश्यक नहीं। किन्तु किसी भी एक समूह राष्ट्र की एक ही भाषा हो सकती

है। इससे घोर, एक ही राष्ट्र में कई भाषाओं के बोझों वाले सोव हो सकते हैं। राष्ट्र-सम्बन्धी धारणा यद्यपि राष्ट्रीय भावना का आधार रक्त-सम्बन्ध ही नहीं होता। फिर भी 'राष्ट्र-सम्बन्धी धारणा में समान बंधन होने की भावना निहित होती है।

विभिन्न सामाजिक वर्गों में भैसे ही उनकी भाषा एक ही क्यों न हो राष्ट्र-सम्बन्धी धारणाएँ बरसती भी चली हैं। कुछ वर्गों में राष्ट्रीयता के प्रति उदासीनता भी दिखाई पड़ती है, जैसे कि धार्मिक सर्वहारा वग राष्ट्रियता के प्रति उदासीन ही नहीं है बल्कि वह राष्ट्रियता को शोषकों को समाप्त कर देना चाहता है। यह एक संबंधित ऐतिहासिक तथ्य है कि प्रत्येक राष्ट्र में एकता की भावना की माशा बराबर बढ़ती रही है। यह भावना उन राष्ट्रों में भी बड़ी है जिनमें धरम-धर्मन द्विष्टों को लेकर होने वाले प्राकृतिक संघर्ष बटन के बजाय बढ़ते रहे हैं।

मैक्स बेबर का कहना है कि यदि इस शब्द 'राष्ट्र' के पीछे कोई समान अर्थ है तो यह राजनीतिक है। अतः राष्ट्र-सम्बन्धी धारणा की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—राष्ट्र भावना पर आधारित एक ऐसा समुदाय होता है जो एक राज्य के रूप में अपने को भली प्रकार व्यक्त कर पाता है। वह एक ऐसा समुदाय होता है जिसमें राज्य का रूप बहल करने की प्रवृत्ति होती है।

सामाजिक व्यवस्था और वर्ग-विभाजन

कानून और समाज

वेबर केवर का कहना है कि कानून का अस्तित्व केवल नहीं होता है वहाँ यह सम्भव न हो कि राज्य के कर्मचारियों द्वारा व्यवस्था कायम रखने के लिए लोगों को आधीरक और मनोबैज्ञानिक तौर पर मजबूर किया जा सके और कानून का अस्तित्व करने वालों को सजा दी जा सके। प्रत्येक कानूनी व्यवस्था सत्ता के विभाजन को चाहे वह आर्थिक सत्ता हो और चाहे कोई अन्य सीधे-सीधे प्रभावित करती है। यह बात सभी कानूनी व्यवस्थाओं पर लागू होती है केवल राज्य की कानूनी व्यवस्था पर नहीं। आमतौर से सत्ता का अर्थ यह होता है कि कोई एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्ति सामुदायिक कार्य-कार्यों को अपनी इच्छा अनुसार बना सकें अथवा उन सामुदायिक कार्य-कार्यों में शामिल होने वाले लोगों द्वारा उसका विरोध ही क्यों न किया जा रहा हो।

वेबर ने कहा है कि आर्थिक सक्ति द्वारा प्रदत्त सत्ता और सामान्य सत्ता एक ही चीज नहीं होती बल्कि इसके विपरीत आर्थिक सत्ता अन्य कारकों पर आधारीत सत्ता का परिणाम हो सकती है। मनुष्य अपने को मजबूत आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने हेतु सत्ता हासिल करने की कोशिश नहीं करता। सत्ता जिसमें आर्थिक सत्ता भी शामिल है स्वयं अपनी आतिर भी हासिल करती है। अक्सर सत्ता हासिल करने के पीछे सामाजिक सम्मान प्राप्त करने का उद्देश्य होता है। पर सभी उद्योगों द्वारा सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं होता। विमुक्त आर्थिक सत्ता और धन की सत्ता को सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार नहीं माना जाता। इसके अलावा केवल सत्ता ही सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार नहीं होती बल्कि सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान स्वयं भी राजनीतिक या आर्थिक सत्ता का अंग हो सकता है और अक्सर ऐसा हुआ भी है। सत्ता और प्रतिष्ठा को कानूनी व्यवस्था द्वारा आस्थापित किया जा सकता है लेकिन कानूनी व्यवस्था सत्ता का आरम्भिक अंग नहीं होती। कानूनी व्यवस्था सामाजिक सम्मान और सत्ता को कायम रखने में मदद करती है लेकिन यह उसे प्राप्त करने का माध्यम नहीं होती।

सामाजिक व्यवस्था

किसी भी समुदाय में सामाजिक प्रतिष्ठ का विभिन्न समूहों के बीच विद्यमान है जिसे विभाजन होता है, उसे सामाजिक व्यवस्था कहते हैं। सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक व्यवस्था दोनों ही कानूनी व्यवस्था से सम्बन्धित होती हैं। पर सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक व्यवस्था एक ही चीज नहीं होती। जिस रूप में धार्मिक सुविधाओं तथा सेवाओं का विभाजन और उपभोग होता है उसे धार्मिक व्यवस्था कहते हैं। धार्मिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्थाको एक बहुत बड़ी हद तक प्रभावित करती है और सामाजिक व्यवस्था का भी प्रभाव धार्मिक व्यवस्था पर पड़ता है। प्रत्येक समुदाय में सत्ता के विभाजन की प्रक्रिया के ही फलस्वरूप बने प्रथम प्रथम सामाजिक स्तर के समूहों और बर्गों का निर्माण होता है।

बर्गों का निर्माण

वैक्य वेबर का कहना है कि बर्गें समुदाय नहीं होते यद्यपि वे सामुदायिक कार्यकारणों के लिए आधार प्रदान करते हैं। बर्ग से तात्पर्य होता है लोगों का वह समूह जिसकी धार्मिक सम्भावनाएँ और विशेष धार्मिक हित समान हों। बर्गों का निर्माण विभिन्नों द्वारा अपना काम के बाजार में होता है। जो समूह जिस बर्ग की स्थिति में होता है वह उसी बर्ग का माना जाता है। पर सम्पत्तिहीनता के आधार पर बर्गवत स्थितियों का बुनियादी रूप से निर्धारण होता है। फिर बर्गों के विवेक इस आधार पर होते हैं कि किस समूहों के बाव किन्तु प्रकार की सम्पत्ति है अपना सम्पत्तिहीन लोगों के किस समूहों द्वारा बाजार में किस प्रकार की सेवाएँ प्रदान की जाती हैं। पर वास्तव में बर्गवत स्थिति अन्ततः वास्तविकता की स्थिति ही होती है।

बर्गगत हित

स्पष्ट है कि बर्गों का निर्माण धार्मिक हितों (Economic interests) द्वारा होता है और विशेषतः उन हितों द्वारा जिसका सम्बन्ध बाजार से हो। अतः बर्गीय हित की धारणा स्पष्ट थीच होती है। बर्गीय स्थिति के फलस्वरूप किस बर्ग के क्या हित हैं, इस सम्बन्ध में एक ही बर्ग के लोगों की बाण्डारों विभिन्न-विभिन्न हो सकती हैं। किसी भी बर्ग के लोग उस बर्ग में रहते हुए भी अपने-अपने हितों की पूर्ति के लिए अलग-अलग रास्ता अपना सकते हैं। बर्गों के सामूहिक कार्य अन्य चीजों से भी प्रभावित होते हैं और यह उचित नहीं कि बर्गगत कार्य बर्गवत स्थितियों के अनुसरण हों।

किसी भी वर्ग के वर्गमूल कार्यकर्ताओं के असंख्य रूप हो सकते हैं लेकिन एसा होना अनिवार्य नहीं। वर्ग स्वयं में कोई समुदाय नहीं होता। कोई भी समुदाय कबल वर्गों में विभाजित न होकर सामाजिक स्तर के आधार पर भी विभिन्न घुटों (समूहों) में विभाजित होता है, और इन समूहों को 'स्तरिय समूह' (Status group) कह सकते हैं। वर्गों और इन स्तरीय समूहों में एक बहुत बड़ा अंतर यह होता है कि वर्ग समुदाय नहीं होते लेकिन स्तरीय समूहों में ठीक से समुदाय होते हैं। स्तरीय समूहों का निर्माण सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर होता है। सम्पत्ति का सामाजिक स्तर के निर्धारण का आधार सर्वत्र वही माना जाता फिर भी अन्ततःपरवा नहीं बरकरा आधार बनता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सम्पत्तिहीन और सम्पत्तिहीन लोग भी समान सामाजिक स्तर के माने जायें। आमतौर से सामाजिक स्तर की अभिव्यक्ति इस रूप में होती है कि प्रत्येक स्तर के लोगों के रहन-सहन का अन्त-अन्त प्राप्त तरीका होता है। इसके अलावा सामाजिक अन्तर्गत भी हो सकते हैं जैसे कि एक स्तर के लोग अपने ही स्तर के लोगों में विवाह करते हैं। इससे सामाजिक स्तर के आधार पर विभिन्न समूहों का एक-दूसरे से पूर्ण रूप से अलग हो जाता है।

जातियाँ

सामाजिक स्तर और प्रतिष्ठा के आधार पर समूहों के निर्माण और एक-दूसरे से उनके अलग-अलग के अन्त-अन्त जातियाँ बन जाती हैं यानी सामाजिक स्तर पर आधारित ये समूह घाये बनकर अलग-अलग जातियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस अन्तर्गत में सामाजिक स्तर का आधार केवल परम्पराएँ और कर्मन नहीं होते बल्कि ऐति-ऐतिहासिक के कारण भी अलग-अलग समूहों के बीच अन्त-अन्त कायम हो जाता है। यह अन्तर्गत इस हद तक बढ़ सकता है कि अन्त-अन्त के लोग यह मानने लगे कि किसी जाति के लोगों से छु जाने मात्र से उनकी पहचान अन्त हो जाती है और फिर उन्हें शुद्धि के लिए जातिक्रिया करने पड़ते हैं। अन्त-अन्त जातियों के अन्त-अन्त जातिक्रिया और अन्त-अन्त अन्त-अन्त भी बन जाते हैं। ये जातियाँ अन्त-अन्त में अन्त-अन्त करती हैं और दूसरी जातियों में विवाह न करने तथा उनके साथ सामाजिक अन्त-अन्त न रखने का अन्त-अन्त प्रतिवन्द्य बना जाती हैं। अन्त-अन्त जातियों का अन्त-अन्त परम्परागत अन्त भी बन जाता है और इस तरह से एक-दूसरे से अन्त-अन्त अन्त-अन्त हो जाती हैं।

सामाजिक स्तर के आधार पर समूहों के निर्माण और जातिक्रियाओं के

सुविचारों पर एकाधिकार जमाने की प्रक्रियाएँ एक साथ चलती हैं। मूल प्रत्येक समूह की मांग प्रतिष्ठा का ही कोई-ब कोई विविष्ट स्तर नहीं होता बल्कि उनके कुछ-म-कुछ विविष्ट भौतिक एकाधिकार भी होते हैं। इस सबके फल स्वरूप प्रलय-प्रलय आविर्भावों या समूहों के प्रलय विधेयाधिकार बन जाते हैं और उन्हें प्रलय-प्रलय तरह की रिभासों-मुनिचारों प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए, इस तरह के प्रथम ही जाते हैं कि समूह जाति प्रथम प्रमुख सामाजिक स्तर के लोग ही समूह पोषक पहल सकते हैं समूह तरह का खाना खा सकते हैं या समूह तरह का हथियार लेकर चल सकते हैं। प्रलय-प्रलय आविर्भावों प्रथम प्रलय कक्षा कोष में प्रथम प्रलय-प्रलय तरह के बाध-वत्र बसाने में निपुणता हासिल कर लेती हैं और वह उनका परम्परागत (पुस्तकी) गुण बन जाता है। जाति के भीतर ही घाबो-झाड़ होने के कारण लड़कों और लड़कियों पर जाति का एकाधिकार हो जाता है, जिसे कानूनो मान्यता भी मिल जाती है। इसी तरह वहाँ पर भी स्त्रीय समूहों का एकाधिकार हो जाता है। प्रलय-प्रलय स्तरीय समूहों द्वारा प्रलय-प्रलय व्यापार-व्यापार प्रणाली जाने के फलस्वरूप उन पर भी प्रलय-प्रलय समूहों का एकाधिकार कायम हो जाता है। फलतः प्रलय-प्रलय सामाजिक स्तर के समूहों व प्रलय प्रलय जातियों के रीति रिवाज व उनकी परम्पराएँ प्रलय-प्रलय होती हैं। सामग्री से विशेष मुनिभा प्राप्त समूह या जातियाँ पारिरीक धर्म को प्रथम लिए प्रथमप्रथमक समझन लवती हैं और पारिरीक धर्म को प्रथमने वाला व्यक्ति समूह-विशेष का सदस्य रहने का हकदार नहीं रह जाता।

सामाजिक स्तर के आधार पर इस तरह के वेद मान और एकाधिकार के फलस्वरूप कई तरह की बाधाएँ और रुकावटें पैदा हो जाती हैं। सबसे बड़ी बाधा यह होती है कि बाजार का स्वतन्त्र रूप से विकास नहीं हो पाता। जिन समूहों का जिन वस्तुओं पर एकाधिकार होता है वे अपनी इस विशेष स्थिति से लाभ उठाकर उन वस्तुओं का स्वतन्त्र विनिमय के लिए बाजार में नहीं लाते। दूसरे, उनकी मोल-तोल कर सकने की क्षमता भी बहुत बढ़ जाती है।

यदि सरसतम व्याख्या की जाए तो कहा जा सकता है कि उत्पादन की प्रक्रिया तथा निम्नों को हासिल करने की प्रक्रिया के फलस्वरूप जो परस्पर सम्बन्ध कायम होता है, उसके आधार पर बर्ब बबते हैं और निम्नों के उपयोग के आधार पर (जो कि प्रलय प्रलय तरह के रहन-सहन से प्रयुक्त होता है) स्तरीय समूहों का निर्माण होता है। किसी भी एक तरह का पैदा करन जाने घोषा का समूह ही स्तरीय समूह होता है क्योंकि यह पैदा के कारण उनके रहन-सहन का

को खास तरीका बनता है उसी के आधार पर तथा उसी के अनुकूल उन्हें सामाजिक सम्मान मिलता है। कभी-कभी बगों के बीच के अन्तर और स्तरीय समूहों के बीच के अन्तर समान होते हैं यानी एक वर्ग एक स्तरीय समूह बन जाता है। ऐसा तभी सम्भव हो पाता है जबकि उस स्तरीय समूह के लोग इस बात की परवाह किये बगैर कि उन्हें अपने आतीय वेस से किठनी मानवनी होती है, उसी में लये रहें और अपना वेसा न बदलें।

पाटियाँ

जिस तरह प्राथिक व्यवस्था के अन्तर्गत वर्ग होते हैं, उसी तरह सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्तरीय समूह होते हैं जिनका आधार सामाजिक मान प्रतिष्ठा होती है। ये वर्ग और स्तरीय समूह एक-दूसरे को प्रभावित करने के साथ-साथ श्वास-व्यवस्था को भी प्रभावित करते हैं और स्वाय-व्यवस्था का प्रभाव उन पर पड़ता है। लेकिन पाटियों या वर्गों का क्षेत्र सत्ता है। उनका उद्देश्य सामाजिक सत्ता हासिल करना यानी अनुशास के कार्य-कलापों को प्रभावित करना होता है। पाटियाँ वर्गों में भी हो सकती हैं और राज्य में भी। वर्गों और स्तरीय समूहों की बनिस्बत वर्गों का कोई-न-कोई निश्चित मक्य होता है किसी धारणा की प्राप्ति भी हो सकती है और किसी वैयक्तिक स्वार्थ की पूर्ति भी जैसे कि बस क मेटा सबका सबको के लिए कोई खास पर हासिल करना इत्यादि। धामतौर से वर्गों द्वारा इन सभी चीजों को हासिल करने की कोशिश की जाती है। पर पाटियाँ केवल नहीं सम्भव होती हैं जहाँ कोई बुद्धिसंपन्न व्यवस्था हो और उस व्यवस्था को चलाने के लिए कर्मचारीगत हों। वर्गों द्वारा इन कर्मचारियों को प्रभावित करने की कोशिश भी की जाती है और यह कोशिश गत हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए भी पाटियाँ बनस्यी जा सकती हैं और उस हालत में उसी वर्ग या समूह के साथ उनम शामिल होते हैं। लेकिन पाटियों के लिए विमुक्त वर्गगत धनवा विमुक्त समूहगत होना आवश्यक नहीं है। धनिकतर व अंधतः बनगत और अंधत समूहगत होती हैं लेकिन कभी-कभी इन दोनों में से कोई भी बात उनमें नहीं होती।

वर्गों का उद्देश्य जिस तरह के सामुदायिक कार्य-कलापों को प्रभावित करना होता है उसी के अनुकूल उनका सामाजिक ढाँचा होता है। धनक-धनक वर्गों के बीच बुनियादी अन्तर पही होता है। वर्गों के बीच दूसरा अन्तर इस आधार

मैक्स वेबर

पर होता है कि समुदाय में बर्फीकरख सामाजिक स्तरों के अनुक्रम है प्रथम नहीं। इस सबके प्रभाव जगमें इस प्रकार पर भी प्रसर होता है कि समुदाय के शासन का प्रभाव क्या है? पार्टियों के नेताओं का उद्देश्य प्रामाणिक से समुदाय को अपने हाथ में करना होता है। प्रत्येक पार्टी सर्व्व ही सत्ता के लिए संघर्ष करती रहती है और इसलिये वे प्रथम निरंकुशता के प्रकार पर संघर्ष को जारी रखती हैं।

नौकरशाही-सम्बन्धी धारणाएँ

१९वीं शताब्दी में कई विचारकों ने नौकरशाही (Bureaucracy) का विश्लेषण प्रस्तुत किया था क्योंकि उस समय नौकरशाही का इतना विकास हो चुका था कि उस स्वयं में एक अद्वितीय माना जाने लगा था। केवल यही नहीं नौकरशाही सामाजिक ढाँच एवं संस्कृति की भी प्रभावित करने लगी थी। राजनीतिक सत्ता हासिल करने और उसे काममें रखने के माध्यम के रूप में उसका विषय महत्व था। एडमंड बेबर ने भी नौकरशाही के विश्लेषण में जो ध्यान दिया। उन्होंने नौकरशाही की उत्पत्ति के कारकों उसकी विशेषताएँ तथा उसके स्थायी स्वरूपों की खोज की। उनसे यह खोज उनके समाजशास्त्रीय विचारों में विशेष महत्व रखती है।

नौकरशाही की विशेषताएँ ✓

एडमंड बेबर की दृष्टि में सामुहिक नौकरशाही की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

(१) नौकरशाही का पहला सिद्धांत यह होता है कि कर्मचारियों तथा अधिकारियों के कार्य-क्षेत्र बँटे हुए होते हैं और साधारणतः यह विभाजन नियमों और कानूनों के माध्यम से होता है।

(क) नौकरशाही द्वारा प्रशासित शासन-वर्ग में नियमित कार्य-कलाप नियमानुसार (घण्टियुक्त सूटो के रूप में) बँटे हुए होते हैं।

(ख) इस सूटो को पूरा करने हेतु आदेश जारी करने के अधिकार सुनिश्चित आधार पर बँटे हुए होते हैं और वे कम-प्रयोग-सम्बन्धी कानूनों से नियंत्रित द्वारा परिलिखित होते हैं।

(ग) सूटो के नियमित और निरन्तर पालन के लिए अनुचित दबाव होती है।

शासन में 'नौकरशाही सत्ता' के ये ही तीन तत्व होते हैं। घासिक क्षेत्र में इन्हीं तत्वों से मिलकर 'नौकरशाही प्रणाली' स्थापित होता है।

इस तरह की नीकरसाही केबल प्राथमिक स्तरों में पूर्णतः विकसित अवस्था में होती है। पर्यटन में भी यह केबल प्राथमिक विकसित पूर्वी भागी संस्कारों में होती है।

२) नीकरसाही का दूसरा सिद्धान्त होता है सुनिश्चित आधार पर मोहरे के अनुसार सत्ता का विभाजन। इसके तात्पर्य है एक ऐसी सूक्ष्म और व्यवस्थित पद्धति जिसमें निम्न श्रेणी के कर्मचारियों के कार्यों की देख-रेख उच्च श्रेणी के कर्मचारियों द्वारा की जाती है और निम्न श्रेणी के कर्मचारियों के पदों के विद्यमान उच्च श्रेणी के कर्मचारियों के पास प्रतीत की जा सकती है।

(३) प्राथमिक कार्यालयों का कार्य-संभालन सिद्धि रक्तावेधों (यानी कार्यों) के माध्यम से होता है जो कि सुरक्षित रखी जाती हैं।

(४) दफ्तर के काम-काज के लिए प्रशिक्षण आवश्यक होता है। यह बात बिना तरह सरकारी कार्यालयों पर लागू होती है उही तरह वैयक्तिक व्यवहारों पर भी।

(५) मुख्यतः विकसित कार्यालयों में काम-काज को पूरा करने के लिए अक्षर को अपनी पूरी समझ बनानी पड़ती है मगर ही उसके कार्यालय का समय निश्चित क्यों न हो।

(६) दफ्तर का प्रथम सामान्य नियमों के अनुसार होता है जो कि किसी-न किसी हर एक टिकाऊ और विस्तृत होते हैं तथा जो कि छोटे या बड़े हैं। इन नियमों को छोड़ने के लिए विशेष टेक्निकल प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है और अधिकारीगण यह प्रशिक्षण हासिल करने हुए होते हैं।

अधिकारियों की स्थिति

उपर्युक्त बातों के परस्परव्यवस्था अधिकारियों की स्थिति यह होती है—

(१) दफ्तर का नाम देना बंध जाता है। इसका प्रमाण यह है कि दफ्तरों में काम करने के लिए निर्धारित प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है और नौकरी पाने के लिए निर्धारित व विधेय परीक्षाएँ पास करनी पड़ती हैं। इसके अधिकारियों की स्थिति उनको इन्टेली के अनुबन्ध होती है। कानूनी तौर पर और व्यवस्थित में भी किसी भी पर पर काम करना प्राथमिक सामान्य ज्ञान नहीं माना जाता। उसे मुद्दाओं के साथ संबंधों का विनिमय भी नहीं माना जाता जैसा कि मजदूर करते हैं। किसी भी

कार्वाणिय में लौकटी करने का घने ही वह कोई वैयक्तिक कारोबार ही क्यों न हो सर्व होता है सुरक्षित जीवन की एजब में ईमानदारी के साथ प्रबन्ध करने की विधिष्ट विन्मेदारी को प्रहस्य करना। इसके लिए किसी व्यक्ति के प्रति ईमानदार होने की जरूरत नहीं होती बल्कि काम राज्यों में राजनीतिक अधिकारी सासक के ध्यनितपत लोकर नहीं होते।

(२) वहाँ तक अधिकारियों की वैयक्तिक स्थिति का सम्बन्ध है वह निम्न प्रकार होती है —

(क) सामुहिक अधिकारी चाहे किसी सार्वजनिक कक्षर में काम करता हो और चाहे किसी वैयक्तिक संस्थान में उसे प्रशासितों (जन-साधारण) की प्रवेक्षा अधिक सामाजिक मान-सम्मान प्राप्त होता है।

(ख) लोकरसाही में निम्नश्रेणी के पदाधिकारियों की नियुक्ति सख्य भली के पदाधिकारियों द्वारा होती है। जो पदाधिकारी प्रशासितों द्वारा निर्वाचित होता है वह विमुक्त लोकरसाही पदाधिकारी नहीं होता। निर्वाचित पदाधिकारी को उसका पर ऊपर से न मिसकर नीचे से मिसला है। उसे वह पर किसी सख्यधिकारी द्वारा न मिसकर बसीय नेताओं के कारख मिसला है। निर्वाचित पदाधिकारी का कैरियर प्रशासनिक प्रदान पर निर्भर नहीं करता। जो अधिकारी निर्वाचित न होकर किसी प्रदान द्वारा नियुक्त होता है वह टेकनिकल एडिक्टोस्य से अपना काम करता है क्योंकि इत बल को ही सम्भावना ज्यादा रहती है कि उसके काम और बुलों द्वारा ही उसका कैरियर बनेगा। वहाँ तक इन पदाधिकारियों की योग्यता का सम्बन्ध है जन-साधारण को केवल उनके धनुमब के बारे में जानकारी हो सकती है। वे उसकी नियुक्ति के बाद ही उसकी योग्यता को परख सकते हैं। पर निर्वाचित पदाधिकारियों का जमान उनकी विशेष योग्यताओं के आधार पर न होकर उनकी पूर्व सेवाओं के आधार पर होता है।

(ग) साधारणतः और कम-से कम सार्वजनिक कार्यालयों में एक-एक की नियुक्तियाँ पूरे जीवन-काल के लिए होती हैं। जो नियुक्तिवा बोड़े-बोड़े समय के लिए होती हैं और जिनमें नोटिस द्वारा चलन फिर जा सकने की व्यवस्था होती है, उनमें भी यह मानकर जना जाता है कि लोकटी पूरे जीवन-काल के लिए होती। पर इसे कोई कानूनी अधिकार नहीं माना जाता। वहाँ मनमानी बरखारतनी या तदारसे के विरुद्ध

कानूनी व्यवस्थाएँ होती हैं, वहाँ उसके द्वारा यह भी प्रावधानित होता है कि जो भी कार्यवाही की जायेगी वह वस्तुवत् होगी और उसके पीछे वैयक्तिक कारण नहीं होंगे।

(घ) कर्मचारियों को बेंचे हुए वेतन के रूप में नियमित मासिक मुआवजा मिलता है और बुझाये में फेरबदल मिलती है। यह वेतन मजदूरी की भाँति काम की मात्रा के अनुसार न होकर स्तर या धाँधे के धनुस्वरूप होता है। यानी जिस तरह का काम करना पड़ता है या जिस धाँधे पर काम करना पड़ता है उसके धनुस्वरूप तथा विद्यमान सेवाओं की अवधि को ध्यान में रखकर वेतन दिया जाता है। कर्मचारियों की कामदमी सुरक्षित होती है और उसके साथ-साथ सामाजिक मान प्रतिष्ठा भी सुरक्षित होने के फलस्वरूप सोय कार्यालयों में पद प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। उन देशों में जिनके पास उपनिवेशों द्वारा साम्रज्य के बखतर नहीं होते कर्मचारियों के वेतन अपेक्षाकृत कम होते हैं।

(ङ) प्रत्येक कर्मचारी या धप्टरार एक एसा सामाजिक व्यवस्था का घन होता है जो सीढ़ी की भाँति होती है। वह निचले और कम महत्त्वपूर्ण पद तथा कम वेतन से धुरुघात करके ऊँचे-से-ऊँचा पद हासिल कर सकता है। अतः कर्मचारी व धप्टरार स्वभावतः यही चाहते हैं कि तरक्कियाँ मिलने का तरीका यथवत् हो, और यदि यह पद्धति पुरों के बारे में न हो तो कम-से-कम बतन-कम के बारे में तो हो ही। वे चाहते हैं कि वे तरक्कियाँ दरिष्ठता के आधार पर हुआ करें या बतन-कम के अनुसार।

मीकरवाही के लिए पूँब घतें

धामुनिक मीकरवाही के लिए निम्नलिखित सामाजिक और धारिक घतों की पहले से पुष्टि अनिवार्य होती है—

मुद्रा धपतन्य का विकास हो चुका होना चाहिए ताकि कर्मचारियों को मुद्राओं के रूप में धारिक मुआवजा दिया जा सक। धावकन इधक प्रचलन ही नहीं है बल्कि बतन चुकाने का यही मुख्य तरीका है। मीकरवाही के धस्तित्व के लिए यह धक निस्संनिक वा नहीं होता लेकिन धारिक महत्त्वपूर्ण धवधय होता है। धव धक का धमुन्य यह रहा है कि मुद्रा-धपतन्य के कामय हो जाने पर मीकरवाही डीँचा बुनियादी धामुनिक परिवर्तन घ नहीं बच पधा और वह एक निम्न प्रकार का डीँचा बन जाता है। यद्यपि मुद्रा धपतन्य का पुर्ण विकास

नौकरशाही के अस्तित्व के लिए नितांत अनिवार्य शर्त नहीं है लेकिन नौकरशाही टिकाऊ तभी हो सकती है जब उसे कामय रखने के लिए निरन्तर धाय होती रहे। जहाँ पर यह धाय वैयक्तिक काम के रूप में हासिल नहीं की जा सकती (जैसे कि बड़े-बड़े प्राधुनिक कारोबार के नौकरशाही सबटा में यह सम्भव नहीं होता) प्रथम जहाँ यह धाय निश्चित समय के रूप में नहीं होती वहाँ यह आवश्यक हो जाता है कि नौकरशाही प्रशासन को स्थायी रूप से कामय रखने के लिए कोई मुहक कर-व्यवस्था हो। यह कर-व्यवस्था केवल विकसित मुद्रा प्रणाल्य में ही सम्भव होती है।

प्रशासनिक विकास

किसी भी शासन-तन्त्र में नौकरशाही बनाने के लिए प्रशासनिक विकास आवश्यक होता है। बड़े-बड़े राज्यों का अस्तित्व और सार्वजनिक बल नौकरशाही के लिए उर्बांग भूमि प्रदान करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक बड़े राज्य के निर्माण के फलस्वरूप नौकरशाही प्रशासन का जन्म हुआ है। किसी भी बड़े राज्य के स्थायित्व प्रथम उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली सांस्कृतिक एकता के कारण ही नौकरशाही की स्थापना नहीं हो जाती। फिर भी इन दोनों ही तथ्यों में नौकरशाही की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका धरा की है। बृहती और विकासमय नौकरशाही के बावजूद साम्राज्यों का प्राथमिक विघटन हुआ है जैसा कि रोम साम्राज्य के घाव हुआ और उसका कारण था करों का बोझ। रोम साम्राज्य के विघटन का एक कारण उसकी सेना का नौकरशाही स्वरूप भी था। पर बड़े-बड़े प्राधुनिक राज्य टेकनिकल दृष्टि से पूर्णतः नौकरशाही व्यवस्था पर ऋणारित होते हैं। जो राज्य जितना बड़ा होता है और जितना अतिव्यापी होता है उसके लिए यह बात जतनी ही अधिक मान्य होती है।

संयुक्त राज्य एक ऐसा राज्य है जिसकी प्रशासनिक व्यवस्था कम-से-कम टेकनिकल दृष्टि से पूर्णतः नौकरशाही नहीं है। पर बाह्य क्षेत्रों में उसका संघर्ष जितना अधिक बढ़ता जाता है और अरेबू मानकों में प्रशासनिक एकता की आवश्यकता जितनी अधिक बढ़ती जाती है वहाँ की व्यवस्था भी घीरे घीरे जतनी ही अधिक नौकरशाही बनती जाती है। हमारे, संयुक्तराज्य के प्रशासनिक ढाँचे में नौकरशाही की जो कोर-कवर रह गई है उसकी पूर्ति उन राजनीतिक संघर्षों के नौकरशाही ढाँचे से हो जाती है जिनके हाथ में वहाँ की राजनीतिक सत्ता रहती है। इन राजनीतिक पार्टियों का नेतृत्व वेदर सोवें प्रथम संघर्ष

सम्बन्धी मामलों और चुनाव की तिक्तियों के विशेषज्ञों के हाथों में होता है। सभी जन-पार्टियों का हाथ उत्तरोत्तर नीकरसाही बनता जा रहा है। यह इस बात का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है कि जैसे-जैसे संगठन बड़े होते जाते हैं जैसे-जैसे जनका स्वल्प नीकरसाही बनता जाता है। प्रशासनिक कार्यों की मात्रा बढ़ते जाने और प्रशासन के बुझात्मक विकास के फलस्वरूप प्रशासन का हाथ उत्तरोत्तर नीकरसाही बनता है।

शासकत्व की सरकारें उत्तरोत्तर समाज-अस्थायी की नीति अपना रही हैं और समाज-अस्थायी-कार्यों की निर्भर-रिक्त बढ़ती हुई आवश्यकता समाज को नीकरसाही प्रशासन की ओर ले जाती है। यातायात के साधनों के विकास से भी नीकरसाही प्रशासन की स्थापना में मदद पहुँचती है।

नीकरसाही प्रशासन से टेकनिकल लाभ

नीकरसाही प्रशासन के विकास का निर्णायक कारक सर्वत्र ही यह रहा है कि यह धर्म प्रकार के प्रशासनों की अपेक्षा विस्तृत टेकनिकल दृष्टि से बेहतर साबित होता है। जिस तरह बिना मशीन के उत्पादन करने के तरीके की अपेक्षा मशीन की सहायता से उत्पादन करने का तरीका बेहतर होता है, उसी तरह धर्म प्रकार के प्रशासनों की अपेक्षा विकसित नीकरसाही का यन्त्रबन्ध प्रशासन बेहतर होता है।

नीकरसाही प्रशासन को और विशेषतः उसके वर्तमान स्वरूप को इसलिये अप्ठ माना गया है कि उसके द्वारा काम ठीक तरीके से होता है बन्सी होता है उसमें स्पष्टता होती है काम करने के लिए पदावली के ज्ञान की आवश्यकता होती है जिससे भ्रम-दुर्घटों और तरह-तरह के मुकदमों में कमी होती है और इस प्रशासन में सूत्रबद्धता तथा एकता के गुण होते हैं।

पू.बी.बी. और नीकरसाही

पू.बी.बी. धर्मवर्ग को इस बात की जरूरत होती है कि प्रशासन इस धर्म का हो कि उसमें धर्मवर्ग न हो यह मुद्दा रूप से हो सक उसमें निरन्तरता और सूत्रबद्धता हो। धर्मवर्ग से बड़े-बड़े पारुणिक पू.बी.बी. कारणों के स्वल्प नीकरसाही संगठन के बैसिडल नमूने होत हैं। कारणों की सफ़सता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें कार्य-कुशलता हो और कार्य पीप्रता से सम्पन्न हो सके। इसके लिए बार्ताबद्ध तथा यातायात के पारुणिक कारणों के समाधान के सूत्र बन्ध की भी आवश्यकता पड़ती है। जिस

प्रसाधारण मति अ सांस्कृतिक शोषणार्थ और धार्मिक व राजनीतिक समाचार एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाये जाते हैं। यतनी ही शीघ्रता से विभिन्न मामलों में प्रशासनिक प्रतिक्रिया को प्रकट करने की आवश्यकता होती है। म. उ. साधारणतः नौकरशाही प्रशासन में ही सम्भव होता है।

नौकरशाही प्रशासन में ही इस बात की अधिकतम सम्भावना रहती है कि कर्मचारी विभिन्न प्रशासनिक कार्यों में विशेष योग्यता हासिल कर सकें। घनत्व-घनत्व कार्य ऐसे घनत्व-घनत्व व्यक्तियों के सुपूर्द दिये जाते हैं जिन्होंने उस कार्य के लिए विशेष प्रशिक्षण प्राप्त किया हो और जिन्होंने प्रशासन के कारण उस काम में ज्यादा से-अधिक दक्षता व अनुभव प्राप्त किया हो। नौकरशाही की एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी होती है कि वह काम-काज का संभालन व्यक्तियों को दृष्टिगत व रखकर नियमानुसार करती है। नौकरशाही मानवीय कम जोरियों व सिहाव-मुलाहिजा से जितना अधिक मुक्त होती जाती है उसमें उतनी ही अधिक पूर्णता आती जाती है और दफ्तर के काम-काज में प्रेम भूला और वैयक्तिक भावनाओं का शोष होता जाता है। नौकरशाही के ये विशेष गुण होते हैं। धातुनिक संस्कृति जितनी अधिक अटिष्ठ बनती जाती है उसके लिए ऐसी प्रशासनिक पद्धति की आवश्यकता उतनी ही बढ़ती जाती है जिसमें वैयक्तिक सहानुभूति और कृपा भाषि की भावनाओं से कार्य करने वाले पुराने तरह के शासकों के स्थान पर केवल बलुमत् बुद्धिकोण से और निर्लिप्त भाव से काम करने वाले विशेषज्ञ हों। धातुनिक संस्कृति की इस आवश्यकता की पूर्ति नौकरशाही बड़ी सूबो के साथ करती है।

प्रशासनिक शासनों का केन्द्रीकरण

प्रशासन के भौतिक शासनों के केन्द्रीकरण और नौकरशाही पद्धति का जोसी-बामन का साथ होता है। उदाहरण के लिए बड़े-बड़े वृत्तीय कारोबारों का विकास एक शास प्रक्रिया द्वारा होता है और यह प्रक्रिया केन्द्रीकरण की विशेषताओं को प्रकट करती है। सांस्कृतिक संरचना में भी इसी तरह की प्रक्रिया होती है। धातुनिक संनायुक्त राज्य में जिनकी संना का नेतृत्व नौकरशाही के तरीके से होता है। युद्ध-सामग्री संशिक्षकों को शासकों द्वारा प्रदान की जाती है। पुराने जमाने में और सामन्तवारी युग में संनाएँ अपने लिए घनत्व-घनत्व की व्यवस्था स्वयं ही करती थीं। पर शास के जमाने में युद्ध मर्त्यों द्वारा होते हैं। जिस तरह जसोयों में मशीनों के धातुनिक ने उत्पादन के शासनों तथा प्रवचन के केन्द्रीकरण को अनिवार्य बना दिया है उसी तरह शास के जमाने में घनत्व-घनत्व

मत: उनके नीकरघाही होने के कारण शासन में भी नीकरघाही की स्थिति बराबर सुदृढ़ होती है। यद्यपि नीकरघाही धर्म्य प्रशासनों की अपेक्षा कम खर्चीली होती है, फिर भी सार्वजनिक (सरकारी) खर्चों का मकर ध्यम बढ़ जाता है क्योंकि कर्मचारियों के बेतन मुद्दाओं में खुदने पड़ते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अधिकारीबल अपने अधिकारों का कुसमय तथा बलता का बोझ नहीं कर पाते जिस तरह कि सामान्य किन्ना करते थे। नीकरघाही शासक-धारी हितों को धारण करने में मदद पहुँचाती है क्योंकि इन हितों को सामान्य किन्ने बर्यर उसका प्रतिरुध सम्भव नहीं है। सबसे पूँजीवादी हितों का पोषण होता है। यही कारण है कि उसकी स्थापना में तथा उसे प्रकृतघासी बनाने में पूँजीवादी शक्तियों ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिकाएँ धरा की हैं।

नीकरघाही का स्वायत्तत्व

नीकरघाही उन सामाजिक वर्गों में से है जिसे एक बार पूर्णतः स्वायत्त हो जाने पर, बहुत ही मुश्किल से बल किन्ना या रोक्ना है। नीकरघाही सामु-
दायिक कार्य-कलापों का माध्यम होता है। मत नीकरघाही उसके लिए बला का माध्यम बन जाती है जिसका नीकरघाही पर निर्भरत्व हो।

धर्म-सम्बन्धी समाजशास्त्रीय विचार

मैक्स वेबर के धर्म-सम्बन्धी समाजशास्त्रीय विचारों को विशेष महत्त्व प्राप्त है क्योंकि धर्म का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अितना महत्त्व अध्ययन और सूक्ष्म विश्लेषण उन्होंने किया है, जتنا किसी और ने नहीं। उन्होंने धर्म और धर्म-तन्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों के विश्लेषण को और विशेष ध्यान दिया है और अपने निष्कर्षों को प्रमाणित करने के लिए बहुत से तथ्य प्रस्तुत किये हैं।

धर्म और अर्थतन्त्र

उनके अत्यन्त प्रमुख प्रश्न यह था कि (१) धार्मिक परिस्थितियों द्वारा धर्म-सम्बन्धी पारखार्पण बनती है या (२) धार्मिक वाग्याणं धार्मिक परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी होती है, या (३) धार्मिक विचार और धार्मिक गतिविधियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं? और यदि वे एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं तो यह कैसे पता लगाया जा सकता है कि धर्म धार्मिक गतिविधियों को किस हद तक प्रभावित करता है और फिर उल्टा समाज के सम्पूर्ण सांस्कृतिक जीवन तथा सामाजिक संरचना पर क्या असर पड़ता है?

मैक्स वेबर इस गतीके पर पहुँचे कि धर्म और धार्मिक गतिविधियाँ एक-दूसरे पर निर्भर होती हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। उनका कहना है कि यह सिद्धान्त यथार्थ है कि धार्मिक परिस्थितियों द्वारा धार्मिक पारखार्पणों का निर्माण होता है। उनका कहना यह भी है कि धर्म को धार्मिक परिस्थितियों का निष्ठापूर्ण तत्त्व मानना भी उतना ही यथार्थ है। पर वेबर ने यह खोज करने की कोशिश की कि धर्म और धार्मिक गतिविधियाँ एक-दूसरे को किस हद तक और किस-किस रूपों में प्रभावित करते हैं। अपनी खोज इस बात तक सीमित रखी कि धर्म धार्मिक विचारों तथा गतिविधियों को किस हद तक और किस-किस रूप में प्रभावित करता है।

प्रमुख धर्मों का विश्लेषण

वेबर ने उपर्युक्त उद्देश्य से विश्व के विभिन्न धर्मों का विश्लेषण किया है। वे हैं—कनफ्यूशियस धर्म, हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म और मनुषी धर्म। इन धर्मों की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण करके उन्होंने यह पता लगाने की कोशिश की है कि उनका उन्हें मानने वाले लोगों के जीवन तथा सांसाधिक संगठन पर क्या असर पड़ा है। इस तरह उन्होंने धर्म और धर्मतन्त्र के बीच एक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

प्रोटेस्टेण्ट धर्म और पूँजीवाद

मैक्स वेबर की सबसे महत्वपूर्ण कृति यह है कि प्रोटेस्टेण्ट (Protestant) धर्म और सांसाधिक पूँजीवाद का गहरा सम्बन्ध रहा है। उनका कहना है कि यद्यपि पूँजीवादी धर्मतन्त्र के घटनेकारणक तत्त्व पूर्वकालीन धर्माध्य में विद्यमान थे तथापि सांसाधिक पश्चिमी पूँजीवाद एक नयी चीज है। इस सांसाधिक पूँजीवाद के प्रमुख तत्त्व हैं—(१) वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित सुसंगठित और मुख्य बन्धित कारोबार (२) वैयक्तिक सम्पत्ति (३) बाजार के लिए उत्पादन (४) बड़ी मात्रा में उत्पादन (५) धन कमाने के लिए करनाम और (६) मनो-पार्वत के लिए पूरी लगन और निष्ठा से काम करना। यह व्यवस्था तभी मनुष्य में आ पाती है जब वह मनोपार्वत को अपना मुख्य धर्म और अपने जीवन का प्रमुख उद्देश्य बनाता है। पूँजीवादी धर्मतन्त्र में नृत्तिक मनुष्य का काम ही मुख्य चीज होती है, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति को एक मजदूर माना जाता है और उसे उसकी कार्यक्षमता के अनुसार वेतन दिया जाता है।

सांसाधिक पूँजीवाद के लिए जिन परिस्थितियों का होना अनिवार्य है वे हैं—(१) पूँजी लगाने और कारोबार का प्रबन्ध करने का बुद्धिसंगत तरीका (२) उत्पादन के समस्त साधनों पर वैयक्तिक अधिकार (३) उत्पादन की बहिष्कार बुद्धिसंगत टैकनीक (४) बुद्धिसंगत कानून (५) स्वतन्त्र शक्ति और (६) धन के उत्पादनों की व्यापारिक आवाह पर विश्वास। लेकिन इसके साथ-साथ पूँजीवादी धर्मतन्त्र के लिए एक विशिष्ट प्रकार की मनोवैज्ञानिक स्थिति तथा साथ-साथ के व्यावहारिक सिद्धान्तों की आवश्यकता होती है। यद्यपि वेबर यह है कि मनुष्य के स्वभाव में परिवर्तन होकर उसकी इस तरह की मनोवैज्ञानिक स्थिति कैसे बनती है और यह इस तरह का ठीक-ठीक कैसे प्रपन्नता है? यह इन सिद्धान्तों को कैसे मानने समझता है कि—“समय ही बन है” “साध ही बन है” “पैसा पैसे को जोड़ता है” “ईमानदारी सर्वोत्तम नीति होती है” इत्यादि?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर-स्वरूप मैक्स बेबर का कथना है कि प्राकृतिक परिचयी पूर्वीवाद की मूल भावना यही है जो कि प्रोटेस्टेंट धर्म की। दोनों ही के व्यावहारिक धारणा-सम्बन्धी सिद्धान्त और नियम समान हैं। प्राकृतिक पूर्वीवाद की उत्पत्ति से पूर्व प्रोटेस्टेंट धर्म की जनजाया में उसकी (पूर्वीवाद की) धारणा प्रयत्न हुई। यह एक ऐसा उदाहरण है जो प्रमाणित करता है कि किस तरह धार्मिक विचारधारा अपना भारण्य की उत्पत्ति पहले होती है और धर्म धर्म की उत्पत्ति उसके बाद।

प्रोटेस्टेंट धर्म प्राकृतिक पूर्वीवाद की उत्पत्ति जिन कारणों से कर सका है वे हैं—(१) उसने बड़े पैमाने पर मानव जीवन को बुद्धिसंगत बनाने का काम किया (२) उसने सांसारिक काम बाज व धांधले को धार्मिक दृष्टि से मूल्यवान् ठहराया (३) उसने धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित की और (४) उसने व्यवस्थित ढंग से जसाहुपूर्वक तथा ईमानदारी के साथ अपना धर्म करना मनुष्य का सबसे पुनीत कर्तव्य माना। उसने यह भी ही कि व्यवस्थित और बुद्धिसंगत जीवन द्वारा ही नवतत् सम्भव है। इस तरह उसने मनुष्य को संन्यास की ओर ले जाने वाली धारणा-धारिता से विमुक्त करके ऐसे कलधर्मों के पालन में सहायता को सांसारिक होठे हुए भी धार्मिक करने मए। उसने ईमानदारी के साथ क्रिमे मए धर्मोत्पत्ति को पाठ से मुक्त माना। यही कारण है कि प्रमुख पूर्वीवादी देश यही हैं जिनके लोग प्रोटेस्टेंट धर्म को मानते हैं। रोमन कैथोलिक धर्म को मानने वाले देश धार्मिक प्रवृत्ति में उनसे बहुत पीछे हैं। प्रोटेस्टेंट धर्म ने अपने अनुयायियों को ऐसी धार्मिक धारणा-संहिता प्रदान की जिससे वे पूर्वीवादी धर्मोत्पत्ति के लिए प्रवृत्त हो सके। उसने उनके तौर-तरीके धारणा-विचार और धारणा-धारि देखो बनार्यों को कि प्राकृतिक पूर्वीवादी कारोबार बढ़ा करने तथा उसका प्रवर्ध करने के लिए धारणा-धारि की।

धर्म और धार्मिक संघर्ष

मैक्स बेबर ने जिस तरह प्रोटेस्टेंट धर्म का विश्लेषण करके यह बताया है कि इन धर्मों के कारण ही प्राकृतिक पूर्वीवाद का उदय हो सका, उसी तरह उन्होंने दक्षिण-पश्चिम धर्म तथा धर्म हिन्दू धर्म बौद्ध धर्म और यहुदी धर्म का विश्लेषण करके यह सिद्ध किया है कि जिस तरह के ये धर्म वे उसी तरह का धार्मिक और सांसारिक ढाँचा उन लोगों का बना जो धर्म इन धर्मों को मानते थे। इन धर्मों में परम्परावाद और उनकी मूल भावना प्राकृतिक पूर्वीवाद की मूल भावना से बिलकुल भिन्न थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन धर्मों के

मानने वाले देशों में पूँजीवाद का विकास नहीं हो सका। इस विरोधवादी दृष्टि के कारण वे यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जिस तरह का धर्म होता है उसी तरह का धार्मिक और सामाजिक संरचना बनता है।

प्राथमिक पूँजीवाद के लिए पूर्व शर्तें

मैक्स वेबर का कहना है कि कुछ शर्तों के पूरे हो जाने पर ही प्राथमिक पूँजीवाद की उत्पत्ति सम्भव थी। ये शर्तें हैं—एक साथ धर्म के बुद्धिसंघर्ष का परिणाम का अस्तित्व हिंसा-विनाश करने का बुद्धिसंघर्ष तभीका बुद्धिसंघर्ष केन्द्रिक बुद्धिसंघर्ष का मूल बुद्धिसंघर्ष मानसिक स्थिति रहने-सहने का बुद्धिसंघर्ष तभी तभीका और धार्मिक कार्य-क्रमाओं के लिए बुद्धिसंघर्ष उत्साह। ये पूर्व शर्तें तभी पूरी हो सकती हैं जब परम्पराओं का परिष्कार किया जाय। सभी जगहों पर धार्मिक विचारों के अनुकूल धार्मिक सम्बन्ध रहे हैं और फिर उन्होंने परम्पराओं का रूप बहल किया। सभी जगहों के लोग धनी इन परम्पराओं को एक शक्ति की भाँति मानते हैं और उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। परम्परावाद के कारण ही वे उन धार्मिक काम-काजों और उन शक्तियों को भी छोड़ना नहीं चाहते जो कि उनके भाव-धारों के बचाने से बसे धर रहे हैं। यह परम्परावाद मात्र भी काफ़ी नहीं मात्रा में मौजूद है। उल्टी जहाँ प्राथमिक धर्मों या धार्मिक-विचार-सम्बन्धी धारणाओं और धार्मिक कार्य-क्रमाओं के शक्तियों में रही है। जो विशेष परिस्थितियों में इन परम्पराओं को बल मिलता है—प्रथमतः जब उन परम्पराओं में किन्हीं सामाजिक समूहों का स्वार्थ निहित हो और, द्वितीय जब राज्य के कारण लोग शक्ति के फकीर बन चुके हों।

धर्म के धर्म

मैक्स वेबर का कहना है कि धर्म कमाने की इच्छा मात्र से इन परम्पराओं को छोड़ पाना सम्भव नहीं होता। यह सोचना प्रकृत है कि हमारे इस बुद्धिसंघर्ष और पूँजीवादी युग में हमारे युवों की अपेक्षा धर्म कमाने की प्रवृत्ति धार्मिक है। प्राथमिक पूँजीवादी युग में धर्म कमाने की इच्छा पूर्वी देशों के व्यापारियों से धार्मिक नहीं है। इसी प्रकार जनसंख्या बढ़ जाने से ही परम्पराएँ टूटने नहीं सकतीं। धर्म इस तरह का सबसे अन्तर्गत उदाहरण है। वे परम्पराएँ तो तभी टूटती हैं जब कोई महापुरुष प्रकट होते हैं। वे महापुरुष अपने धर्मकार्यों द्वारा परम्पराओं की मजबूतियों को काटने में सफल हो जाते हैं, और इन परम्पराओं के धर्म होने पर ही प्राथमिक धार्मिक संरचना और पूँजीवाद की नींव पड़ती

है। चीन में इस तरह के महापुस्तक प्रवर्धित नहीं हुए। सापोस्से-वैस जिब महापुस्तकों ने चीन को नये धर्म प्रदान किये वे सब बाहरी लोग थे। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन परम्परावाद में जन्मका रहा और वहाँ धार्मिक पूर्वीवाद का उदय नहीं हो सका।

भारतीय धर्म

भारतीय धर्म और परम्पराओं का जिक्र करते हुए मैक्स वेबर का कहना है कि भारत की स्थिति चीन की स्थिति से इस धर्म में भिन्न रही है कि इस देश में ऐसे महापुस्तक प्रवर्धित हुए, जिन्होंने परम्परावाद की बेकियों से मुक्ति पाने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। पर बुर्माध्यवश ये सभी महापुस्तक प्रवर्धना प्रवर्धित हिन्दू धर्म के थे। इससे उनका तात्पर्य यह है कि इन सभी महापुस्तकों ने जिन धर्मों का प्रतिपादन किया उनमें हिन्दू धर्म की मूल भावना निहित रही है। मैक्स वेबर ने भीतम कुछ का उदाहरण देते हुए कहा कि यद्यपि उन्होंने परम्पराओं से मुक्ति के लिए साहजान किया था तथापि वे बहु मुक्ति केवल साध्यात्मिक क्षेत्र में चाहते थे। उन्होंने निर्वाण का रास्ता बताया और ईतिक जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्णतः उपेक्षा की। नतीजा यह हुआ कि कुछ-वर्षों और उनके उपदेश केवल लोग से विचारकों को प्रभावित कर सके। वहाँ तक जनसाधारण का सम्बन्ध है वे न तो उनके दर्शन की बारीकियों को समझ पाये और न उनको ग्रहण कर सके। फलतः बौद्ध धर्म भारतीय जनता को प्रेरणा प्रदान न कर सका और उसका धार्मिक कार्य-कलाप परम्पराओं में बचना ही रहा।

यहूदी और ईसाई धर्म

चीन और भारत के धर्मों की अपेक्षा यहूदी धर्म और ईसाई धर्म ने जन साधारण पर और उसके कार्य-कलापों पर बहुत प्रसर डाला। ये धर्म जन साधारण के धर्म थे। नतीजा यह हुआ कि एक ओर तो वे जोड़-स सम्भाल बुद्धिवादी थे जो धर्म को एक दार्शनिक व्यवस्था का रूप देने की कोशिश कर रहे थे। इन लोगों ने मठों की चरण भी और ईश्वर के ध्यान में अपना जीवन लगाया। दूसरी ओर साधारण जनता भी जिस पर इन लोगों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने यहूदी धर्म और ईसाई धर्म को अपनाया क्योंकि उनके उपदेश सरल और उसके लिए साहज थे। नतीजा यह हुआ कि इन धर्मों ने जनसाधारण के कार्य-कलापों और समाज के धार्मिक संघटन को भी प्रभावित किया और, सभी प्रोटेस्टेन्ट धर्म को उत्पत्ति हुई जिसने जनसाधारण पर गहरा प्रसर डाला।

कर तथा उनके जीवन को स्वतंत्र बुद्धिबंगत बनाकर प्राधुनिक पूंजीवाद की नींव डाली। केवल इस प्रोटेस्टेंट धर्म के कारण ही प्राधुनिक पूंजीवाद की उत्पत्ति हुई तथा उसका विकास हुआ।

वेबर की भविष्यवाणी

मैक्स वेबर का कहना है कि प्राधुनिक पूंजीवाद की ये धार्मिक जड़ें मर चुकी हैं। प्रोटेस्टेंट धर्म को मानने वालों में जो धार्मिक उत्साह शुरू-शुरू में था वह अब नहीं रह गया है। संसार-सम्बन्धी उनकी धार्मिक कारणार्थ अब पहले-जैसी नहीं रह गयी हैं। इसका अर्थ यह है कि प्राधुनिक पूंजीवाद के विकास की एक अवस्था पूरी हो चुकी है। उसकी धार्मिक जड़ों के मर जाने के कारण अब उसका रूप बदलना अनिवार्य है। इस प्रकार मैक्स वेबर ने एक नये समाज के उदय की भविष्यवाणी की।

विल्फेरेडो परेटो
(VILFREDO PARETO)

बुद्धिकोस उदारवादी नहीं था लेकिन धार्मिक मामलों में वे अपने पिता की उदारवादी नीति का समर्थन करते थे। उस समय इटली में उदारवादियों द्वारा व्यापारिक प्रतिबन्धों को हटाने के लिए जो आन्दोलन चल रहा था, परेटो ने उसका समर्थन किया। नतीजा यह हुआ कि सरकार ने उन पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि वे कोई सार्वजनिक मास्य या बलम्ब न ले सकें। फलतः परेटो ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। इसी काल में उन्होंने अपने राजनीतिक और धार्मिक प्रतिबन्धों को लेकिन वे सबकी-सब प्रसन्न साधित हुईं। इससे परेटो को बहुत बड़ा पक्का पहुँचा और उन्होंने सक्रिय राजनीति में भाग लेना छोड़ दिया। इसके बाद वे परेटो ने अपना शेष जीवन पठन-पाठन में समर्पित किया। वे वाकरेस के धार्मिक सिद्धान्तों से प्रभावित होकर उनको विकसित करने के कार्य में जुट गए। वाकरेस का यह सिद्धान्त धार्मिक संतुलन-सम्बन्धी था। बाद में वाकरेस की ही सहायता से उन्हें स्वित्जरलैंड के सांख्यिक विद्यालय में प्रोफेसर का पद मिला गया। वहीं रहकर उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। सन् १९२३ में उनका देहावसान हो गया।

परेटो की कृतियाँ

परेटो विमुक्त धर्मशास्त्री थे लेकिन बाद में उनकी दिलचस्पी समाजशास्त्र में हो गयी। उन्होंने ट्राटो (Trattato) नामक एक बृहत् समाजशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा जो १९१५-१६ में इटालियन भाषा में प्रकाशित हुआ। उनकी यह पुस्तक दो भागों में है। सन् १९१७-१९ में इस पुस्तक का फ्रांसीसी भाषा में अनुबाद हुआ। बाद में 'मस्तिष्क और समाज के नाम से धर्मशास्त्री भाषा में उसका अनुबाद प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक पाद-पुस्तक-जैसी नहीं है। इसमें समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों और समाजशास्त्र के मौखिक तर्कों का विचारण तथा विश्लेषण नहीं है। इस पुस्तक में मौलिकता है तथा यह एक प्रतिपादन वैज्ञानिक के मस्तिष्क की उत्पत्ति है। पर इस पुस्तक में सामाजिक सुव्यवस्थाएँ इन से प्रस्तुत नहीं की गयी हैं और सिध्दते समय परेटो ने क्रमबद्धता तथा विचारों की सुस्पष्टता का ध्यान नहीं रखा है।

परेटो पर बूसरों का प्रभाव

जहाँ तक परेटो के धार्मिक विचारों का सम्बन्ध है उस पर लियोन वाकरेस (Walras) का महत्त्व प्रभाव रहा है। परेटो ने उन्हीं के धार्मिक संतुलन के सिद्धान्त को विकसित किया है। लेकिन जहाँ तक पद्धति का सम्बन्ध है उन्होंने

बै० एच० मिल की पद्धति को अपनाया । परीक्षा की उपयुक्त कृति स्पष्टतया प्रगट करती है कि उसने समस्त समाजशास्त्रीय विचारों का गहरा अध्ययन किया था लेकिन वह किसी भी समाजशास्त्री के विचारों से प्रभावित नहीं हुआ । इस कारण भी परीक्षा के विचारों में मौलिकता है और उसके विचारों की किसी भी अन्य समाजशास्त्री के विचारों के साथ समकल्पता स्थापित नहीं की जा सकती ।

परीक्षा और फासिस्टवाद

जहाँ तक परीक्षा के विचारों के प्रभाव का सम्बन्ध है उसकी व्यापकता से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता । उसके विचारों ने इटली और फ्रांस के धार्मिक तथा समाजशास्त्रीय विचारों पर गहरा असर डाला था । इटली के राजनीतिक विचारों पर भी उसका गहरा असर रहा है । यह कहना यदि समोक्ति न होगी कि इटली के फासिस्टवाद का उत्पन्न एक बहुत बड़ी हद तक परीक्षा के सिद्धान्तों पर आधारित है । यही कारण है कि उन्हें 'पूर्वपदियों का कार्य माफ़ें' कहा गया है । चूँकि परीक्षा ने प्रजासत्तवात्मक और मानवतावादी का अर्थन किया है और वे यह मानकर चले हैं कि समाज में असमानता तथा वर्गों का अस्तित्व सदैव रहा है और रहेगा अतः उसकी विचारधारा ने फासिस्टवाद को बस पहुँचाया है । अपनी इस विचारधारा से भी फासिस्टवाद को समर्थन प्राप्त हुआ कि कोई भी शासन केवल निरंकुश होने के कारण बुरा नहीं होता । उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि जो उच्च वर्ग अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए जितना अधिक जुस्म डालता है उस वर्ग का अस्तित्व उतने ही लंबा समय तक कायम रहता है । इन सिद्धान्तों से पूर्वपदियों को समर्थन मिला और उन्हें अपने जुस्मों के लिए वैज्ञानिक घोषित प्राप्त हुआ । चूँकि फासिस्टवाद पूर्वपदियों को सर्वोच्च प्रवृत्ति होती है अतः परीक्षा के सिद्धान्तों ने इटली के पूर्वपदियों को फासिस्टवाद की ओर जाने के लिए प्रेरित किया । जब इटली में फासिस्ट शासन बानी तानाशाही शासन की स्थापना हो गयी तो इस शासन ने अपने अस्तित्व तथा अपनी नीतियों का धीरे-धीरे विस्तार करने के लिए परीक्षा के सिद्धान्तों से मदद ली ।

आधारभूत समाजशास्त्रीय मान्यताएँ

पेरटो 'यंत्रियतावादी स्कूल विचारधारा' के समाजशास्त्री थे। इस विचार धारा को भी कई छात्राएँ हैं और पेरटो सामाजिक यंत्रियता को मानने वाली छात्रा का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने 'विद्युत्त धर्मशास्त्र और 'विद्युत्त सामाजिक ज्ञान' के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये सिद्धान्त 'बुद्धिसंगत यंत्रियता सम्बन्धी सिद्धान्तों' के समकक्ष हैं।

प्रक्रियाओं व घटनाओं के अध्ययन की विधि

'बुद्धिसंगत यंत्रियतावादी' विद्वानों (Rational Mechanists) ने दो प्रकार की यथिधीसताओं का अध्ययन किया है—वास्तविक (Real) और घनुर्वर्तीय (Virtual)। पहली प्रकार की यथिधीसता यह है जो वास्तव में उत्पन्न होती है और दूसरी प्रकार की यथिधीसता यह है जो किन्हीं यथिधीसतियों में बाध में उत्पन्न होती है। यह दूसरी प्रकार की यथिधीसता वास्तविक यथिधीसता के अध्ययन में सहायता पहुँचाती है। वास्तविक यथिधीसताओं का अध्ययन केवल यथिधीसतात्मक होता है, लेकिन घनुर्वर्तीय यथिधीसता का अध्ययन बुद्धिसंगत यथिधीसतात्मक होता है। अतः पहले प्रकार का अध्ययन यथिधीसतात्मक होता है और दूसरे प्रकार का अध्ययन यथिधीसतात्मक। चूँकि मानव-मस्तिष्क विभिन्न प्रक्रियाओं का अध्ययन एक साथ नहीं कर सकता और ऐसा करने का प्रयास लाभकारी सिद्ध नहीं होता अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम उनका अध्ययन पारी पारी से करें। ऐसा करने के लिए यह विद्युत्त आवश्यक है कि प्रक्रिया घबघा घटना के विद्युत्त यंत्रों को एक-दूसरे से घबघा-बघम किया जाय और फिर उनका घबघा-बघम अध्ययन किया जाय। फिर उन सब अध्ययनों को मिलाकर उक्त प्रक्रिया घबघा घटना के सम्बन्ध में समन्वित धारणा कायम की जा सकती है।

समाजशास्त्र एक समन्वित विज्ञान

विद्युत्त राजनीति धर्मशास्त्र (Pure political economics) 'बुद्धिसंगत यंत्रियतावादी समाजशास्त्र' (Rational Mechanistic Sociology)

समझ है। इस समाजशास्त्र की भाँति 'विशुद्ध राजनीतिक धर्मशास्त्र' में भी जटिल तथ्यों या वास्तविकताओं का साधारणीकरण (Simplification) करना पड़ता है और फिर प्रत्येक साधारणतम धन-समय स्थिति का अध्ययन करना पड़ता है, ताकि उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जा सके। इस समाजशास्त्रीय अध्ययन में मनुष्य को केवल एक घण्टा माना जाता है। विशुद्ध धर्मशास्त्र तथा अन्य विशुद्ध विज्ञानों द्वारा किये गए अध्ययनों के फलस्वरूप जो विश्लेषणात्मक धारकें प्राप्त होती हैं, उन सबको बाह में मिला दिया जाता है, ताकि वास्तविक और जटिल सामाजिक प्रक्रिया धन-समय घटना को सही रूप में समझा जा सके। यद्यपि इन अध्ययनों में मनुष्य को केवल एक घण्टा-वैसा माना-कर लिया जाता है तथापि वास्तव में वह केवल एक घण्टा वैसा नहीं है। परेटो का कहना है कि हमें उसकी मादनाओं प्रकृतियों और पूर्वाग्रहों को भी दृष्टिगत करना चाहिए। वास्तविक और जटिल सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए हमें उन सभी महत्वपूर्ण प्रभावकों व तथ्यों को दृष्टिगत रखना चाहिए जिनकी हम 'विशुद्ध धर्मशास्त्र' में उपेक्षा करते हैं। यद्यपि विशुद्ध धर्मशास्त्र में इन प्रभावकों व तथ्यों की उपेक्षा की जाती है, लेकिन इन प्रभावकों व तथ्यों का प्रस्तुत वास्तविक है और वे विशुद्ध धार्मिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करते हैं। परेटो का कहना है कि समाजशास्त्र ही वह विज्ञान है जो विशुद्ध धर्मशास्त्र तथा विशुद्ध सामाजिक विज्ञानों द्वारा एकर किये गए धारकों को समन्वित करता है। अतः 'विशुद्ध धर्मशास्त्र' में जैसे-जैसे महत्वपूर्ण मानवीय प्रकृतियों का समा-वेश होने लगता है, जैसे-जैसे वह समाजशास्त्र का रूप ग्रहण करने लगता है, क्योंकि समाजशास्त्र ही वास्तविक मनुष्य और वास्तविक सामाजिक प्रक्रियाओं का समन्वित विज्ञान है।

ऊपर कही गई जो बात विशुद्ध धर्मशास्त्र पर लागू होती है वही अन्य विशुद्ध विज्ञानों पर भी लागू होती है। परेटो के जीवन पर दृष्टिपात करने से सात होना कि वे स्वयं भी इसी प्रकार 'विशुद्ध धर्मशास्त्री' से समाजशास्त्री बने। बुद्धिसंगत यथीयतावाद की पद्धति विशुद्ध धर्मशास्त्र की पद्धति की भाँति मुख्यतया गणितीय (Mathematical) है। अतः यथीयतावादी समाजशास्त्रियों के कथनानुसार समाजशास्त्र की पद्धति भी यथीयतावादी होनी चाहिए, क्योंकि समाजशास्त्र एक समन्वित सामाजिक विज्ञान है जो कि सामाजिक प्रक्रियाओं की परस्पर नियंत्रण का अध्ययन करता है। परेटो ने भी इसी सिद्धान्त को अपनाया है तथा उस विस्तृत किया है। अतः वे गणितीय धर्मशास्त्र के धन-समय घण्टी माने पड़े हैं तथा उनके सिद्धान्तों ने समाजशास्त्र के यथीयतावादी स्वरूप

(Mechanistic school) को धारमिक प्रभावित किया है। यही वजह है कि वे समाजशास्त्रीय समाजशास्त्र में इस स्कूल के प्रभाव माने गये।

परटो की पद्धति

पर टोटी और धारमिक संश्लेषणाचारियों में बड़ा अन्तर है। इन संश्लेषणाचारियों की भाँति वे सामाजिक तथ्यों को यौक्तिक तथ्यों के विस्तृत समूह नहीं मानते थे। वे शस्त्रीयतावादी केवल इस अर्थ में थे कि उन्होंने शस्त्रीयतावादी पद्धति को अपनाया। इस एक बात के अलावा परटो के समाजशास्त्र तथा पूर्ववर्ती संश्लेषणाचारियों के सिद्धान्तों में बहुत कम अन्तर है। इसके अलावा परटो के विचारों में नैतिकता की ओर से वैज्ञानिक की भाँति अपने सिद्धांतों पर पहुँचते थे।

वैज्ञानिक समाजशास्त्र की धारणा

परटो का कहना है कि समाजशास्त्र को वैज्ञानिक होना चाहिए। उनकी मान्यता है कि वैज्ञानिक समाजशास्त्र के दो मुख्य होने चाहिए—उसे एक ओर तो संश्लेषण होना चाहिए और दूसरी ओर प्रयोगात्मक (Logics—Experimental)। इसका अर्थ यह है कि समाजशास्त्रीय निष्कर्ष निरीक्षण और परीक्षण पर आधारित होने चाहिए। उसे विधियों पर पहुँचने के लिए वे सभी तथ्यों को दृष्टगत रखना चाहिए। वैज्ञानिक समाजशास्त्र के सिद्धान्त में ऐसे किसी भी तथ्य का समावेश नहीं होना चाहिए जो तथ्य से परे हो। उसमें केवल उन तथ्यों का समावेश होना चाहिए जो तथ्यों के मुख्य तथा उनकी सम्बन्धताओं को प्रकट करते हों जिनका कि अध्ययन किया जा रहा हो। वैज्ञानिक समाजशास्त्र में न तो अटकलबाजी को स्थान मिलना चाहिए, और न फेरी हसीनों की। उसमें न तो नैतिकता-सम्बन्धी धारणाओं को स्थान मिलना चाहिए और न नैतिक उद्देश्य देने की चेष्टा को जानी चाहिए। समाजशास्त्र में न तो किसी बाह्य तथ्य को स्थान मिलना चाहिए और न किसी बाह्य सिद्धान्त को। वैज्ञानिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत केवल वे ही बातें कही जानी चाहिए जो तथ्यों के मुख्यों और उनकी सम्बन्धताओं का वर्णन प्रस्तुत करती हों।

परटो का कहना है कि कोई भी तथ्य विरामित अवस्था के रूप में नहीं होता। यह धारमिक होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्राथमिक तथ्य केवल एक काल विशेष और परिस्थिति-विशेष में तथ्य के रूप में होता है। नैतिक मानव-ज्ञान की विधि बदलती रहती है और नये-नये तथ्य प्रकाश में आते रहते हैं अतः नये तथ्यों के प्रकाश में आने से पता चलता रहता है कि जिन तथ्यों को हम

सही मानकर बने थे कि वह एक मूल है। यह तथ्यों की इस संपेक्षिता के कारण वैज्ञानिक समाजशास्त्र में इन कथनों को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए कि यह तो प्राकृतिक है 'यह व्यवस्थामात्र है' 'यह चिरन्तन सत्य है' 'यह खरब ही निर्णायक तत्व रहा है' धारि धारि। तथ्यों की सत्यता सापेक्षिक होने के कारण हमारी प्रत्यापनाएँ किसी-न किसी तरह तक 'सम्भावित सत्य' के रूप में ही होती हैं। प्रत्यापनाओं का धर्म है वे सुनिश्चयी धारणाएँ जिन्हें हम सत्य के रूप में मानकर चलते हैं और जिन्हें हम धार्य के धर्म प्रमुखताओं के लिए आधार बनाते हैं। जो भी चीज निरीक्षण और परीक्षण (observation and experimentation) द्वारा जानी न जा सकती हो उस हम वैज्ञानिक समाजशास्त्र का विषय नहीं बना सकते। ऐसी समस्याओं को भी जिन्हें हम निरीक्षण और परीक्षण द्वारा नहीं समझ सकते वैज्ञानिक समाजशास्त्र में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। उसमें न तो चिरस्थायी सिद्धांतों का समावेश किया जा सकता है न चिरस्थायी मूल्यों का निर्धारण किया जा सकता है, और न किसी भी चीज का नैतिक मूल्यांकन किया जा सकता है।

परेटो से पूछ के मिलने भी समाजशास्त्रीय सिद्धान्त हैं, वे वैज्ञानिक समाजशास्त्र की कक्षा में नहीं आते। परेटो का कहना है कि इनमें से कुछ सिद्धान्तों में कठमूल्यता है तो कुछ में चिरन्तन सत्यों का आधार बनाया गया है या नैतिक उपदेश दिये गए हैं। फलतः वे निर्णय परीक्षण और तर्क की सीमाओं को बाँध गए हैं। इस दृष्टिकोण से प्रगत कौट (कांस्ट) और हुरबट स्पेन्सर के समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कठोर-कठोर जतन ही धर्मज्ञानक हैं मिलने कि वे धार्मिक सिद्धान्त जिनकी उत्पत्ति धार्मिकता की है। इन समाजशास्त्रियों ने अपने सिद्धान्तों में ऐसे बाह्य तत्त्वों का समावेश किया है जो निरीक्षण और परीक्षण से परे हैं। जैसे ही उन्होंने इन बाह्य तत्त्वों को किसी भी नाम से क्यों न पुकारा हो। इन सिद्धान्तों में कुछ ऐसे हैं जिनमें वे उपदेश दिये गए हैं कि क्या होना चाहिए, और क्या नहीं। इसी प्रकार कुछ सिद्धान्तों में यह बताया गया है कि क्या धरणा है और क्या बुरा। इसी प्रकार कुछ सिद्धान्तों में धिक्कार धम्कान्नी तरह-तरह के नियम दिये गए हैं। ये सभी सिद्धान्त धर्मज्ञानिक हैं, क्योंकि वे धार्मिक सिद्धान्तों के परिवर्तित व संशोधित रूप हैं। उनका कहना है कि जो सिद्धान्त निरीक्षण और परीक्षण पर आधारित नहीं हैं और जो तथ्यों के पुणों तथा उनकी समक्यताओं को कहाने की बगल उपदेश या निर्देश देते हैं कि क्या होना चाहिए और क्या नहीं उन्हें वैज्ञानिक समाजशास्त्र के धर्मबंध नहीं मानना चाहिए। अतः वे सिद्धान्त भी वैज्ञानिक समाजशास्त्र के धर्मबंध नहीं

माने जाने चाहिए जो मानव-धर्म आदि एकमुत्रता और प्रवृत्तय धारि क सम्बन्ध में हैं, धर्मवा जो प्रगति विकास समाजवाद मातृत्व स्वतन्त्रता न्याय और समानता धारि श्री बारखाओं पर आधारित हैं ।

उपयोगितावादी दृष्टिकोण

परेटो का कहना है कि वैज्ञानिक समाजशास्त्र में उपयोगितावादी दृष्टि कोस को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए । उनका कहना है कि धर्मशास्त्रिक सिद्धान्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं और होते भी हैं । कभी-कभी धर्मशास्त्रिक सिद्धान्त समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक भी हो सकते हैं । इसके विपरीत वैज्ञानिक सिद्धान्त कभी-कभी समाज के लिए हानिकर सिद्ध हो सकते हैं । पर धर्म एक चीज है और उपयोगिता दूसरी चीज । दोनों को मिलाया नहीं जा सकता । इसी प्रकार, विज्ञान और दूसरे प्रकार के सामाजिक विचारों को मिलाया नहीं जा सकता । अतः वैज्ञानिक समाजशास्त्र में धर्मशास्त्रिक सिद्धान्तों तथा उपयोगितावादी दृष्टिकोण का समावेश करना असत है ।

परस्पर निर्भरता का सिद्धान्त

कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक प्रक्रिया को समझने के लिए 'कारण और प्रभाव' (Cause and effect) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है । परेटो का कहना है कि यह सिद्धान्त असत है क्योंकि अद्यमें यह मानकर चला गया है कि कारण और प्रभाव का सम्बन्ध इच्छारथ होता है जहाँ कारण (Effect) को कारण (Cause) पर निर्भर करवा पड़ता है । परेटो का कहना है कि इस प्रकार का इच्छारथ असाध्य कभी नहीं होता । वास्तव में कारण और प्रभाव दोनों ही एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं । उदाहरण के लिए यदि किसी समाज के सदस्यों की संख्या का प्रभाव उसके सामाजिक संरचना पर पड़ता है तो सामाजिक संरचना का भी प्रभाव सदस्यों की संख्या पर पड़ता है । अतः सामाजिक प्रक्रिया के वैज्ञानिक अध्ययन के हेतु कारण और प्रभाव के सम्बन्ध को इच्छारथ नहीं माना जा सकता । उदाहरण के लिए यदि हम किसी भी समाज का भेद तो हम देखेंगे कि उस समाज का स्वरूप कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे कि भौतिक स्थिति सांस्कृतिक स्थिति राजनीतिक स्थिति धर्म ज्ञान साधारण विचार, इत्यादि । ये सभी तत्त्व एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं और उनकी अन्तः प्रक्रिया (Inter action) के अन्तर्गत ही समाज का स्वरूप बनता है । अतः यह अनुमान असत होना कि अन्तः अस्तिष्ठित तत्त्वों में से कोई भी एक तत्त्व 'कारण'

है और अन्य तरह उसके 'परिणाम' हैं। फलतः सामाजिक जीवन का विरलेपण न तो केवल भौतिक तथ्यों के आधार पर किया जा सकता है और न केवल धार्मिक अथवा राजनीतिक आधार पर। यदि हमें ये किसी एक तरह को सामाजिक जीवन का मूल कारण मानकर किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जायगा तो वह सभूरा और फलतः होमा। परेडो का कहना है कि इसी प्रकार की मसली विकासवादी सिद्धान्तों के प्रवर्तकों ने भी है। वे एक-एक चीज को घटक घटक करके लेते हैं। उदाहरण के लिए, यदि उन्मूलन राजनीति को लिया तो वे केवल यह बतायेंगे कि समाज की राजनीतिक व्यवस्था विकसित होकर अब किस स्थिति में पहुँची। इसी प्रकार वे बताते हैं कि धर्म धार्मिक व्यवस्था अथवा धर्म जीवन का विकास किस तरह से हुआ और वह एक व्यवस्था से दूसरी किसी व्यवस्था में कैसे पहुँचे। इस प्रकार से उनके सिद्धान्त केवल ऐतिहासिक विवरण होते हैं। वे किसी भी प्रक्रिया अथवा घटना का विस्लेषण प्रस्तुत नहीं कर पाते क्योंकि वे विभिन्न तथ्यों की परस्पर-निर्भरता को नहीं देख पाते। परेडो का कहना है कि समाजशास्त्र में 'कार्य-कारण सिद्धान्त यानी इच्छारण निर्भरता के सिद्धान्त के स्थान पर, तथ्यों की पारस्परिक निर्भरता के सिद्धान्त को अपनाया जाहिए तथा कार्य और कारण के इच्छारण सम्बन्ध के स्थान पर तथ्यों के कार्यात्मक सम्बन्धों को इच्छिगत रखना जाहिए। सामाजिक व्यवस्था के प्राकृतिक धर्मों और अनियमित तथ्यों के स्थान पर स्थायी तथ्यों का अध्ययन करना जाहिए। स्थायी तथ्यों का अध्ययन करते समय उनकी समकालीनताओं और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के केवल मूल्यों को न देखकर उनकी मात्रा को भी इच्छिगत रखना जाहिए।

तार्किक और अतार्किक क्रियाएँ

प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया अपना अर्थ (पक्ष) लेती है। एक तो होता है उसका वास्तविक पक्ष और दूसरा पक्ष वह होता है जिस रूप में प्रत्येक व्यक्ति उसे देखता है। पहले पक्ष को वस्तुगत (Objective) और दूसरे पक्ष को कर्त्तव्य (Subjective) कहा जा सकता है। इस प्रकार का वर्गीकरण आवश्यक है क्योंकि हम रसायनशास्त्रों के प्रयोगों और बाहुल्य के अर्थों को एक ही श्रेणी में नहीं रख सकते। किसी जमाने में यूनान के नाविक अपनी यात्रा की सफलता के लिए पोसीडन नामक देवता को भेंट चढ़ाते थे। हम जानते हैं कि यात्रा की सफल बनाने पर इसका कोई प्रसर नहीं पड़ सकता। अतः हम इन कार्यों को उन कार्यों की श्रेणी में नहीं रख सकते जिससे अपेक्षित परिणाम की अपेक्षा की जा सकती है। मान लीजिए कि हमें बार में पता लगता है कि हमारी यह धारणा समतल की कि पोसीडन को भेंट चढ़ाने से कोई साज नहीं होता और हमें यह पता लग जाता है कि पोसीडन को भेंट चढ़ाने का यात्रा की सफलता पर महंग प्रसर पड़ता है। यह पता लगते ही हमें अपने वर्गीकरण को बदलना पड़ना और पोसीडन को भेंट चढ़ाने के कार्य को उन कार्यों की श्रेणी में रखना पड़ता जिनसे अपेक्षित परिणामों की प्राप्ति की जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का वर्गीकरण मनुष्य अपने ज्ञान के आधार पर करता है।

तर्कसंगत और तर्कहीन कार्य

पेरेटो का कहना है कि मनुष्यों की क्रियाएँ अथवा कार्य (Actions) दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार के कार्य वे होते हैं जिनमें मनुष्य साध्य के अनुरूप ही प्रयत्न करता है। ये कार्य साध्य और साधन को तर्कसंगत रूप (Logically) जोड़ते हैं। दूसरे प्रकार के कार्य वे होते हैं जिनमें साध्य और साधन को जोड़ने वाली यह तर्कसंगत नहीं होती। दूसरे प्रकार में कार्य वे साध्य के अनुरूप साधन नहीं बनाए जाते। इन्हें अतार्किक कार्य अथवा क्रियाएँ (Illogical Actions) कहते हैं। लेकिन जब इन दोनों ही प्रकार

कार्यों पर वस्तुगत (Objective) धमका कर्तागत (Subjective) रूप से विचार किया जाता है तो वे बिनाकारण ही भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। कर्तागत दृष्टि फोछे से मनुष्य के प्रायः सभी कार्य ऊपर उल्लिखित पहले वर्ग के होते हैं, यानी तर्कसंगत होते हैं। मृत्युनाती नाबिठ पोनीडन को भेड बडाना एरु तर्कसंगत कार्य धमका उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक तर्क-संगत साधन मानते थे पर ऐसे दूसरे लोगों की दृष्टि में जिन्हें क्याबा ज्ञान प्राप्त है, यह कार्य वा साधन तर्क-संगत नहीं है। घट हम उन कार्यों को तर्क-संगत कार्य कहेंगे जो कर्ता की दृष्टि से ही नहीं बल्कि उन दूसरे लोगों की दृष्टि से भी जिन्हें क्याबा ज्ञान प्राप्त है साध्य और साधन को तर्क-संगत बन से जोड़ते हैं। दूसरे धर्मों में तर्क-संगत कार्य वे हैं जो कर्तागत तथा वस्तुगत दोनों दृष्टियों से तर्कसंगत हों। दूसरे सभी कार्यों को धर्मात्मक धमका तर्कहीन माना जावेगा। पर्यटो ने इस दूसरी श्रेणी के कार्यों को धर्मक उपबर्गों में विभाजित किया है।

धर्मात्मक कार्यों (क्रियाओं) का वर्गीकरण

तर्क संगत कार्यों में वस्तुगत उद्देश्य और कर्तागत धमका कर्तागत उद्देश्य धमका होता है—

तर्कसंगत कार्य

वस्तुगत मध्य (Objective end)	कर्तागत उद्देश्य (Subjective purpose)
हाँ	हाँ

सेकिन घट किन कार्यों या क्रियाओं में वस्तुगत (Objective) उद्देश्य और कर्तागत (Subjective) उद्देश्य का येन ज्ञाना धमकायक नहीं। उनमें धमका हो सकता है और यह स्थिति चार प्रकार की हो सकती है—

धर्मात्मक धर्म

वस्तुगत मध्य (Objective end)	कर्तागत उद्देश्य (Subjective purpose)
प्रथम स्थिति—नहीं	नहीं
द्वितीय स्थिति—नहीं	हाँ
तृतीय स्थिति—हाँ	नहीं
चौथी स्थिति—हाँ	हाँ

उपर्युक्त दृष्टान्त में तात्कालिक सक्ष्यों और चहेस्यों को लिया गया है और प्रत्यक्ष सक्ष्यों तथा चहेस्यों को छोड़ दिया गया है। वस्तुवारी सक्ष्य वास्तविक होता है क्योंकि उसको निरीक्षण और परीक्षण द्वारा जाना जा सकता है। वस्तुवारी सक्ष्य काल्पनिक नहीं होता जो कि निरीक्षण और परीक्षण के क्षेत्र के बाहर हो। पर कर्त्तव्य चहेस्य काल्पनिक हो सकता है।

घटाधिक क्रियाओं का आधिक्य

सम्य सोचों में तर्कसंगत कार्यों की संख्या काफी होती है। क्रियाओं और विज्ञानों से सम्बन्धित कार्य इसी बर्ण के होते हैं, कम-से-कम क्रमाचारों और वैज्ञानिकों के सिद्ध। लेकिन जो लोग दुष्टों के आदेशानुसार घातकीय क्रम द्वारा क्रमा और विज्ञान-सम्बन्धी कार्यों में योग देते हैं। उनकी दृष्टि में ये कार्य ऊपर की गई तात्कालिक स्वीकृति के अन्तर्गत आने वाले घटाधिक कार्य हो सकते हैं। राजनीतिक-पर्यटन के भी बहुत से कार्य इसी श्रेणी के होते हैं। इसी प्रकार बहुत से सैनिक राजनीतिक और कानूनी कार्य इसी श्रेणी में आते हैं। इसके यह सिद्ध होता है कि घटाधिक कार्य हमारे समाज में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका धरा करते हैं और मनुष्य के अधिकांश कार्य अथवा क्रियाएँ इसी श्रेणी की होती हैं। यही कारण है कि परन्तु मैं अपने समाजशास्त्र में घटाधिक (तर्कहीन) कार्यों अथवा क्रियाओं (Actions) का विशेष रूप से अध्ययन व विश्लेषण किया है।

समाज और सामाजिक व्यवस्था

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समाज-सम्बन्धी विभिन्न धारणाएँ प्रस्तुत की हैं। उन्होने समाज की समय-समय से व्याख्या की है। कुछ समाजशास्त्रियों ने उसे जीवकीय इकाई (जीव) (Organism) के समान माना है तो कुछ समाजशास्त्रियों ने कहा है कि समाज व्यक्तियों का समूह-मात्र है। कुछ समाजशास्त्रियों ने उसे एक संघ के रूप में देखा है और वे सामाजिक प्रक्रियाओं को संघर्ष मानने हैं। समाज के प्रति इन विभिन्न दृष्टिकोणों तथा समाज के सम्बन्ध में इन विभिन्न धारणाओं (Conceptions) के फलस्वरूप विभिन्न समाजशास्त्रीय स्कूलों (विचारधाराओं) को जन्म मिला। इन स्कूलों में समाजशास्त्रियों का नामकरण भी समाज-सम्बन्धी उनकी धारणाओं के अनुसार हुआ। जहाँ तक परेटो की समाजशास्त्रीय धारणा का सम्बन्ध है वह इन सभी विचारधाराओं से भिन्न है। यद्यपि इस दृष्टि से उन्हें इसमें से किसी भी स्कूल का नहीं माना जा सकता।

समाज-सम्बन्धी धारणाएँ अथवा समाज की व्याख्या

परेटो ने समाज की व्याख्या करते हुए कहा है कि सामाजिक व्यवस्था (Social system) ही समाज अथवा सामाजिक समुदाय (Social group) होता है। उनकी दृष्टि में कोई भी सामाजिक समुदाय अथवा समाज सामाजिक व्यवस्था से अधिक कुछ भी नहीं है। उनका कहना है कि जब तक वह सामाजिक व्यवस्था कायम रहती है, तब तक वह एक प्रकार के संतुलन (Equilibrium) की स्थिति में होती है। संतुलन की स्थिति से परेटो का अभिप्राय यह है कि अत्यधिक सामाजिक समुदाय में दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। पहले प्रकार की शक्ति यह होती है जो सामाजिक व्यवस्था को भट्ट भट्ट करने की कोशिश करती है। दूसरे प्रकार की शक्ति यह होती है जो सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने की कोशिश करती है (Integrating force)। दूसरे प्रकार की शक्ति पहले प्रकार की शक्ति का सफ़ायापूर्वक मुकाबला करके एक ऐसा संतुलन कायम

रखती है जिससे सामाजिक व्यवस्था जटिल जटिल नहीं होने पाती। इस प्रकार परेडो के अनुसार समाज की व्याख्या यह हुई कि समाज महज एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जो, अपने अस्तित्व-काल में संतुलन की स्थिति कायम रखती है। उन्होंने सामाजिक भौतिकशास्त्रियों (Social physicists) की प्रति मानव-समाज की परिकल्पना ऐसे मानवीय अणुओं (मानव कण अणुओं) (Human molecules) की व्यवस्था के रूप में की है जो जटिल पारस्परिक सम्बन्धों (Complex mutual relationship) द्वारा सम्बद्ध होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार बहुत से अणु मिलकर यानी अपने परस्पर सम्बन्धों द्वारा किसी भौतिक व्यवस्था का रूप धारण करते हैं, ठीक उसी प्रकार बहुत से अणुय मिलकर अपने पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा समाज का रूप धारण करते हैं। पर इन मानवीय अणुओं की एक विशेषता यह भी होती है कि वे अत्यन्त जटिल (Complex) होते हैं।

सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप

परेडो का कहना है कि सभी सामाजिक व्यवस्थाएँ एक-जैसी नहीं होतीं। उनका ढेर या वास्तविक स्वरूप अलग-अलग तरह का होता है। पर सामाजिक व्यवस्था के अनेक स्वरूप रहे हैं और हैं। उनके ये स्वरूप बदलते भी रहे हैं। यदि हम किसी भी सामाजिक समुदाय को लें तो देखेंगे कि उसका स्वरूप सर्वत्र एक जैसा नहीं रहा है, बल्कि अलग अलग समय में उसके स्वरूप अलग-अलग रहे हैं। पर अन्त यह उठता है कि सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करने वाले तथ्य अथवा प्रभावक (Factors) क्या हैं और सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप किस प्रकार बदलता है ?

प्रभावकों (Factors) सम्बन्धी विद्वान्त

परेडो ने उन प्रभावकों का विश्लेषण तथा उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है जिन्हें सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप-निर्धारण के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। उनका कहना है कि समाज के स्वरूप का निर्धारण वे सभी तत्त्व नियंत्रण करते हैं जो उस प्रभावित करते हैं। इनके अर्थों में समाज का ढेर स्वरूप विभिन्न तत्त्वों द्वारा पड़ने वाले प्रभावों का समूह होता है। पर इन तत्त्वों पर समाज के स्वरूप को भी प्रतिबिम्ब होती है यानी समाज का स्वरूप उन तत्त्वों को भी प्रभावित करता है जिनके प्रभावों द्वारा समाज का स्वरूप बनता है। इस प्रकार समाज के तत्त्वों और समाज के स्वरूप में बिया प्रतिबिम्ब का पारस्परिक सम्बन्ध होता है।

प्रभावकों का वर्गीकरण

परेडो ने समाज का स्वरूप निर्धारित करने वाले तत्त्वों प्रथम प्रभावकों को तीन वर्गों में बाँटा है। उन्होंने पहले वर्ग में भूमि (Soil) वसवायु (Climate) जीव-जन्तु जनसंख्या (Flora fauna) और भू-तत्त्व (Geologic conditions) धारि को रखा है। दूसरे वर्ग में उन्होंने समाज के बाहर के तत्त्वों (Exterior elements) को रखा है। इन तत्त्वों से उनका प्रभाव है—ऐसे तत्त्व जो किसी समय के किसी समाज (काल विशेष के समाज-विशेष) के सामाजिक तत्त्व न हों। उदाहरण के लिए, इस वर्ग के अन्तर्गत उन दूसरे समाजों को भी माना जा सकता है जिनका प्रभाव उस समाज पर पड़ता है जिसके बारे में विचार किया जा रहा हो। इस वर्ग में परेडो ने उन तत्त्वों को भी शामिल किया है जो किसी समाज के वर्तमान स्वरूप में तो मौजूद न हों लेकिन उसके पूर्ववर्ती स्वरूपों (Preceding stages of society) में मौजूद रहे हों। तीसरे वर्ग में परेडो ने सामाजिक व्यवस्था के आन्तरिक तत्त्वों (Inner elements) को रखा है, जैसे कि मूल भावनाएँ, विचारधाराएँ तथा प्रथम प्राथमिक गुण।

प्रभावकों की पारस्परिक निर्भरता

परेडो का कहना है कि ऊपर उल्लिखित तत्त्व प्रथम प्रभावक एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। यद्यपि किसी भी समाज के स्वरूप को पूर्ण तरह समझने के लिए यह बात ज़रूरी होना आवश्यक है कि इनमें से कौन-कौनसे तत्त्व किस-किस मात्रा में मौजूद हैं उनका एक-दूसरे के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है और वे क्या प्रभाव डालते हैं। परेडो का कहना है कि इस सम्बन्ध में इन सभी तत्त्वों की जांचाई उनके पारस्परिक सम्बन्धों और प्रभाव के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर पाना सम्भव है। यद्यपि समाज के स्वरूप को समझने के लिए विभाजन केवल ऐसे कुछ तत्त्वों को लिया जा सकता है जो यथा महत्वपूर्ण हैं। इन महत्वपूर्ण तत्त्वों में से प्रत्येक की मात्रा और दूसरे महत्वपूर्ण तत्त्वों के साथ उसके पारस्परिक सम्बन्धों का पूर्ण रूप से अध्ययन करने पर ही किसी भी समाज के स्वरूप को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझा जा सकता है।

पाँच प्रमुख प्रभावक (तत्त्व)

परेडो ने सामाजिक व्यवस्था के पाँच प्रभावकों (तत्त्वों) (Factors) को विशेष महत्व दिया है और अपने समाजशास्त्र में उन्हीं का अध्ययन विशेषण

(२) समूहगत निरन्तरता के अवशेष (Residues of persistence of aggregates)—ये वे प्ररक तत्व (Drives) होते हैं जो दूसरे मनुष्यों और स्थानों के साथ समुच्च के सम्बन्ध की निरन्तरता (Perseverance) को कायम रखते हैं। वे ही मूल अवधारणों प्रतीको तथा मूर्त धारणाओं (Personified concepts) के साथ समुच्चों के सम्बन्धों को निरन्तर कायम रखत हैं।

(३) बाह्य कर्मों द्वारा भावनाओं को अभिव्यक्ति के अवशेष अथवा प्राकल्पकताएँ (Residues or needs of the manifestation of sentiments through exterior acts)—इन अवशेषों के अन्तर्गत राजनीतिक आन्दोलन तथा दूसरे आन्दोलन आदि आते हैं। विशेष सामिक काम भी इसी अवशेष के अन्तर्गत आते हैं।

(४) सामाजिकता-सम्बन्धी अवशेष (Residues in regard to sociability)—ये अवशेष वे प्ररक तत्व होते हैं जिनसे अलग अलग प्रकार के समाजों तथा समूहों का निर्माण होता है और जो समूह अथवा समाज के सदस्यों पर समकथिताएँ लाते हैं। क्या सहाचार, निर्दयता सीकप्रियता के लिए प्रयास, हीनता अथवा धृष्टता की भावनाएँ आदि इसी रूप के अवशेषों के अन्तर्गत माने जाते हैं।

(५) अखिलर की अखिलरता के अवशेष (Residues of the integrity of personality)—ये प्ररक तत्व वे होते हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व की विमूर्तता को रक्षा करते हैं। समानता और स्वतंत्रता आदि के लिये किए जाने वाले प्रयास इसी अवशेष के अन्तर्गत आते हैं।

(६) लैंगिक अवशेष (Sexual residues)।

ये छः अवशेष प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के स्थिर तत्व (Constant elements) माने गए हैं क्योंकि वे प्रत्येक समाज में विद्यमान होते हैं लेकिन प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक समूह में इन अवशेषों की मात्रा समान नहीं होती। कुछ व्यक्तियों तथा समूहों में किसी अवशेष की मात्रा अधिक होती है तो किसी व्यक्ति अथवा समूह में किसी अवशेष की। किसी भी समाज में अवशेषों की मात्रा अद्वैत एक-जैसी नहीं रहती। कभी किसी अवशेष की मात्रा बढ़ जाती है तो कभी किसी अवशेष की मात्रा कम हो जाती है। समाज के सदस्यों में भी इन अवशेषों की मात्रा अन्ती-बढ़ती रहती है। अवशेषों की मात्रा में अट बढ़ के कारण समाज के आन्तरिक तत्वों का संतुलन बदल जाता है। इसके अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप बदल जाता है।

मानवीय क्रियाओं का स्वल्प भी इन्हीं अवशेषों पर निर्भर करता है। वास्तव में मानवीय क्रियाएँ इन अवशेषों की अभिव्यक्ति (manifestation) होती हैं। मनुष्यों में इस अभिव्यक्ति के दो मुख्य स्वरूप होते हैं। एक स्वरूप तो यह होता है जब कि क्रियाओं के बाद शब्दों द्वारा प्रतिक्रियाओं का प्रकटीकरण नहीं होता (Action not followed by speech reactions)। इसमें अभिराम है वे क्रियाएँ जिनके बाद कोई चेतन कर्तव्य प्रक्रिया नहीं होती (Action not followed by conscious subjective processes)। ये क्रियाएँ घापस घाप होती हैं। किसी अवशेष में प्रतिक्रिया और वे क्रियाएँ हो जाती हैं। अभिव्यक्ति का दूसरा स्वरूप यह होता है कि क्रियाओं के बाद शब्दों में उसकी प्रतिक्रिया प्रकट होती है और विचारवागाएँ सामने आती हैं (Actions followed by speech reactions [ideologies])। ये चेतन मानसिक प्रक्रियाएँ होती हैं। सिद्धान्त निकालना किसी काम को उचित सिद्ध करने की कोशिश और किन्हीं निश्चित शर्तों के लिए किए जाने वाले काम इसी रूप में होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रेरक शर्तों द्वारा प्रतिक्रिया होकर मनुष्य काम करता है और फिर उसकी पार्थिव प्रतिक्रिया के रूप में सिद्धान्त प्राप्ति करते हैं।

२ प्रत्युत्पादक उत्पत्ति (Derivations)

अवशेषों द्वारा प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप जो सिद्धान्त और प्रादुर्भाव प्राप्ति करते हैं उन्हें परेटो न प्रत्युत्पादक उत्पत्ति (Derivations) कहा है। ये वास्तव में वे प्रतिक्रियाएँ होती हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने कार्यों के अर्थों की खोज करने की कोशिश करता है। परेटो का यह सिद्धान्त मार्क्स के सिद्धान्तों से बहुत-बहुत भिन्नता सुगता है। जिस प्रकार परेटो ने अवशेषों की सिद्धान्तों की खोजी माना है वही उसी प्रकार मार्क्स ने भौतिक परिस्थितियों को विचारों और सिद्धान्तों की खोजी माना है। मार्क्स का कहना है कि जिस प्रकार की भौतिक परिस्थितियाँ होती हैं, मनुष्यों के उसी प्रकार के विचार सिद्धान्त और संस्कृति प्राप्ति होती हैं। परेटो और मार्क्स में अन्तर केवल यह है कि परेटो ने विचारों और सिद्धान्तों को भौतिक परिस्थितियों की उत्पत्ति न मानकर अवशेषों की उत्पत्ति माना है। पर अवशेषों की उत्पत्ति का अर्थ भौतिक परिस्थितियाँ तथा मनुष्य का शरीर (जिसमें मस्तिष्क भी शामिल है) होता है। इस प्रकार परेटो ने भी परोक्ष रूप से भौतिक शीर्षों को ही विचारों और सिद्धान्तों की उत्पत्ति का अर्थ माना है। जिस प्रकार मार्क्स ने कहा है कि विचार और सिद्धान्त अपनी उत्पत्ति के अर्थ माने भौतिक परिस्थिति और मनुष्य के मस्तिष्क को

कित करत है। थोक उसी प्रकार परेटो ने भी प्रत्युत्पादकों (Derivations) विचारों और सिद्धान्तों के प्रभाव को स्वीकार किया है। उनका कहना भी है कि एक ही अवधारण के अनेक प्रत्युत्पादकों को जन्म दे सकता है। इसी तरह एक ही प्रकार के अनेक प्रत्युत्पादकों से अनेक प्रकार के प्रत्युत्पादकों की एक ही अवधारण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, हत्या न करने का विरोध करने वाले विभिन्न सिद्धान्तों की उत्पत्ति का स्रोत एक ही अवधारण है। जब हम कहते हैं कि मनुष्य को हत्या नहीं करनी चाहिए बरना उसे पाप होगा या यह कि हत्या करना ईश्वर की दृष्टि में पाप है या यह कि हत्या करना गुरा होता है अथवा यह कि हत्या करना कानूनी अपराध है तो इन सभी व्यक्तिगतों अथवा इन सभी विचारों और सिद्धान्तों का मूल स्रोत एक ही अवधारण है। पर उस अवधारण ने अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग प्रकार के सिद्धान्तों को जन्म दिया। अतः प्रत्युत्पादक यानी सभी प्रकार के सिद्धान्त और सभी प्रकार की विचारधाराएँ, वास्तव में अवधारण की व्यक्तिगतता पर निर्भर करती हैं। यहाँ एक और उदाहरण दिया जा सकता है। जब कोई व्यक्ति व्यक्तिगतता की बात कहता है और कोई दूसरा व्यक्ति धार्मिक व्यक्तिगतता की बात कहता है तो उन दोनों विचारों की विपरीतता के बावजूद वे दोनों ही स्रोत (अवधारण) एक ही होते हैं। वे अवधारण ऐसे प्रकार के होते हैं जो दूसरों पर अपने विचारों तथा विश्वासों को मारने की कोशिश करते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण यह प्रकट करता है कि क्रियाएँ (Actions) और प्रत्युत्पादक (Derivations) (विचारधाराएँ और सिद्धान्त) दोनों ही अवधारणों पर निर्भर होते हैं तथा अवधारण ही उनकी उत्पत्ति का स्रोत होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक ही व्यक्ति में परस्पर-विरोधी विचार पाये जाते हैं और मनुष्यों के बहुत से कर्म तथा व्यवहार परस्पर-विरोधी और प्रतिक्रमिक होते हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर परेटो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य के व्यवहारिक कर्म प्रतिक्रमिक होते हैं। मनुष्य की प्रतिक्रमिक क्रियाओं के तर्कसंगत होने का कारण यह है कि किसी समय उस पर किसी अवधारण का प्रभाव होता है और किसी समय दूसरे अवधारण का प्रभाव होता है। अतः उसे किसी समय पर कोई अवधारण एक बात के लिए प्रेरित करता है तो दूसरे ही वक़्त कोई दूसरी अवधारण किसी दूसरी बात के लिए प्रेरित करता है। अतः उसके कर्मों में अंतर्घटनता या जाती है और वे प्रतिक्रमिक बन जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य पर जब विश्व अवधारण का प्रभाव अधिक होता है तब उसका व्यवहार उसी के अनुकूल

होता है। धन-धनन धनधेयों के प्रभावों के फलस्वरूप इसके व्यवहार प्रसंग चर्च के होते हैं।

परेडो का कहना है कि धनधेयों के परस्पर सम्बन्ध इतने जटिल (Complex) होते हैं और उनमें इतना अधिक विरोधाभास होता है कि उनके प्रत्युत्पादन (मनुष्य की क्रियाएँ और सिद्धान्त) बहुत ही कम तर्कसंगत और सही होते हैं। अपने इस सिद्धान्त के अनुसार परेडो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अधिकांश धार्मिक धार्मिक राजनीतिक और समाजशास्त्रीय सिद्धान्त घटाकिक प्रसंग और धर्मशास्त्रिक हैं। इसी दृष्टिकोण से उन्हें ही कौल (Combe) के पॉजिटिविस्ट (Positivist) सिद्धान्त की भी धर्मशास्त्रिक कहा है। इसी दृष्टिकोण से उन्हें ही प्रगति प्रजातन्त्र समाजवाद राष्ट्रीयतावाद एकता वैश्व-भक्ति धर्मराष्ट्रीयता-वाद विकास बुनियादी अधिकार और नीतिध्या-सम्बन्धी सिद्धान्तों तथा बार् साधों को घटाकिक और धर्मशास्त्रिक माना है।

३. आर्थिक हित (Economic Interest)

परेडो का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक समूह के कुछ-कुछ आर्थिक हित (Economic Interest) होते हैं। उनमें ऐसी प्रवृत्तियाँ होती हैं जो उन्हें भौतिक (Material) पदार्थों तथा उपकरणों प्राप्ति की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती हैं। ये हित कुल मिलाकर, सामाजिक संतुलन के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका धरा करते हैं। ये इतने जटिल होते हैं कि उनका पूर्ण अध्ययन धर्मशास्त्रियों द्वारा सम्भव नहीं है और वह समाजशास्त्रियों द्वारा किया जाना चाहिए। परेडो का कहना यह भी है कि समाजशास्त्र भी तब तक उसका अध्ययन पूर्ण रूप से नहीं कर सकता जब तक वह विद्युत् धर्मशास्त्र के निष्कर्षों की सहायता न ले। परेडो का कहना है कि सामाजिक प्रक्रिया में आर्थिक तत्त्व महत्वपूर्ण भूमिका धरा करते हैं लेकिन केवल उन्हें ही सामाजिक प्रक्रिया का मूल धररस मानना बसत होना।

४. सामाजिक विभिन्नताएँ

परेडो का कहना है कि मनुष्यों और समूहों की विभिन्नता (Heterogeneity of human beings and social groups) को सामाजिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका धरा करती है और वह उसका एक स्वर तत्व है। यह सर्वविधित है कि व्यक्तियों में धारीरिक नैतिक और जैतिक विभिन्नताएँ होती हैं। इसी से सामाजिक प्रसमानता की उत्पत्ति हुई है। यह प्रसमानता प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में रही है। परेडो ने अपने इस सिद्धान्त को ध्यात बनाकर

ही समानता और प्रजातन्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों की आलोचना की है। उनका कहना है कि ऐसी कोई भी सामाजिक या राजनीतिक व्यवस्था नहीं रही है जिसमें पूर्ण रूप से समानता रही हो अथवा जो पूरा रूप से प्रजातन्त्रीय रही हो। उनका कहना है कि चाहे जो उपाय काम में लिए जायें व्यक्तियों में विभिन्नता रहेगी ही और उसके फलस्वरूप असमानता भी रहेगी।

५ सामाजिक गतिशीलता और वर्ग-निर्धारण

पैटो ने सामाजिक गतिशीलता (Social mobility) और वर्ग-निर्धारण (Circulation of Elites) को भी समाज का एक स्थिर तत्त्व माना है। उनका कहना है कि प्रत्येक समाज में व्यक्तियों का बर्तीकरण होता है। ये वर्ग मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग। इन वर्गों में विभिन्न घटकबलों की भाँति घटक-अटक होती हैं। बर्तीकरण बदलता भी रहता है, जिसका परिणाम यह भी होता है कि व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में पहुँच जाते हैं। इस सामाजिक गतिशीलता की भाँति घटक-अटक समाज में और घटक-अटक-अटक-अटक-अटक होती है। इन समाजों में भी यह गतिशीलता विद्यमान होती है जो आठौंमता पर आधारित होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक संभ्रान्त वर्ग (Aristocracy) का हैर-सबेर पतन घटका होता है और वह कमी-ज-कमी लुप्त हो जाता है। इसी से पैटो ने इतिहास को संभ्रान्त वर्गों का कब्रिस्तान (Graveyard of Aristocracy) कहा है। जब किसी संभ्रान्त वर्ग का पतन शुरू हो जाता है और उस वर्ग के लोग फिरकर निम्न वर्ग में पहुँचने लगते हैं, तो वह संभ्रान्त वर्ग मरखाना हो जाता है। उस वक्त उसका स्थान ग्रहण करने के लिए निम्न वर्गों के लोग तरकीब करके उच्च सामाजिक पदों पर पहुँचने लगते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक समाज में मनुष्यों का बर्तीकरण होता रहता है, यानी वर्ग बनते और बियड़ते रहते हैं। प्रत्येक समाज का संभ्रान्त वर्ग अपने को कायम रखने की पूरी चेष्टा करता है। इसके लिए वह घुसघोरी और झूठाचार करता है, लोगों को बेतों में डालता है किन्तु ही लोगों को खत्म कर डालता है। और निम्न वर्गों के जिन लोगों की वह अपने लिए खतरनाक घबराहट है, उन्हें उच्च पद देकर अपनी ओर मिसाने की कोशिश करता है। इस प्रकार के युष्नों तथा व्यक्ति-संयोग द्वारा अन्तर-वह अपने घटित-वह को कुछ ज्यादा समय तक कायम रखने में सफल हो जाता है। पैटो का कहना है कि जो संभ्रान्त वर्ग निर्दयी और युष्मी रहे हैं वे मानवतावादी संभ्रान्त वर्गों की अपेक्षा ज्यादा समय तक कायम रह सके।

इमाइल दुखीम
(EMILE DURKHEIM)

अध्याय १ सामान्य परिचय

इमाइल बुर्खीम फ्रान्स के बहुत प्रसिद्ध समाजशास्त्री तथा विचारक थे और समाजशास्त्रियों में उनका प्रमुख स्थान रहा है। फ्रान्स में समाजशास्त्री के रूप में वे जितने प्रभावशाली रहे हैं उतना प्रभावशाली जी० टॉर्से का समाजशास्त्र में कोई समाजशास्त्री समाजशास्त्री अपना विचारक नहीं रहा है। उनके इस प्रभाव के घनेक कारण वे पर उनमें से सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि एक ओर तो उनके दार्शनिक विचार अत्यन्त तर्कसंगत थे और दूसरी ओर उनकी कार्य पद्धति एक वैज्ञानिक की भांति थी। इस प्रकार उनमें दार्शनिक और वैज्ञानिक, दोनों ही के गुण मौजूद थे और उनकी योग्यता उनकी कृतियों में मजबूत प्रकार परिलक्षित हुई है। वे अत्यन्त अध्यवसायी थे और तथ्यों का धैर्यपूर्वक अध्ययन करने के बाद ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचते थे। इसके बाद वे एक वैज्ञानिक की तरह इन निष्कर्षों की जाँच करते थे। यही कारण है कि उनकी कृतियाँ बहुत ही ऊँचे स्तर की हैं।

बुर्खीम एक पॉजिटिविस्ट थे और उन्होंने सामाजिक क्रियाओं प्रक्रियाओं के अध्ययन के लिये नैतिक विज्ञान के तरीकों को अपनाया। उन्होंने कौट (कॉन्टे) के पॉजिटिविस्ट विद्वानों को विकसित किया तथा उन्हें मुद्दू भाषा में प्रयोग किया। यह कहना अतिपर्याप्त न होके कि कौट (कॉन्टे) के पॉजिटिविस्ट विद्वानों में पुरुषता सन्ने का श्रेय उन्हीं को रहा है। इसके अलावा उन्होंने घनेक सामाजिक तथ्यों का वैज्ञानिक विश्लेषण और विश्लेषण प्रस्तुत किया।

प्रारम्भिक जीवन

इमाइल बुर्खीम का जन्म फ्रान्स के एनोस नामक स्थान में सन् 1८३४ में हुआ था। अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद वे बोर्देसो विश्वविद्यालय में सामाजिक विज्ञान के प्राध्यापक हो गये। इसके बाद वे पेरिस के विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र और शिक्षा के प्राध्यापक बने। पेरिस विश्वविद्यालय से ही उन्हें डॉक्टर की उपाधि भी मिली थी। उन्हें समाज में 'श्वेत विचारक' नामक पेशिस

११२

पर डॉक्टर की उपाधि मिली थी। इस बीसिस के प्रकाशित होते ही उन्हें बहुत क्वालि मिली। उसका प्रकाशन १८९१ में हुआ था। इसके बाद उन्होंने 'समाज धार्मिक पद्धति के नियम नामक पुस्तक लिखी। उनकी तीसरी पुस्तक 'धार्मिक हत्या' १८९७ में प्रकाशित हुई। १९१२ में उनकी पुस्तक 'धार्मिक जीवन के प्रारम्भिक रूप' प्रकाशित हुई थी। वहीं उनकी अन्तिम पुस्तक थी। उन्होंने समाजशास्त्र पर एक पत्रिका भी निकाली थी जिसका सम्पादन वे स्वयं ही करते थे। पर इस पत्रिका के केवल कुछ ही वर्ष निकल सके और सन् १९१७ में उनका देहावसान हो गया।

इसाइय कुर्बान पर बहुत सी पुस्तकें और लेख आदि लिखे गये हैं और संसार के अनेक प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों ने उन पर पुस्तकें लिखी हैं। जिन समाजशास्त्रियों ने उन पर पुस्तकें लिखी हैं उनमें से मुख्य हैं—वेबके डेन्सोई, डेनफोर्ड, हैलबास वार्नेस और बोवसे।

दुर्खीम के समाजशास्त्र की विशिष्टताएँ

जैसा कि हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं दुर्खीम को कौट (कोन्टे) के पॉजिटिविस्ट सिद्धान्तों को विकसित करने तथा उनमें पूर्णता लाने का योग प्राप्त है। कौट (कोन्टे) एक नयी विचारधारा प्रवाह 'स्कूल' के जन्मदाता थे। जैसा कि माय कौट (कोन्टे) सम्बन्धी अध्यायों में पढ़ चुके हैं उन्होंने विज्ञानों का वर्गीकरण किया था और अपने इस वर्गीकरण में उन्होंने प्राणीशास्त्र (Biology) के उत्कृष्ट भाग समाजशास्त्र को रखा था। वे० एच० मिन् हबर्ट स्पेंसर तथा कई अन्य समाजशास्त्रियों ने उनके इस वर्गीकरण की तीव्र प्रशंसा की थी। उनका कहना था कि मनोविज्ञान को समाजशास्त्र के ऊपर स्थान मिलना चाहिए। पर किन्तु ही ऐसे समाजशास्त्री भी हुए हैं जिन्होंने कौट (कोन्टे) के इस वर्गीकरण का समर्थन किया है और उनका कहना है कि कौट (कोन्टे) ने समाजशास्त्र को मनोविज्ञान से ऊपर स्थान देकर ठीक ही किया है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण समाजशास्त्र द्वारा किया जाना चाहिए, न कि समाजशास्त्रीय प्रक्रियाओं का विश्लेषण मनोविज्ञान द्वारा। कुछ भी हो इन मतभेदों के कारण कई नयी विचारधाराएँ उत्पन्न हो गयीं और जो समाजशास्त्री कौट (कोन्टे) के विचारों से सहमत थे वे भी जो समाजशास्त्र को प्राणीशास्त्र के उत्कृष्ट भाग रखने के पक्ष में थे उन्हें समाजशास्त्रीय 'स्कूल' के अनुयायी कहते हैं। दुर्खीम भी इन्हीं में से एक थे। यद्यपि इस स्कूल के अनुयायियों के चिन्तन का आधार समान रहा है, तथापि उनके विचारों ने अलग-अलग दिशाएँ ग्रहण कीं। अलग-अलग विचार-पद्धतियों के कारण वे अलग-अलग निष्कर्षों पर पहुँचें और इस तरह उन्होंने ऐसे अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिसकी प्रथम प्रथम विधि-पद्धतियाँ तथा विवेकताएँ रही हैं।

समाजशास्त्र और मनोविज्ञान

दुर्खीम ने मनोविज्ञान की अवस्था समाजशास्त्र को प्रमुखता प्रदान की है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि सामूहिक चेतना (Collective

consciousness) और वैयक्तिक चेतना (Individual consciousness) में बड़ा अंतर होता है और उनका निर्माण करने वाले तत्व भी अलग अलग होते हैं। दुर्बल के कथनानुसार समाजशास्त्र को मनोविज्ञान का पूरक या पर्याय (Corollary) मानना भी असत है, क्योंकि सामाजिक जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक प्रश्न का उत्तर स्वयं सामाजिक ढाँचे में ढूँढना पड़ता है न कि मनोविज्ञान में। सामूहिक प्रतिनिधियों (Collective representations) का अस्तित्व व्यक्ति के बाहर होता है और वे उसके अविष्य में विभिन्न नैतिक शक्ति और ताकिक नियम के रूप में घाते हैं। उनके पीछे एक शक्ति (Power) भी होती है जिसके कारण व्यक्ति को उन्हें मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। यही विशेषताएँ सामाजिक और विद्युत्-मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं में विभेद स्थापित करती हैं।

व्यक्ति और समाज

दुर्बल का कहना है कि सामाजिक अस्तित्व (चेतना) (Social mind) का अस्तित्व व्यक्तियों के बाहर और उनसे स्वतन्त्र होता है। उनके समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का यह अर्थ काफी विवादास्पद रहा है। पर उनके इस कथन में अंतर और की सुझाव नहीं है कि सामाजिक क्रिया प्रतिक्रिया के अस्तित्व ही मनो-वैज्ञानिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन आता है। यदि ये सामाजिक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ (Social actions and reactions) न हों तो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अलग अलग प्रकार की होती। इसी प्रकार उनका यह कहना अलग अलग अर्थ है कि व्यक्तियों के अलग-अलग कार्य-क्रमाओं में जो नियमितता होती है, कुछ समाजशास्त्रियों ने उनके इस कथन को चुनौती दी है कि सामाजिक अस्तित्व (Social mind) अथवा सामूहिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया (psychical phenomena) का अस्तित्व व्यक्तियों के अस्तित्व के बाहर होता है और इस तरह समाज अपने सदस्यों से स्वतन्त्र होता है। टाहॉ ने दुर्बल की धारणा को अलग कर दिया है कि "मेरे लिए यह समझ पाना कठिन है कि यदि व्यक्तियों को अलग कर दिया जाय तो समाज कैसे घिप बचेगा? यदि किसी विद्वान का विचार है कि समाज को अलग कर दिया जाय तो यह केवल नाम मात्र का विद्वानिष्ठान्त ही जायगा। यह धारणा ठीक-संगत प्रतीत होती है क्योंकि व्यक्तियों को अलग कर देने के बाद समाज के अस्तित्व की बचन भी नहीं की जा सकती। व्यक्तियों से ही मिलकर समाज बनता है, घटा

समाज की कल्पना व्यक्तियों को घसम करके नहीं की जा सकती । टाडें की भाँति अनेक समाजशास्त्रियों ने दुर्भाग के समाजशास्त्र के इस धर्म को धरना निक कहा है ।

सामाजिक प्रक्रियाएँ

दुर्भाग के इस कथन को भी अनेक समाजशास्त्रियों ने चुनौती दी है कि सामाजिक प्रक्रियाएँ (Social phenomena) के पीछे कोई-न-कोई ऐसी सत्ता होती है जो व्यक्तियों को उधे मानने के लिए बाध्य करती है । इसका धर्म यह हुआ कि केवल उन्हीं प्रक्रियाओं को सामाजिक प्रक्रिया की संज्ञा दी जा सकती है जिन्हें मानने के लिए व्यक्ति बाध्य हो । दुर्भाग ने इस प्रकार सामाजिक प्रक्रियाओं को अत्यन्त सीमित बना दिया है । टाडें ने उनही धारणाएँ करते हुए लिखा है कि यदि दुर्भाग के इस विद्यमान को मान लिया जाय तो केवल विवेका और विहित के सम्बन्धों को गुनाम बनाने वाले तन्त्रों को और केवल इन प्रक्रियाओं को जिनमें जोर-जबरदस्ती निहित हो सामाजिक प्रक्रिया माना जा सकता है । इसका धर्म यह भी होना कि स्वतन्त्र सहयोग को सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता । बजाहरण के लिए यदि व्यक्तियों का एक समूह स्वेच्छा से किसी नये धर्म को अपनाता है तो उसे सामाजिक प्रक्रिया नहीं माना जायेगा । इसी प्रकार स्वेच्छिक सम्बन्धों स्वेच्छिक परस्पर-सहायता व सहयोग (Free mutual aid and co-operation) तथा स्वेच्छिक एकता (Free solidarity) को सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत नहीं माना जायेगा । टाडें का कहना है कि दुर्भाग का यह कथन सही नहीं है कि केवल सही प्रक्रियाएँ सामाजिक प्रक्रियाएँ मानी जा सकती हैं जिन्हें मानने के लिए व्यक्ति बाध्य हो । क्योंकि सामाजिक प्रक्रियाओं का आधार जोर-जबरदस्ती (Compulsion) के अभाव में स्वेच्छा व सहयोग भी हो सकता है ।

आधारभूत मान्यताएँ

बहुत से समाजशास्त्री यह मानकर चले हैं कि समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया की उपयोगिता सिद्ध करना है। अतः उन्होंने यह पता लगाने की कोशिश की है कि कौनसा सामाजिक तत्त्व समाज में क्या भूमिका धरा करता है। उनके लक्ष इस तरह के होते हैं मानो सामाजिक तत्त्वों का अस्तित्व इन्हीं भूमिकाओं को धरा करने के लिए हो। अतः वे यह समझ बैठे कि यह पता लगा लेने से ही उनका काम पूरा हो गया कि किस सामाजिक तत्त्व धरना सामाजिक प्रक्रिया द्वारा किस सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति होती है।

कॉल से मतभेद

कॉल (कॉन्टे) भी उन समाजशास्त्रियों में से थे जिन्होंने सामाजिक तत्त्वों और सामाजिक प्रक्रियाओं की उपयोगिताओं पर जोर दिया है। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि मानव-समाज के समस्त प्रवृत्तिशील तत्त्वों की बुनियादी समझ इस बात की धोर रही है कि मनुष्य अपनी स्थिति को बराबर बेहतर बनाता जाए। स्पेन्सर का भी कहना है कि मनुष्य ने अधिकाधिक सुख प्राप्त करने के लिए ही मरुत्तर प्रयास किया है। उनका कहना है कि समाज का निर्माण भी इसीलिए हुआ कि उससे मनुष्य को लाभ पहुँचते हैं। उन्होंने इसी तरह सरकार और सेना पारि की भी उपयोगिता पर जोर दिया है। पर दुर्भाग्यवश कॉल और स्पेन्सर के इस उपयोगितावादी सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं और उन्होंने उसकी कड़ी आलोचना की है।

सामाजिक तत्त्व

दुर्भाग्य का कहना है कि सामाजिक तत्त्वों (Social facts) की उपयोगिता बता देने से ही यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उनको उत्पत्ति कैसे हुई क्यों हुई, और वे क्या हैं? तत्त्वों की उपयोगिता उनके किन्हीं विशिष्ट गुणों के कारण होती है। पर वे हमारे जिन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं उन आवश्यकताओं

के कारण इनकी उत्पत्ति नहीं होती। इनकी उत्पत्ति के कारण कुछ धीरे धीरे होते हैं। उनके विशेष गुणों के कारण हम उनका उपयोग कर सकते हैं लेकिन हम उस चीज के अस्तित्व के बिना उसके उन गुणों की उत्पत्ति नहीं कर सकते। यह बात जिस तरह के भौतिक तथ्यों और मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर लागू होती है, उसी तरह वह समाजशास्त्र में सामाजिक तथ्यों पर भी लागू होती है। चूंकि धार्य और पर हम यह देखते हैं कि सामाजिक तथ्य की उत्पत्ति मानसिक प्रभाव द्वारा होती है अतः हमें ऐसा समझना है कि हम जब चाहें तब इनकी उत्पत्ति कर सकते हैं। पर यह समझ बैठना प्रसन्न है। चूंकि प्रत्येक सामाजिक तथ्य स्वयं में एक शक्ति होती है चूंकि वह व्यक्ति की प्रेरणा बजाया वास्तविक और प्रभावदायी होता है और चूंकि उसका प्रारम्भ अस्तित्व होता है, यानी उसका अस्तित्व व्यक्ति से बाहर होता है अतः यह समझ बैठना प्रसन्न है कि व्यक्ति जब चाहे तब उसकी उत्पत्ति कर सकता है। किसी भी शक्ति की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक उसे उत्पन्न करने वाली दूसरी शक्ति मौजूद न हो। यदि कोई परिवार अस्थिर-अस्थिर हो रहा हो और उसकी एकता बच हो चुकी हो तो उस परिवार में फिर से एकता बनाने के लिए यह पर्याप्त नहीं है कि परिवार के सब लोग एकता के सामने को समझते हों। इसी तरह सरकार की आवश्यकता महसूस करने से ही किसी भी सरकार को वह सत्ता प्राप्त नहीं हो पाती जो सरकार के अस्तित्व के लिए आवश्यक होती है। उसके लिए परम्पराओं (Traditions) और समान भावना भावना की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि इनके द्वारा ही इस सरकार का आवश्यक सत्ता प्राप्त हो सकती है।

सामाजिक तथ्य और उपयोगितावादी सिद्धांत

सामाजिक तथ्यों-सम्बन्धी उपयोगितावादी सिद्धांतों (Utilitarian theories) का अर्थन करते हुए दुर्बीन ने लिखा है कि ऐसे तथ्य भी हो सकते हैं जिनकी कोई उपयोगिता न हो अथवा जिनके उपयोग की कभी कोई शक्ति न भी गई हो या जो किसी कामाने में उपयोगी रहे हों और जब अपनी उपयोगिता गन्त कर चुकने के बाद भी महक लोगों की आँसुओं के कारण मौजूद हों। इस तरह के बहुत से तथ्य समाज में मौजूद हैं। ऐसे भी अज्ञात-अज्ञात मिलते हैं जब कि किसी प्रवृत्ति (Convention or practice) अथवा सामाजिक संस्था (Social institution) का अस्तित्व तो न बरसा हो लेकिन उसके कार्य-कारण (functions) बरत पाए हों। अज्ञात-अज्ञात के लिए जो कानून किसी जमाने में पिता के सम्पत्ति-अधिकारों की रक्षा करते थे आज के ही कानून अज्ञानों के

सम्पत्ति-प्रतिकारों की रक्षा करते हैं। घरायशों में पहले घणन इसलिए दिखाई जाती थी ताकि घणन खाने वाला व्यक्ति जो कुछ कहे वह सब कहे लेकिन घणन यह दिखाव केवल रसम घरायशी के रूप में है। इसी प्रकार घनेक घनों में कही घयी बातें घणन भी बही-की-बही हैं, लेकिन हमारे सामुनिक समाज में ये वह भूमिकाएँ घया नहीं करतीं जो भूमिकाएँ ये मध्य-युग (Middle ages) में घरा करती थीं। उनका स्वल्प तो व्यो-का-स्यो है पर उनकी भूमिकाएँ बदल गयी हैं। इसी तरह घणों के घर्ष भी बदलते रहे हैं। समाजघासन में सामाजिक तथ्यों के घारे में भी यही बात लागू होती है। सामाजिक तथ्यों का घस्तित्व उन कार्य-वसाधों उपयोगिताओं घीर भूमिकाओं से पृथक तथा स्वतन्त्र होता है जो ये समाज में घरा करते हैं। इस प्रकार सामाजिक तथ्यों का घस्तित्व घन यह स्यो से स्वतन्त्र (Independent) होता है जिनकी ये पूरि करते हैं।

सामाजिक विकास

बुर्खीम का कहना है कि सामाजिक तथ्यों घीर प्रक्रियाओं के स्वतन्त्र घस्तित्व का घर्ष यह क्सापि नहीं है कि मनुष्य की इच्छाएँ, भावनाएँ घीर घावस्य क्साएँ सामाजिक विकास में सक्रिय रूप से सहायक घबना बामक नहीं बनतीं। वास्तविकता यह है कि मनुष्य सामाजिक विकास में सहायक भी बन सकता है घीर बामक भी। यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है। मनुष्य घूम (Vacuum) स किसी सामाजिक तथ्य या प्रक्रिया की उत्पत्ति तो नहीं कर सकता लेकिन वह सामाजिक तथ्यों घीर प्रक्रियाओं को प्रभावित घबस्य कर सकता है, घपनी इच्छाओं घीर घावस्यक्ताओं के घमुधार उनमें हस्तघेप घबस्य कर सकता है। उसके इस सक्रिय हस्तघेप के फलस्वरूप कोई नई प्रक्रिया भी जन्म ले सकती है।

मानव-घावस्यक्ताओं का प्रभाव

बुर्खीम का कहना है कि थम क विभाजन (Division of labour) में मानव-विकास में सहायता पहुँचाई है लेकिन थम का विभाजन इसलिए घुक नहीं हुआ कि मनुष्य में उसकी घावस्यक्ता महसूस की। पहले ये परिस्थितियाँ उत्तरन्त हुईं जिनके फलस्वरूप थम-विभाजन घारम्भ हुआ घीर थम विभाजन घारम्भ हो जाने के बाद ही मनुष्य उसकी उपयोगिता को देख सका घीर उसकी घावस्यक्ता को महसूस कर सका। जब मनुष्य थम-विभाजन की घावस्यक्ताओं को महसूस करने सया तो उत्तरथ थम-विभाजन क विकास में मदद मिसी। इस

प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य की प्रावश्यकताएँ सामाजिक विकास को प्रभावित कर सकती हैं लेकिन इन प्रावश्यकताओं को बाह्य परिस्थितियाँ जन्म देती हैं और इन परिस्थितियों को पैदा करने बाह्य कारण सौहृदय नहीं होते ।

बुर्गीम का कहना है कि परिस्थितियाँ समान होने पर भी सभी व्यक्तियों की प्रावश्यकताएँ और इच्छाएँ समान नहीं होतीं । लोग अपनी इन इच्छाओं और प्रावश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अलग-अलग पलायन अपनाते हैं । कोई व्यक्ति परिस्थितियाँ बदलकर उसे अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है तो कोई व्यक्ति अपने को बदलकर परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की कोशिश करता है । एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भी लोग अलग-अलग मार्ग अपनाते हैं । अलग-अलग लोगों के सामाजिक जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ भी अलग-अलग होती हैं । पर समान परिस्थितियों में एक-दूसरी सामाजिक प्रक्रिया ने ही जन्म लिया है । यही कारण है कि अलग-अलग स्थानों पर रहने वाले लोगों में हमें बहुत से ऐसे रीति-रिवाज दिखाई पड़ते हैं जो बुनियादी रूप से समान हैं ।

सामाजिक प्रक्रिया के कारण

बुर्गीम का कहना है कि जब हम किसी सामाजिक प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं तो हमें उसे उत्पन्न करने वाले कारणों तथा उसकी उपयोगिता का अध्ययन अलग-अलग करना चाहिए । यहाँ पर उपयोगिता से तात्पर्य है वह काम जिसे कि कोई सामाजिक प्रक्रिया पूरा करती है । सामाजिक प्रक्रिया का अस्तित्व उसकी उपयोगिता के कारण नहीं होता । अतः यह बोज करने की आवश्यकता है कि जिस सामाजिक तथ्य का हम अध्ययन कर रहे हैं उसका समाज की सामान्य प्रावश्यकताओं से कोई सम्बन्ध है या नहीं । पहले हमें इस बात की बोज करनी चाहिए कि समुक्त सामाजिक प्रक्रिया को किन कारणों ने जन्म दिया और उसके बाद उस सामाजिक प्रक्रिया की उपयोगिता की बोज करनी चाहिए । पहले प्रश्न का उत्तर मिल जाने पर दूसरे प्रश्न का उत्तर मिलना आसान हो जाएगा । उदाहरण के लिए, जुर्मों के लिए बी जाने वाली सजाएँ एक प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया हैं । सजा की व्यवस्था इसलिए की गयी है कि जुर्मों से सामूहिक भावनाओं को भायात पहुँचता है लेकिन यदि एक दृष्टि दृष्टि से देखें तो सजा नियम सामूहिक भावनाओं की भाषा को कामय रखने का भी काम करता है । क्योंकि यदि सजा की व्यवस्था न हो तो जुर्मों के प्रति ये सामूहिक भावनाएँ कम होगे जैसी। यद्यपि किसी भी सामाजिक तथ्य का

अस्तित्व उसकी उपयोगिता के कारण नहीं होता, तथापि वह काम उसी पर करता है जब वह उपयोगी हो। अतः किसी भी सामाजिक तन्त्र का विवेचन प्रस्तुत करने के लिए केवल यह बताना पर्याप्त नहीं है कि उसकी उत्पत्ति किन कारणों से हुई, बल्कि उसके साथ-साथ यह भी बताना पड़ेगा कि सामाजिक व्यवस्था को काममें रखने में वह सामाजिक तन्त्र कौनसी भूमिका बजा करता है।

अध्याय ४

धन विभाजन

बैसा कि हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं, दुर्भाग्य की यह मायता है कि सामाजिक प्रक्रिया का अस्तित्व मनुष्य की इच्छामों तथा आवश्यकताओं से स्वतन्त्र है। जो सामाजिक प्रक्रियाएँ अप्रयोगी होती हैं, आम तौर से वे ही कायम रह पाती हैं। पर सामाजिक प्रक्रियाओं तथा सामाजिक तन्त्रों की उत्पत्ति उप-योमिता के कारण नहीं होती। वही सिद्धान्त धन-विभाजन पर भी लागू होता है।

धन विभाजन का प्रारम्भ

दुर्भाग्य का कहना है कि मनुष्य जैसे-जैसे प्रगति करता जाता है जैसे जैसे धन विभाजन के विकास की आवश्यकता बढ़ती जाती है, ताकि मनुष्य नवीन परिस्थितियों में अपने को कायम रख सके। वही मनुष्य की अपने को कायम रखने की प्रवृत्ति यह स्वपूर्ण भूमिका धरा करती है, लेकिन यह समझना बसत हीना कि केवल इस प्रवृत्ति के कारण धन-विभाजन का प्रारम्भ हुआ और अत्यन्त अल्प-काल के काम बन्नों में वैयक्तिक विशेषीकरण (Specialisation) की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। यदि वे परिस्थितियाँ पहले से उत्पन्न न हो चुकी होतीं जिन पर धन-विभाजन आधारित है, तो मनुष्य की यह प्रवृत्ति अप्रयुक्त भूमिका धरा न कर पाती। धन-विभाजन के प्रारम्भ के लिये अप्रयुक्त परिस्थितियाँ सामूहिक चेतना और बंधानुबन्ध प्रभावों के विकटन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थीं। जब धन-विभाजन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी तो मनुष्य ने उसकी उप-योमिता को देखा और उसकी आवश्यकता को यह मूल्य किया। व्यक्तियों में विशेष-जैसे-जैसे बढ़ता गया जैसे-जैसे उनही स्थितियों और बन्धनों में भी अन्तर घाटा गया। इसके बाद मनुष्य के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपने को कायम रखने के लिए विशेषीकरण (Specialisation) का विकास करे। इस प्रकार मनुष्य की अपने अस्तित्व को कायम रखने की प्रवृत्ति धन-विभाजन के विकास से यह स्वपूर्ण भूमिका धरा कर सकी।

विशेषीकरण का विकास

दुर्धीम का कहना है कि जैसे-जैसे समाज का विकास होता गया जैसे-जैसे विरोधीकरण और धर्म-विभाजन का भी विकास हुआ क्योंकि जैसे-जैसे समाजों का घनत्व बढ़ता गया जैसे-जैसे जीवन के लिये संघर्ष भी बढ़ता गया और इन व्यक्तियों के लिये अपने को अलग रखना उत्तरोत्तर कठिन होता गया, विन्हीने किसी काम में विशेष बख्ता हासिल न की हो यानी विन्हीने विशेषीकरण की प्रक्रिया न अपनाई हो। फलतः नई परिस्थितियों ने मनुष्यों को अपने जीवन के तीर-तरीके बदलने के लिये विवश कर दिया। धर्म-विभाजन के विकास में इस बात से भी मरव मिलो कि व्यक्ति के लिये अपने धरितत्व को कामय रखने हेतु सरमतम यही था कि वह इस प्रक्रिया का विरोध न करे और उसे समय की पात्रस्यकता मानकर स्वीकार करे। जो व्यक्ति या जन-समूह धर्म-विभाजन को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे उनके समक दूसरा रास्ता ही क्या था? वे अपने देस को छोड़कर कहीं और जाकर बस सकते थे यातमहत्या कर सकते थे या पुत्रों का रास्ता अपना सकते थे। पर शीतल व्यक्ति ने अपने जीवन तथा देस के प्रति इतना मोह होता है और अपने साथियों के साथ वह भावनात्मक रूप से ऐसा बँधा होता है कि उसके ये बर्धन उसकी जन भावनाओं से ब्यारा बलसामी होते हैं जो उसे विशेषीकरण का मार्ग अपनाने के लिये प्ररिठ करती हों।

धर्म विभाजन-सम्बन्धी सामारभूत साम्यताएँ

दुर्धीम ने धर्म-विभाजन-सम्बन्धी अपने विचारों और विश्लेषणों को 'समाज में धर्म-विभाजन' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में उन्होंने वास्तव में सामाजिक मुद्दता (Social solidarity)-सम्बन्धी अध्ययन प्रस्तुत किया है और इस दृष्टि से इस पुस्तक का नाम भ्रामक है।

दुर्धीम ने अपनी इस पुस्तक में जो सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं उसके साधारभूत तत्व हमें प्याटो धरतू, कोमेनिपस डम्बू० पेही फरबुधन धरम सिनब सेम्ट धारमन कीठ (कॉन्टे) स्पेसर, जे० एच० मिन्न, एच सी० कीरे तथा नई धर्म धर्मध सिन्नो व धार्धनिवो की कृतिओं में देखने को मिलते हैं। दुर्धीम से छ-बर्ष पृथ फरिनाड टोनीज और तीन बर्ष पूर्व जॉर्ज डॉरमेक ने जो सिद्धांत प्रतिपादित किये थे वे कड़ी-करीब जैसे ही हैं जैसे कि दुर्धीम के सिद्धांत। फिर भी दुर्धीम की यह कृति मोक्षिता से पंचित नहीं है क्योंकि उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को विकसित किया है और नये तथ्यों को धोज करके उनका समावेश किया है।

भ्रम विभाजन एक परिवर्तनकारी तत्त्व

दुर्धीम ने इस पुस्तक के प्रथम भाग में यह विश्लेषण प्रस्तुत किया है कि भ्रम-विभाजन का धर्म सामाजिक प्रक्रियाओं के साथ क्या सम्बन्ध है और वह उन्हें किस तरह प्रभावित करता है। उन्होंने भ्रम-विभाजन को एक ऐसा सामाजिक तत्त्व कहा है जो परिवर्तनकारी (Variable) है। धर्म सामाजिक प्रक्रियाओं को उन्होंने प्रभावों (Effects) धरना कार्य-कलाओं (Functions) की श्रृंखला की है। फिर उन्होंने अपने विश्लेषणों द्वारा यह बताया है कि इस परिवर्तनकारी तत्त्व में परिवर्तन धर्म से सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार उन्होंने यह बताया है कि भ्रम-विभाजन की विभिन्न अवस्थाओं धरना उसकी विभिन्न स्वरूपों ने एक सामाजिक तत्त्व के रूप में सामाजिक जीवन और मनोविज्ञान के विभिन्न पक्षों (Aspects) पर क्या असर डाला है।

भ्रम विभाजन का प्रभाव

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को भ्रम विभाजन ने किस रूप में प्रभावित किया है इसका विश्लेषण करके दुर्धीम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचे —

(१) मानव-व्यवहार और मनोविज्ञान—भ्रम-विभाजन से पूर्व व्यक्तियों में मानसिक नैतिक और सामाजिक समरूपता (Homogeneity) थी। उनका विश्वास उनकी मान्यताएँ, उनके मूल धारणाएँ और तौर-तरीके एक-जैसे थे। व्यक्तियों में विभेद केवल बंधानुगत था। व्यक्तिवादिता (Individualism) का प्रभाव था और परम्पराएँ प्रभावशाली होती थी। भ्रम-विभाजन के फलस्वरूप व्यक्तियों की मानसिक नैतिक समस्याएँ गूँथ होती गईं। उनमें व्यक्तिवादिता बढ़ती गयी। जैसे-जैसे भ्रम-विभाजन की प्रक्रिया विकसित होती गई, जैसे-जैसे लोगों की शक्तियों धारणाओं विचारों और नैतिक मान्यताओं की समस्याएँ गूँथ होती गईं। विषयीकरण के कारण परम्पराओं के प्रभावों में कमी आई और बंधन-परम्पराओं का महत्त्व पड़ता गया जिससे जातीयता की दीवारें टूटने लगी और बंधानुगत वेद धर्माल की परम्पराएँ भी कमजोर पड़ गईं।

(२) कानून नैतिकता और सामाजिक नियंत्रण—भ्रम-विभाजन से पूर्व सामाजिक चेतना में समरूपता थी। जुर्मों से सामाजिक चेतना (Social conscience) को धारणा पहुँचता था इसलिये उनका कड़ाई के साथ दमन किया जाता था। न्याय का मुख्य उद्देश्य जुर्म करने वाले धरना दुर्घटकों को दुरुस्तान पहुँचाने वालों का दमन करना होता था और इस तरह के नियमों तथा

कानूनों को समाज का नैतिक समर्थन प्राप्त होता था। पर धर्म विभाजन की प्रक्रिया धारण हो चुकने के बाद सामाजिक चेतना (Social conscience) की समरूपता (homogeneity) कम होने लगी। अब पुर्ण से सामाजिक चेतना को पहुँचे बिना महाराघात नहीं पहुँचता था। इन पुर्णों (Crimes) को पूरे समाज के लिये हानिकारक मानने की प्रयत्ना समाज के केवल कुछ वर्गों के लिये हानिकारक माना जाने लगा। फलतः कानूनों का दमनकारी (Repressive) स्वरूप बरसने लगा। समाजों की भाषा भी कम होने लगी क्योंकि अब समूह की नैतिक चेतना को सुदृढ़ बनाने के लिये (reinforcement of moral conscience of the group) उसकी सतनी आवश्यकता नहीं रह गई। अतः पुर्ण करने वाले से केवल अतिपूति (Restoration) की प्रयत्ना की जाने लगी। सामाजिक निर्बंधन उत्तरोत्तर ढीला पड़ने लगा। आचारण-सम्बन्धी-नियमों के क्षेत्र संकुचित होने लगे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता से वृद्धि हुई और स्वैच्छिक सम्बन्धों (contractual relationship) को कानूनी व सामाजिक मान्यता मिली।

(१) सामाजिक सुदृढ़ता और सामाजिक बन्धन (Social solidarity and socialites)—धर्म-विभाजन से पूर्व सामाजिक सुदृढ़ता यन्त्रवत् (mechanistic) की क्योंकि वह व्यक्तियों की समरूपता (homogeneity of the individuals) पर आधारित थी। व्यक्तियों के मानसिक और नैतिक समरूपता पर आधारित जनमत के प्रभावशाली होने के कारण व्यक्ति एकसूत्रता (Solidarity) के बन्धन से बँधे होते थे। पर धर्म विभाजन ने व्यक्तियों की नैतिक और मानसिक समरूपता (Moral and mental homogeneity) नष्ट कर दी अतः अब वह सामाजिक एकसूत्रता (Social solidarity) कायम रखने की भूमिका धरा करने की स्थिति में नहीं रह गई। यदि नये बन्धन न होते तो समूहों की एकता पूर्णतः नष्ट हो चुकी होती। धर्म विभाजन स्वयं एक नया बन्धन बन गया। अब समूहवत् एकता का आधार धारण-निर्मिता (Self sufficiency) के स्वाम पर धर्म विभाजन ही गया। अब व्यक्ति एक-दूसरे की आवश्यकता महसूस करने लगे। चूँकि दूरियों के सहयोग के बिना किसी भी व्यक्ति का अस्तित्व सम्भव नहीं रह गया फलतः समाज की सुदृढ़ता संव्यवहारक (Organic) सुदृढ़ता में परिवर्तित हो गई।

(२) राजनीतिक आसन—धर्म-विभाजन से पूर्व सभी महत्त्वपूर्ण सामाजिक मामलों में निर्णय पूरे समूह द्वारा आम सभाओं में लिये जाते थे और कानून भी इसी तरह बनत थे। लेकिन धर्म-विभाजन के फलस्वरूप राजनीतिक कार्य-कलापों का भी विशेषीकरण शुरू हो गया। अध्यागत राजनीतिक बला

मुक्त होने सभी धीरे सरकार तथा नागरिकों के सम्बन्ध कांस्ट्रैक्ट के रूप में होने लगे ।

(२) प्रायिक संकट—धन-विभाजन से पूर्व सम्पत्ति पर पुरे समूह का अधिकार होता था लेकिन धन विभाजन से व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private property) को धम्म दिया । फलतः प्रायिक व्यक्तिवादिता का विकास हुआ और ऐसी प्रायिक व्यवस्था भी उत्पत्ति हुई, जिसमें व्यक्ति कोई भी धन्य धन्यता सकता है । बहानुपत सामाजिक पेशों का ह्रास होने के फलस्वरूप बहानुपत विद्वेष योग्य उत्पन्न भी कम होती गई ।

(३) धर्म और सिद्धान्त—धन विभाजन से पूर्व समुच्च निर्पुण बेबी-बैब तापों में धास्वा रखता था और बेस प्रम स्वागिक तथा जातिपत होता था । धन-विभाजन के फलस्वरूप व्यक्तिवादिता का विकास होने के कारण समुच्च बेबी-बैबतापों की परिकल्पना सम्भव हुई और सार्वदेशिक धर्मों का उदय हुआ ।

धन-विभाजन के विकास के कारण

बुर्बाँस ने अपनी इस पुस्तक के द्वितीय भाग में इस बात पर प्रकाश डाला है कि धन-विभाजन का विकास किन कारणों से हुआ । उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर बहुत विस्तार से तो नहीं दिया है लेकिन यह ध्येय है कि उनका उत्तर समाजशास्त्रीय है । उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि यह सम्झना समत है कि धन-विभाजन का विकास सुखी जीवन के लिए मनोवैज्ञानिक प्रकृति के फलस्वरूप हुआ । उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यह मानने का कोई आधार नहीं है कि धन-विभाजन के विकास के साथ-साथ सुख की अभिवृद्धि हुई है । इसके विपरीत वास्तविकता यह है कि एक ओर तो प्रायिकाल में मनुष्य क्याथा सुखी और सम्पुष्ट था लेकिन दूसरी ओर वर्तमान समाजों में विनम कि धन विभाजन विकसित धन्यता में है धास्वा-हृत्पापों और स्नानु-बुर्बलता की कटमारें अधिक होती हैं तथा धनधोर अधिक देखने को मिलता है । इसके स्पष्ट है कि धन-विभाजन के विकास से मुद्र में वृद्धि नहीं हुई है बल्कि कमी हुई है । उनका कहना है कि सामाजिक विघ्नीकरण तथा धन-विभाजन में उत्तरोत्तर वृद्धि के कारणों पर इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से प्रकाश नहीं पड़ता है । उसके कारणों की खोज तो हमें स्वयं सामाजिक परिस्थितियों में करनी पड़गी । उनका कहना है कि सामाजिक विघ्नेष क प्रमुख कारणों में से एक है जनसंख्या और उसके वनन में वृद्धि । जनसंख्या और उसके वनन में वृद्धि क फलस्वरूप जीवन क लिए क्याथा तीव्र संघर्ष करना पड़ता है । यदि उस ह्रास में समाज

है तो सबमें एकसूत्रता और एकता की भावना बढ़ जाती है।

तो क्या धारमहत्या का अनुपात इस बात पर निर्भर करता है कि किस व्यवस्था में धार्मिक समुदाय की जनसंख्या कम या अधिक है? दुर्भाग्यवश यह कहना है कि संख्या की स्थिति धारमहत्या की रम्यता को प्रभावित अवश्य करती है, लेकिन मूल निर्णायक तत्व नहीं है। अपने इस निष्कर्ष को प्रमाणित करने के लिए ले बताया है कि जिन स्थानों में कैथोलिक धारमहत्या में है वहाँ भी यहूदियों के अलावा अन्य धारमहत्या का अनुपात अधिक है। इसी तरह कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों का तुलनात्मक अध्ययन यह प्रकट करता है कि प्रोटेस्टेंटों में धारमहत्या अनुपात अधिक रहा है। दुर्भाग्य के साथ में उत्तरी प्रिन्सिपल और उत्तरी अरिआ में प्रोटेस्टेंटों की संख्या बहुत ही कम रही है। फिर भी उनमें धारमहत्याओं का अनुपात अधिक रहा है। इसके यह प्रकट होता है कि यद्यपि किसी एक समुदाय के धारमहत्या में होने का प्रभाव धारमहत्या के अनुपात पर पड़ता है, यह उसे कम कर देता है, तथापि इस बात की धारमहत्या के प्रति रम्यता निर्णायक तत्व नहीं माना जा सकता।

धर्म और धारमहत्या

प्रश्न यह उठता है कि यदि जनसंख्या धारमहत्या का निष्कर्ष तत्व नहीं है, क्या यह निष्कर्ष तत्व धर्म है? यहाँ तक धार्मिक विचारों का सम्बन्ध है, धार्मिक और प्रोटेस्टेंट दोनों ही धर्मों में धारमहत्या की घटनाएँ हैं और इसकी रम्यता भी बढ़ी है। केवल यही नहीं इन दोनों ही धर्मों में यह कहा गया है अनुपात को धर्म के साथ उसके कुख्यातों का एक घुसपैठा पड़ता है। इन दोनों धर्मों में धारमहत्या का निरपेक्ष ईश्वरीय आदेश के रूप में है। जब दोनों ही धर्मों में समान रूप से धारमहत्या का निरपेक्ष है तो क्या कारण है कि प्रोटेस्टेंटों धारमहत्या के प्रति अधिक रम्यता वाली जाती है? यदि इन धर्मों की तुलना धर्म के करे तो हम देखेंगे कि यहूदी धर्म के मूल धर्मों में धारमहत्या का निरपेक्ष नहीं है। इस धर्म में धारमहत्या की धारमहत्या को भी कोई आदेश नहीं दिया गया है। पुस्तकी बाइबिल में इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है कि धर्म का धारमहत्या नहीं करनी चाहिए, और इसमें धर्म-धर्म के सम्बन्ध में भी धारमहत्या धारमहत्या नहीं किये गये हैं। धारमहत्या धार्मिक आदेश निष्कर्ष तत्व तै तो यहूदियों में धारमहत्या का अनुपात कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों की अपेक्षा अधिक होना चाहिए था पर ऐसा नहीं है। इसके यह सिद्ध होता है कि धार्मिक धारमहत्या धार्मिक आदेश धारमहत्या की रम्यता के निष्कर्ष तत्व नहीं होते।

धार्मिक एकसूत्रता और आत्महत्या

इसके बाद दुर्धीन ने यह पठा मगाने की कोशिश की है कि धार्मिक एकसूत्रता का आत्महत्या की दृष्टि पर क्या प्रभाव पड़ता है ? कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट धर्मों की तुलना करते हुए उन्होंने कहा है कि उनमें बुनियादी अंतर केवल यह है कि कैथोलिक धर्म की अपेक्षा प्रोटेस्टेंट धर्म में विचार-स्वातन्त्र्य की पूर्ण अधिकार है। यद्यपि कैथोलिक धर्म में प्रत्येक बात को समझने के लिए एक ही सहायक लिया गया है तथापि कैथोलिक धर्मने धार्मिक उपदेशों को बिना कोई अन्त उद्यम मान लेते हैं। वे उलका परीक्षण नहीं करते। वे परम्परा पाली होते हैं और उनका चर्च (Church) बहुत ही सुसंगठित है। सभी अर्थ उनके पाठशालों की आनुपातिक संख्या अधिक होती है। इनकी धार्मिक सत्ता सम्बन्धी व्यवस्था भी बहुत सुदृढ़ है और पादरी परम्पराओं की रक्षा के प्रति बतर्क और भावुक रहते हैं। फ्रान्स कैथोलिकों में धार्मिक एकसूत्रता (Solidarity) अधिक है।

वहाँ एक प्रोटेस्टेंटों का सम्बन्ध है उनमें कैथोलिकों-जैसी धार्मिक एकसूत्रता नहीं है। प्रोटेस्टेंट को धार्मिक मामलों में भी विचार-स्वातन्त्र्य की बहुत पूट मिली हुई है। उसके हाथ में बाइबल ले ली जाती है, लेकिन उस पर कोई भी व्याख्या सारने की कोशिश नहीं की जाती। वह बाइबल में दिये गए उपदेशों की व्याख्या अपनी समझ और अपने दृष्टिकोण के अनुसार कर सकता है। फलतः उनमें धार्मिक व्यक्तिवादिता पाई जाती है यानी धर्म के प्रति अलग-अलग व्यक्तियों का अलग-अलग दृष्टिकोण होता है और धार्मिक उपदेशों की उनकी अपनी-अपनी व्याख्या होती है। ब्रिटेन के अलावा अन्य प्रोटेस्टेंट देशों में धार्मिक सत्ता की सुसंगठित व्यवस्था का अभाव है। धार्मिक उपदेशों की व्याख्या के लिए पाठशालों को बड़े पादरी के आदेश पर निर्भर नहीं करना पड़ता बल्कि उसे भी इस धर्म के अन्य अनुयायियों की भाँति अपनी अन्तःसत्ता पर निर्भर करना पड़ता है। पादरी को धर्म-सम्बन्धी ज्ञान अधिक प्राप्त होता है, लेकिन उसे ऐसी कोई विशेष सत्ता प्राप्त नहीं होती जिससे वह अपनी व्याख्याओं को दूसरों पर लागू करे। इस धार्मिक विचार-स्वातन्त्र्य का परिणाम यह पड़ा है कि प्रोटेस्टेंटों में धार्मिक एकसूत्रता कैथोलिकों की अपेक्षा कम है और यही कारण है कि उनमें कैथोलिकों की अपेक्षा आत्महत्या का अनुपात अधिक है।

प्रोटेस्टेंट देशों में केवल इंग्लैण्ड ही एक ऐसा देश है जहाँ आत्महत्या के प्रति दृष्टि बहुत कम पायी जाती है। यद्यपि इंग्लैण्ड कैथोलिक विचार-स्वातन्त्र्य के लिए प्रसिद्ध है, तथापि वहाँ जर्मनी इंग्लैण्ड केनमार्क स्विट्जरलैण्ड और

हुंयरी प्रावि बेसों की अपेक्षा उन विस्वाओं और रिवाजों की संख्या अधिक है जिन्हें मानना सबके लिए अनिवार्य है और जिनके प्रोचित्य के बारे में व्यक्तियों द्वारा सम्बन्ध प्रगट नहीं किया जा सकता। वहाँ कुछ ऐसे कानून भी मौजूब हैं जिनसे धार्मिक एकसुत्रता को बस पहुँचता है और विचार-स्वातन्त्र्य के बापरे में कमी प्राती है। उदाहरण के लिए, वहाँ बाइबल के किसी भी पात्र को रंगमंच पर प्रमिनीत नहीं किया जा सकता। इंग्लैण्ड के शोच धर्म के मामले में भी बहुत परम्पराबासी है और यह परम्पराबासिता व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को सीमित कर देती है। इंग्लैण्ड का चर्च भी धर्म्य प्रोटेस्टेण्ट चर्चों की अपेक्षा ब्याबा सुसंपठिठ है। वहाँ धर्म्य प्रोटेस्टेण्ट बेसों की अपेक्षा पावरियों की संख्या अधिक है और धार्मिक सत्ता की व्यवस्था सुदृढ़ है। फलतः उनमें धर्म्य प्रोटेस्टेण्ट बेसों की अपेक्षा धार्मिक एकसुत्रता अधिक है और इस कारण उनमें धारमहृत्याओं का अनुपात कम है।

वहाँ तक यहूदियों का सम्बन्ध है उनमें धार्मिक एकसुत्रता कॅथोलिकों और प्रोटेस्टेण्टों, दोनों की अपेक्षा अधिक है। चूंकि कुछ वर्ष पूर्व तक सभी स्थानों में वे धरममत में रहे हैं और उनकी संख्या बहुत ही कम रही है। फलतः उनमें एकसुत्रता की भावना ब्याबा विकसित हो धकी। ईसाई बेसों में शेष धारबासी द्वारा निरन्तर विरोध होने के कारण उन्हें विश्वकुस धरम-बलम चूना पड़ता था। इससे उनमें परस्पर सम्पर्क और एकता अधिक भाबा में रही। ईसाइयों के विरोध के कारण यहूदी धर्म को ब्याबा सुसंपठिठ बनना पड़ा। धर्म्य शौर्यों से धरम बलम चूने के कारण उनमें परम्पराबासिता का भी विकास हुआ और उनका विचार-स्वातन्त्र्य का बापरा धरमन्त सीमित रहा। इस सबके फलस्वरूप उनमें धार्मिक एकसुत्रता अधिक रही और इसके कारण धारमहृत्या का अनुपात बहुत कम रहा है।

पारिवारिक और राजनीतिक एकसुत्रता

दुर्लभ का कहना है कि बिठ प्रकार धार्मिक एकसुत्रता धारमहृत्या की बन्धन को प्रभावित करती है, ठीक उठी तरह पारिवारिक और राजनीतिक एकसुत्रता भी धारमहृत्याओं की बन्धन को प्रभावित करती है। वहाँ पारिवारिक और राजनीतिक समाज मुरद होता है, वहाँ वह व्यक्तियों की भावनाओं को बीधे हो प्रभावित करता है जैसे कि धर्म। पारिवारिक और राजनीतिक एकसुत्रता में कमी घाने का प्रभाव भी बही पड़ता है जो धार्मिक एकसुत्रता में कमी घाने का। फलतः धारमहृत्या की बन्धन धार्मिक पारिवारिक और राजनीतिक समाजों

ये एकमूर्तता पर निर्भर करती है। जिस समाज में ये एकमूर्तताएँ (Solidarities) जितनी अधिक होती हैं उस समाज में शास्त्रहत्याओं का अनुपात तथा ही कम होता है, और जिस समाज में ये एकमूर्तताएँ जितनी कम होती हैं उस समाज में शास्त्रहत्या के प्रति रुझान उतनी ही अधिक होती है।

आत्महत्या के प्रकार और कारण

जैसा कि हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं दुर्भाग्यवश आत्महत्या और उसके कारणों की ओर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से की है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आत्महत्याओं का कारण सामाजिक होता है। उन्होंने आत्महत्याओं का वर्गीकरण भी किया है। उनका कहना है कि आत्महत्याएँ मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं—आत्मस्तापी (Egotistical) अप्राकृतिक (Anomalous) पराधीन (Altruistic)। ये तीनों ही प्रकार की आत्महत्याएँ किसी-न किसी प्रकार के सामाजिक विघटन के फलस्वरूप होती हैं और उनका कारण वैयक्तिक मनो-वैज्ञानिक घटना भौतिक न होकर सामाजिक होता है। वास्तव में आत्महत्याएँ सामाजिक परिस्थितियों के प्रतिबिम्ब-स्वरूप होती हैं। अलग-अलग तरह की आत्महत्याओं के अलग-अलग सामाजिक कारण होते हैं और वे सामाजिक एकसूत्रता की किसी-न-किसी कमी को प्ररक्षित करते हैं।

(१) आत्मस्तापी आत्महत्या (Egotistical suicide)—जब किसी समुदाय की सामाजिक एकसूत्रता में कमी या जाने के कारण व्यक्ति अपने को समाज से अलग-अलग तथा अलग-अलग पाता है और इस सामाजिक विलयाव के कारण वह आत्महत्या करने को प्रेरित होता है तो उसे आत्मस्तापी आत्महत्या कहते हैं। व्यक्ति समाज से कई रूपों में अलग होता है। जब समाज के साथ उसके अन्य सभी सम्बन्ध हीने पड़ जाते हैं तो भी अपने परिवार के साथ उसका सम्बन्ध उसे समाज के साथ बांधे रहता है और वह अलग-अलग अकेलापन महसूस नहीं करता। यही कारण है कि विवाहियों में आत्महत्या का अनुपात विवाहियों की अपेक्षा कम होता है। वैवाहिक सम्बन्ध बिभ्येद कर देने वाले व्यक्तियों में भी इसी कारण विवाहियों की अपेक्षा आत्महत्या का अनुपात अधिक होता है। वारसपरिक सम्बन्ध न होने के कारण वे जो अकेलापन जल्दी महसूस करने लगते हैं। यह स्थिति उन समुदायों के लोगों के सामने ज्यादा घाती है जिनकी सामाजिक एकसूत्रता विचार-स्वातंत्र्य आदि के कारण कम है। यही कारण है कि कैथोलिकों में प्राटेस्टन्टों की अपेक्षा 18 प्रकार की आत्महत्याएँ कम होती हैं।

युद्ध तथा आत्महत्या के समय सामाजिक कार्यकलाप बढ़ने के साथ-साथ सामाजिक एकसूत्रता भी बढ़ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसे घबघरों पर व्यक्ति धकेलापन कम महसूस करता है समाज के साथ उसकी सम्बन्धता बढ़ जाती है और उसके उपस्वरूप आत्महत्याओं का अनुपात बढ जाता है। पर जैसे ही यह विशेष स्थिति समाप्त होती है और सामान्य स्थिति पाठी जाती है, जैसे ही आत्महत्या का अनुपात बढ़ता जाता है क्योंकि सामान्य स्थिति में युद्ध-काल जैसी सामाजिक एकसूत्रता नहीं होती।

(२) अप्राकृतिक आत्महत्या (Anomique suicide)—इन आत्महत्याओं का कारण होता है सामाजिक अनुमन तथा समाज के नैतिक संवहन का भ्रष्ट भ्रष्ट हो जाना। प्राकृतिक संकटों तथा विवाहियापन के कारण जो आत्महत्याएँ होती हैं वे इस श्रेणी में आती हैं। सामान्य से यह कहा जाता है कि इन आत्महत्याओं में वृद्धि मरीची के कारण होती है। पर यह पक्ष है। ऐसे घनेक समुदाय और वर्ग हैं जो निर्धन हैं, फिर भी जिनमें आत्महत्या करीब-करीब होती ही नहीं। इस प्रकार की आत्महत्याएँ केवल उस हासल में नहीं होती जब सामाजिक अनुमन के बिगड़ने के फलस्वरूप निर्धनता में वृद्धि हुई हो। सामाजिक अनुमन के बिगड़ने से कमी-कमी समुदाय तथा समुदाय के सदस्यों की सम्पन्नता बढ़ जाती है और सम्पन्नता में इस वृद्धि के कारण भी आत्महत्याओं का अनुपात बढ़ जाता है।

(३) पराधीन आत्महत्या (Altruistic suicide)—इस प्रकार की आत्महत्याएँ उन समुदायों में होती हैं जिनमें व्यक्ति को समूह का केवल एक घम माना जाता है, जब पर समूह का पूर्ण नियन्त्रण होता है और उसके व्यक्तिगत को कोई बात महत्व नहीं दिया जाता। ऐसे समुदायों में घबघर व्यक्ति समुदाय के प्रति कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर पूरे समुदाय की भलाई के लिए आत्म बलिदान कर सकता है। यदि व्यक्ति से कोई ऐसा काम हो जाता है जिससे समुदाय को नुकसान लगे तो उस हासल में भी वह आत्महत्या कर लेता है। प्रारम्भिक समुदायों में इस कर्तव्य की अभिव्यक्ति यन्त्रवत् सामाजिक एकसूत्रता द्वारा होती थी। सेना में सैनिक की कर्तव्य-भावना भी इसी प्रकार की होती है।

इस प्रकार दुर्बल ने यह सिद्ध किया है कि आत्महत्याओं के जो मनोवैज्ञानिक प्राकृतिक और वैयक्तिक कारण दिखाई पड़ते हैं वे उसके वास्तविक कारण नहीं हैं। उसका वास्तविक कारण सामाजिक होता है और आत्महत्याएँ सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करती हैं। इस प्रकार दुर्बल ने आत्महत्याओं का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से किया है और उसके कारणों तथा प्रभावों

का समाजशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। अपने समाजशास्त्रीय विश्लेषण द्वारा वे इन निष्कर्षों पर भी पहुँचे कि सामान्य परिस्थितियों में (१) आत्महत्याओं का घातक समान रहता है (२) आत्महत्याएँ सभियों की अपेक्षा पमियों में अधिक होती हैं (३) स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष आत्महत्याएँ अधिक करते हैं (४) कम उम्र वाले लोगों की अपेक्षा ज्यादा उम्र वाले व्यक्तियों में आत्महत्या का अनुपात अधिक होता है (५) ग्रामीणों की अपेक्षा शहरी लोगों में आत्महत्या का अनुपात अधिक होता है (६) सामान्य मामलों की अपेक्षा घोर विदुरों में आत्महत्या का अनुपात अधिक होता है (७) अविवाहितों की अपेक्षा विवाहितों में अस्तानहीन व्यक्तियों में आत्महत्या का अनुपात अधिक होता है और (८) उन वर्गों के अनुपातियों में आत्महत्या का अनुपात उतना ही अधिक होता है जिनमें विचार-स्वातन्त्र्य की वितनी अधिक शून्य प्राप्त होती है।

सामाजिक नियंत्रण और नैतिकता

दुर्बिन ने नैतिकता और सामाजिक नियंत्रण-सम्बन्धी अपने समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन 'समाजशास्त्र और व्यवहारशास्त्र' नामक पुस्तक में किया है। दुर्बिन का कहना है कि प्रत्येक नैतिकता एक व्याकरण-संहिता के रूप में होती है। वैसे तो व्याकरण-सम्बन्धी नियम भी हैं लेकिन उनमें और नैतिकता सम्बन्धी नियमों में बहुत अन्तर होता है। नैतिक नियमों में एक विशेष सत्ता निहित होती है जिसके कारण लोग उनका खुद-बखुद पालन करते हैं। पर इन नैतिक नियमों का पालन महक उसमें निहित सत्ता के कारण नहीं किया जाता। लोग इन नियमों के पालन को अपना कर्तव्य समझते हैं। इसकी वजह यह है कि वे उन्हें किसी-न-किसी हद तक बाध्यकारी मानते हैं और बाध्यकारीता की यह भावना ही उनमें कर्तव्य की भावना पैदा करती है। नैतिक नियमों की विषय-वस्तु ऐसी होती है जो लोगों को पसन्द आये, लेकिन इन नियमों का स्वरूप ऐसा होता है कि उनका पालन प्रयत्न और धारमानुष्ठापन के बगैर नहीं किया जा सकता। अतः मनुष्य को नैतिक नियमों का पालन करने के लिए अपनी प्रकृति से ऊपर उठना पड़ता है और ऐसा करते समय उसके मन में धार्मिक दृष्टि पैदा होता है। इस प्रकार ही बाध्यकारीता और कर्तव्य की भावना को नैतिक नियमों की प्रमुख विशेषता कहा जा सकता है।

नैतिक यथार्थता

दुर्बिन ने नैतिकता को एक यथार्थ माना है। उनका कहना है कि धर्म यथार्थताओं की भाँति नैतिक यथार्थता के भी दो परा धरणा शो पहनू होते हैं। पहला यह वह है जिसमें हम चीजों को ठीक उसी रूप में देखते हैं जिस रूप में वे दिखाई पड़ती हैं। इसे वस्तुवादी (Objective) दृष्टिकोण कहते हैं। दूसरा यह वह है जिसमें हम किसी चीज के बारे में पहले से कोई धारणा बना लेते हैं और फिर उस दृष्टि से उन चीजों को देखते हैं। इसको पूर्वाग्रही या ध्यातव (Subjective) दृष्टिकोण कहते हैं।

सामूहिक नैतिकता

इतिहास की प्रत्येक घटना या प्रत्येक जन-समुदाय की कोई-न-कोई नैतिकता होती है। वह नैतिकता इस समुदाय के सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होती है। परंतु हम उसे उस जन-समुदाय का सामान्य धर्म या सामूहिक नैतिकता कह सकते हैं।

वैयक्तिक

ऊपर उल्लिखित सामूहिक नैतिकता के अलावा कितनी ही अन्य नैतिकताएँ भी हैं जिन्हें वैयक्तिक नैतिकता कह सकते हैं। व्यक्तियों की नैतिक चेतनाएँ अलग-अलग होती हैं। वे अपनी-अपनी नैतिक चेतना के अनुसार सामूहिक नैतिकता की अभिव्यक्ति तथा व्याख्या करते हैं। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक नैतिकता को एक अलग दृष्टिकोण से देखता है। किसी भी व्यक्ति की नैतिक चेतना सामूहिक चेतना के ठीक अनुकूल नहीं हो सकती क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शिक्षा-दीक्षा रहन-सहन और संघ-परिष्कार के प्रभाव के कारण नैतिक तत्त्वों को एक अलग दृष्टिकोण से देखता है। जो सचता है कि कोई व्यक्ति नागरिक नैतिकता को बराबर महत्त्व देता हो तो कोई तारिखारिक नैतिकता को। इस तरह से लोगों के अलग अलग दृष्टिकोण हो सकते हैं।

सामूहिक नैतिकता की दृष्टि से वस्तुवादी नैतिक मर्यादा और वैयक्तिक नैतिक चेतना को पूर्वापही नैतिक मर्यादा माना है। उनका कहना है कि वैयक्तिक नैतिक चेतनाओं में इतनी अधिक विभिन्नताएँ हैं कि उन्हें अकार बनकर नैतिकता को नहीं समझा जा सकता। नैतिकता-सम्बन्धी वैयक्तिक धारणाओं के साथ-साथ धार्मिकों और नैतिक विचारकों के विचारों को भी दृष्टि से अपने धर्मपत्र का विषय नहीं बनाया। उन्होंने केवल सामूहिक नैतिक मर्यादा को अपने धर्मपत्र और धर्मपत्र का विषय बनाया। उनका कहना है कि इस मर्यादा का सम्बन्ध दो तरीके से किया जा सकता है—(१) उनकी आज्ञा करके और उनकी आज्ञा करके या (२) उनकी सुझाव करके।

दुर्भाग्य का कहना है कि नैतिकता-सम्बन्धी विचार और नियम यदि इतने धार्मिक हैं कि किसी-किसी मुनिरिक्त पद्धति को अपनाये बनें उनकी आज्ञा कर पाया धर्म उनको समझ पाया सम्भव है। उनका कहना है कि इसके विषे सबसे पहले हमें नैतिक मर्यादा और दूसरी मर्यादाओं के अन्तर को देखना है सम्भव पड़ता। परंतु प्रश्न यह उठता है कि नैतिक मर्यादा की कौनसी ऐसी विषय ऐशिया हैं जिनके द्वारा उसे समझा जा पाया जा सकता है?

बैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं नैतिकता पाचारण-सम्बन्धी नियमों की बहिष्ठा के रूप में होती है। पर हमारे धर्म पाचारणों के लिए धर्मक नियम हैं। यद्यपि हमें यह देखना पड़ेगा कि नैतिक नियमों की क्या बहिष्ठा है। यदि हम पाचारण सम्बन्धी समस्त नियमों पर दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनकी अपनी कुछ बहिष्ठा है। यदि वे बहिष्ठा नैतिक नियमों-सम्बन्धी धर्म पाचारणों से भेद जाती हों तो उन्हें हम नैतिक नियमों की संज्ञा दे सकते हैं। यद्यपि यह पता लगाने के लिए कि पाचारण-सम्बन्धी धर्म से नियम नैतिकता की श्रेणी में आते हैं और कौनसे नियम दूसरी श्रेणियों में हम उन नियमों पर इस दृष्टि से विचार करना पड़ता कि किस नियम का उल्लंघन करने पर क्या परिणाम होता है।

धर्मतौर से किसी भी नियम का उल्लंघन करने पर उसका परिणाम उस व्यक्ति के लिए अच्छा नहीं होता जो उसका उल्लंघन करता है। वे परिणाम उल्लंघन के होते हैं—

- (१) उदाहरण के लिए, यदि हम स्वात्म सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करें तो हमें बीमार पड़ना पड़ता है। यद्यपि हम पहले से ही समझ सकते हैं कि यदि हम समुक्त नियम का उल्लंघन करेंगे तो उसका समुक्त परिणाम होगा।
- (२) जब हम दूसरा उदाहरण लें। मान लीजिए कि हम जीवहत्या न करने के नियम का उल्लंघन करते हैं। हम पहले से यह बात नहीं कर सकते कि उसका परिणाम क्या होगा क्योंकि यह बकरी नहीं है कि हम पकड़े ही जायें और हमें सजा मिले। इसका धर्म यह हुआ कि उस नियम के उल्लंघन में ही कोई सजा निहित नहीं है, जो मुझे लुट-ब बुर मिलेगी। ऐसा भी हो सकता है कि यदि कहीं पर जीवहत्या करना कानूनी धरणा हो तो कहीं पर वह कानूनी धरणा न हो। इसका धर्म यह हुआ कि यदि मुझे कोई सजा मिलती है तो वह सजा जीवहत्या करने के कारण नहीं मिलेगी बल्कि जीवहत्या न करने के नियम का उल्लंघन करने के कारण मिलेगी। इतिहास में इस बात के धर्मनिरत उदाहरण मौजूद हैं कि एक ही काम एक समय-विशेष में धरणा किन्हीं धर्म परिस्थितियों में धरणा नहीं माना जाता था। यद्यपि जीवहत्या करने के कारण हमें जो सजा मिलेगी वह सजा जीवहत्या के धर्म में निहित नहीं है बल्कि वह सजा हम एक पूर्व-निर्धारित नियम का उल्लंघन करने के कारण मिलेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वे नियम वा प्रकार के होते हैं। एक तो वे

जिनमें उनका परिणाम भी निहित होता है जैसे कि स्वास्थ्य-सम्बन्धी। दूसरा नियम यह होता है जो हमें कोई कार्य-विशेष करने से मना करता है हम उन्हें केवल इस मनाही के कारण नहीं करते। नैतिक नियम का भी स्वरूप होता है।

जिस तरह नैतिक नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति को रोधी घाला जाता है उसी तरह नैतिक नियमों के अनुकूल प्रचारण करने वाले व्यक्ति को मात्र में सम्मान व प्रशंसा मिलती है। यहाँ पर जन-समुदाय को नैतिक चेतना एक दूसरे रूप में काम करती है। यह नैतिक नियमों का सकारात्मक (Positive) रूप है। पर हमें कोई भी काम केवल इसलिए नहीं करना चाहिये क्योंकि हमें उसे करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया है मने ही वह काम हमारे लिए सबंधीन हो सकता उससे हमें कोई लाभ न हो। जिस काम में हम बचि न हो, उसे हम बराबर करते नहीं रह सकते। यहाँ नैतिकता में केवल कर्तव्य की भावना ही नहीं होनी चाहिए, बल्कि यह (नैतिकता) बाध्यकारी भी होनी चाहिए।

यहाँ नैतिक नियम की पहली विशेषता यह है कि उसका पालन करना सोम धरणा कर्तव्य समझे। उसकी दूसरी विशेषता यह है कि इन नियमों को सोम बाध्यकारी समझे।

दुर्धाम का कहना है कि नैतिक पर्यायता को केवल यही दो विधिष्ठताएँ ऐसी हैं जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ सर्वव्यापी भी हैं। ऐसी कोई भी नैतिक नियम नहीं है जिसमें ये विधिष्ठताएँ न पाई जाती हों। पर विभिन्न नैतिकता धरणा विभिन्न नैतिक नियमों में उनका अनुपात घटत घटत होता है।

दुर्धाम का कहना है कि व्यक्तिगत जीवन की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले कार्य नैतिक नियमों के अन्तर्गत नहीं माने जा सकते। दूसरे, कोई भी व्यक्ति नैतिक नियमों धरणा बाध्यता का श्रोत नहीं हो सकता। तीसरे यह कि नैतिक नियमों का निर्माण जनसमुदाय की सामूहिक चेतना द्वारा होता है। व्यक्ति नैतिक के लिए बाध्यकारी होते हैं और वह स्वयं समाज को छोड़ नहीं सकता। व्यक्ति नैतिक धरणा नहीं हो सकता। दुर्धाम ने यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक नैतिकता काम-विशेष के सामाजिक संदर्भ पर आधारित होती है। यहाँ समस्त काम विशेषों धरणा सामाजिक संदर्भों की नैतिक धारणाएँ समान नहीं हो सकती।

अध्याय ८

धर्म और ज्ञान

पुर्बान में 'धार्मिक जीवन के प्राथमिक रूप' नामक अपनी पुस्तक में सघानघाटवीय दृष्टिकोण से धर्म की उत्पत्ति उसकी प्रकृतियों, उत्पत्त-पूरुषों प्रथाओं और स्वक्यों की विवेचना की है। उनका कहना है कि धर्म-सम्बन्धी प्रचलित व्याख्याएँ पतल हैं। उदाहरण के लिए, धर्म को ईश्वर प्रभवा धर्म्य पारलौकिक शक्तियों में घास्ता को सजा देना पतल है। उनका कहना है कि धर्म एक ऐसी व्यवस्था है जो विवहासों और प्रवधनों पर प्राधारित है। इन विवहासों और प्रवधनों का सम्बन्ध उन चीजों से होता है जिन्हें पवित्र माना जाता है। दूसरे शब्दों में उनका सम्बन्ध उन चीजों से होता है जिन्हें सामान्य जीवन से प्रसन्न-वलय कर दिया जाता है। इन विवहासों और प्रवधनों के सम्बन्ध से सामुदायिक नीतिक्रमा का जन्म होता है जिसे धर्म कहते हैं।

वस्तुओं और प्रक्रियाओं का विभाजन

धर्मों में समस्त वस्तुओं और प्रक्रियाओं को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—सांसारिक और पवित्र (धार्मिक)। धर्मों में ये उपरोक्त मिलते हैं कि सांसारिक और धार्मिक (पवित्र) मानकों को एक-दूसरे से मिलना नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा करता धर्मों के अनुसार पाप होता है। जो लोग इस पाप क भावीवार होते हैं, उनके लिए धर्मों में यह कहा गया है कि उन्हें धार्मिक सुविधि करनी चाहिए। इस धार्मिक सुविधि के लिए प्रत्येक प्रथम धर्मों में प्रसन्न-वलय उपाय बताये गए हैं। धार्मिक कार्यों यानी पूजा गठ धार्मिक के लिए पूयक स्थान होते हैं वहाँ सांसारिक कार्य-कलाप करने की मनाही होती है। कुछ धर्मों में पूजे तिन भी निश्चित किये गए हैं जब कि सांसारिक काम-काज में समय न लपाकर केवल धार्मिक कार्यों में समय लवाना चाहिए। धार्मिक पूजा-गठ का यही महत्त्व होता है कि वे या तो मनुष्य की सुविधि के लिये किए जाते हैं या उस धार्मिक बीजा देने के लिए।

धर्म का उद्गम धर्मशास्त्र उत्पत्ति

धर्म के उद्गम धर्मशास्त्र उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी दुर्बोम ने प्रचलित मान्यताओं व सिद्धान्तों का खण्डन किया है। ई. टेसर और एच. स्पेन्सर ने स्वर्णों प्रति-बिम्बों मृत्यु और इसी प्रकार की धर्म्य वैश्वकीय मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को, जिन्हें वैश्वकीय-सामाजिक कारण कहा जा सकता है धर्मों की उत्पत्ति का स्रोत माना है। वेकस वेबर तथा कुछ धर्म विद्वानों का कहना है कि धर्म की उत्पत्ति उन प्राकृतिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप हुई है जो मनुष्यों पर पड़ना बसर बाधती हैं। धार्मिककालीन मनुष्य शिखरी लुफाम भूबोल लुर्ब बनना और कदियों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था। वह यह समझ नहीं पाता था कि ये क्या हैं और क्यों हैं? वे उनके जीवन को प्रभावित करते थे लेकिन उसका उन पर कोई बल नहीं था। अतः वह उन्हें वैसी देखा धर्मशास्त्र पारलौकिक शक्तियों नाम रीत्य और इस प्रकार धर्मों देखी-देखता, ईस्वर तथा धर्म्य पारलौकिक शक्तियों के प्रति धारणा उत्पन्न हुई और धार्मिक विश्वासों की उत्पत्ति हुई। दुर्बोम का कहना है कि ये दोनों ही सिद्धान्त गलत हैं।

दुर्बोम ने धार्मिक प्रक्रियाओं के प्रारम्भिक स्वरूपों का विस्तृत धीरे गहन विश्लेषण करके धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि धर्म की उत्पत्ति का स्रोत मनोवैज्ञानिक धीरे वैश्वकीय सामाजिक प्रवृत्तियों धर्मशास्त्र प्राकृतिक प्रक्रियाएँ न होकर स्वयं समाज है। उनका कहना है कि धार्मिक धारणाएँ समाज की विधिष्ठताओं को प्रतिबिम्बित करती हैं और उसके प्रतीक-स्वरूप हैं। ईस्वर भी समाज का ही मूर्त रूप है। धर्म-सम्बन्धी भूमिपारी सामाजिक कार्य-क्रमाओं का उद्देश्य सामाजिक एकसुवता उत्पन्न करना उसे सुदृढ़ बनाना धीरे उसे कायम रखना रहा है। यही कारण है कि धर्म ने मानव-इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण धीरे सामकाली भूमिका धरती है। कुछ धर्मों में अत्यन्तक लक्ष्य भी धार्मिक है, वर इन संघट्टों के बावजूद वे किसी-किसी रूप में कायम रहे। दुर्बोम ने अविष्यवाली की है कि जब तक धार्मिक एकसुवता कायम रहेगी तब तक धर्म भी किसी-न-किसी रूप में कायम रहेंगे। धर्मों के बाह्य स्वरूप बदलठ रहते हैं लेकिन उनका धार्मिक स्वरूप बिरन्तव है।

प्रतिनिधियों का सिद्धान्त

दुर्बोम का कहना है कि धार्मिक प्रतिनिधान (Religious representations) सामूहिक प्रतिनिधान (Collective representations) होते हैं धीरे

के सामूहिक वास्तविकताओं (Realities) की अभिव्यक्ति करते हैं। धार्मिक विधियों (पूजा-पाठ के तरीकों) का उद्भूत रूपरिचय जनसमूहों में उत्साह या उत्तेजना पैदा करना होता है। यथा धार्मिक जीवन के रूप में सामूहिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। समाज-समस्या भी धारणा ही धर्म की धारणा है। यथा धार्मिक भावित्या वास्तव में सामाजिक अवित्या ही होती है। ये मनुष्य की नैतिक अवित्या होती है। धर्म में वास्तविक समाज की अवस्था होने की बात तो बुर रही धर्म वास्तव में समाज का ही प्रतिबिम्ब होता है। यह समाज के सभी पटलुओं की प्रतिबिम्बित कथा है। यहाँ तक कि उसके मनु-मनु पटलुओं की भी।

ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्त

दुर्धीम के विषय प्रकार समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से धर्म की व्याख्या व विश्लेषण किया है, इसी प्रकार उन्होंने मनुष्य की धर्म्य धारणाओं परिकल्पनाओं और मान्यताओं का भी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण किया है। उनके इस विश्लेषण में ज्ञान दूरी वर्ग अवित्यतय धोर कार्य-कुससता धारि सम्बन्धी मानव-धारणाओं का भी समावेश है। धरने विश्लेषणों द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये सभी धारणाएँ केवल सामाजिक उद्भूत होती हैं।

दुर्धीम से पहले किसी भी समाजशास्त्री ने मानव ज्ञान वा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण नहीं किया था। यह काम सबसे पहले दुर्धीम ने ही किया और इसीलिए उन्हें 'ज्ञान समाजशास्त्र' का जन्मदाता माना जाता है। उन्होंने धरने 'ज्ञान-समाजशास्त्र' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ज्ञान मानव अवित्यतय की एक ऐसी धरणा (धारणा वा परिकल्पना) है जो सामाजिक परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न हुई है। इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध किया है कि धर्म की भाँति ज्ञान की भी उत्पत्ति का क्षेत्र समाज धोर उसकी विविध अवस्थाओं की विकसितताएँ हैं।

ज्ञान (समय)-सम्बन्धी धारणा

दुर्धीम का कहना है कि हम समय धरणा काक की इनीधिए समझ पाते हैं क्योंकि समाज में एक-द्विभाजन तथा मान के लिये तरीके विरिचय कर दिए हैं। धरि समय धरणा काक की विभाजित करने धोर उसे नापने के ये तरीके न बनाये गये होने तो काम (धरणा) की परिकल्पना कर पाना असम्भव होता। मनुष्य ने काल को दिनों सप्ताहों, महीनों धोर वर्षों में विभाजित किया है।

यह विभाजन एक प्रकार का सामूहिक निर्णय है जिसे सब लोग मानते हैं। समय के विभाजन और माप के इन्हीं तरीकों के माध्यम से हम उन सब प्रपत्रों का जमा कर सकते हैं। समाज ने विभिन्न रीति-रस्मों, नौकों और धार्मिक उत्सवों के लिए भी दिन निश्चित कर दिये हैं। कनेक्टिकट महत्त्वपूर्ण करने के लिए बताया गया है कि ये रीति-रस्म और उत्सव आदि निश्चित अवधि पर नियमित रूप से होते रहें। इस प्रकार से कनेक्टिकट सामूहिक कार्यक्रमोंको प्रतिबिम्बित करता है और यह इन सामूहिक कार्यक्रमों की समय-सारणी (Time Schedule) के रूप में है।

बूटी और विद्याएँ

हम कहते हैं कि धर्म स्वयं अपने मीस की बूटी पर है, यद्यपि धर्म भी बरों या बरों रही हुई है यद्यपि यह कि धर्म स्वयं धर्म विद्या में है। पर बूटी को मापने का हमारा माप समाज द्वारा बताया गया है। इसी तरह सामूहिक निर्णयों द्वारा विद्याएँ निर्धारित की गयी हैं। यदि बूटी को मापने आदि के ये तरीके समाज द्वारा न बताये गये हों तो न तो बूटी के सम्बन्ध में हमारी कोई पारखा हो सकती वा और न विद्याएँ यद्यपि बरों-बरों होती। इससे यह प्रकृत है कि बूटी और विद्याएँ-सम्बन्धी हमारा ज्ञान वास्तव में उन सामूहिक निर्णयों की जानकारी मात्र है जो सर्वमान्य हैं। बरों और व्यक्तिगत आदि सम्बन्धी हमारी धारणाएँ भी सामूहिक निर्णयों को ही प्रकृत करती हैं तथा उन पर ही आधारित होती हैं। इससे स्पष्ट है कि सभी प्रकार के ज्ञान का स्रोत केवल समाज ही है।

मूल्य और उनका निर्धारण

दुर्भाग्य का कहना है कि जिस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति का स्रोत समाज है, उसी तरह ये मूल्यों की उत्पत्ति भी समाज द्वारा ही हुई है, चाहे वे नैतिक मूल्य हों वा अन्य कोई। मूल्य कई प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए लोभ, शक्ति का धार्मिक मूल्य होता है संघर्ष का लोभ-सम्बन्धी मूल्य होता है और यथाचार का नैतिक मूल्य होता है। पर इन मूल्यों का निर्धारण वास्तविक द्वारा होता है और इन मानकों के सहारे ही हम मूल्यांकन करते हैं। वास्तव में किती भी वस्तु या गुण का मूल्य स्वयं उस वस्तु या गुण में निहित नहीं होता, बल्कि वह उसमें समाज द्वारा आरोपित किया जाता है।

लोभ के मूल्यों तथा धारणों की उत्पत्ति भी समाज द्वारा ही होती है।

व्यक्तियों में विचारों के प्रवाहान-प्रदान यथा मानसिक प्रवृत्तियों के उस स्वल्प सामूहिक विचारों यथा मानसिक जीवन की उत्पत्ति होती है। जब बहुत से व्यक्ति एक स्थान पर एकत्र होते हैं तो मानसिक प्रवृत्तियाँ तीव्रतम होती हैं और उसके फलस्वरूप कुछ ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं यथा कुछ ऐसी धारणाएँ बनती हैं जिन्हें पूरे समूह की भावना प्राप्त होती है। ये धारणाएँ ही धारणों यथा जीवन के मूर्तों का रूप ग्रहण करती हैं। जिस समय किसी समाज में कलक-पूजन हो रही हो यथा धार्मिक प्रवृत्तियाँ प्रवृत्तियाँ बन रही हों उस समय समूह की मानसिक प्रवृत्तियाँ तीव्रतम हो जाती हैं। अतः ऐसे प्रवृत्तियों पर वैयक्तिक और सामाजिक जीवन व्याप्त धारणोंपूर्ण हो जाता है। पर स्थिति के सामान्य होते ही वैयक्तिक और सामाजिक जीवन साधारण स्तर पर वापस आ जाता है। लेकिन धारणों की प्रस्थापना के लिए वह आवश्यक होता है कि उस प्रवृत्तियों के समय की धारणों को दिखाई जाती रहे। अतः समय-समय पर धार्मिक उत्सवों, कलाकृतियों और नाटकों धार्मिक के माध्यम से लोगों को यह स्मरण दिलाते रहा जाता है कि उन्होंने किस प्रवृत्तियों यथा संकटकामीन समय में किन धारणों को धरणीकार करके अपने जीवन में उतारा या ठाकिये धारणों कायम रहे और व्यक्तियों को प्रेरणा प्रदान करते रहे।

टाल्मकोट पारसन्स
(TALCOTT PARSONS)

सामान्य परिचय

टाउनकोट पारसम्भ एक प्रतिष्ठित अमरीकी समाजशास्त्री हैं। सामाजिक विषय पर और सामाजिक किन्मा-सम्बन्धी उनके समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को समूचे विश्व में मान्यता मिली है। उनके सिद्धान्तों को समाजशास्त्र में नयी खोज कहा जा सकता है। प्रायःकम के समाजशास्त्रियों को उनके इन सिद्धान्तों ने बहुत प्रभावित किया है। कसब पारसम्भ को वर्तमान समाजशास्त्रियों में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

समाजशास्त्र के क्षेत्र में पारसम्भ का एक महत्वपूर्ण योगदान यह भी है कि उन्होंने यह सिद्ध किया है कि मैक्स वेबर परेडो और दुर्घमि के सिद्धान्तों में एक प्रकार की समरूपता है क्योंकि वे समान सिद्धियों को इंगित करते हैं। उन्होंने यह सिद्ध करने की भी चेष्टा की है कि इन समाजशास्त्रियों के सिद्धान्तों का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में मार्शल के धार्मिक सिद्धान्तों से रहा है। पारसम्भ का कहना है कि समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञान है परन्तु उसमें परिपक्वता लाने के लिए सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाना चाहिए। उन्होंने सामाजिक अनुसंधान के क्षेत्र में भी सिद्धान्तों के प्रतिपादन पर जोर दिया है। उनका कहना है कि जिस भी लौकिक ज्ञान की पुष्टि की जा सकती है उसे सिद्धान्तों के रूप में धारण करना चाहिए। श्री डम्प्ले एच. पीटर्स का कहना है कि समाजशास्त्र को टाउनकोट पारसम्भ का योगदान त्रिभुवीय है। प्रथमतः यह कि उन्होंने समाजशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादन पर जोर दिया है, द्वितीय यह कि समस्त पुष्टि योग्य लौकिक ज्ञान से सिद्धान्त निहित हैं। अन्ततः यह कि पारसम्भ ने अन्तः-सम्बन्धों के बारे में मुख्यतः निश्चित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।

जन्म और शिक्षा

टाउनकोट पारसम्भ का जन्म अमरीका में सन् १९०२ में हुआ था। १९२४ में उन्होंने ब्रिस्टल की डिग्री हासिल की। उस समय तक उनकी उच्च शिक्षा

प्राणीशास्त्र में थी। लेकिन इस समय के बाद से उन्होंने धर्मशास्त्र में रिसर्चस्पी मेना शुरू किया। उनकी इस रिसर्चस्पी का मुख्य कारण वास्टन हेमिस्टन का प्रभाव था। फलतः पारसन्स ने धर्मशास्त्र में भी वैज्ञानिक की दिवरी हासिल की। सन् १९२४ से उन्होंने समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। १९२३ में उन्हें बर्मनी में अध्ययन करने के लिए एक फेलोशिप मिला यही विद्यार्थी फेलोशिप उन्होंने वहाँ के हेबमबर्ग विश्वविद्यालय में मार्स के सिद्धान्तों का अध्ययन किया। उन्होंने मार्स की एक पुस्तक 'प्रोटेस्टेंट धारणा संहिता' (Protestant Ethics) का अनुवाद भी किया। १९२७ में इसी विश्वविद्यालय से उन्हें डॉक्टरेट की पदवी मिली। उनकी पीछिस का विषय था "मैक्स वेबर थीर बर्नर सोमपाई के सिद्धान्तों में पूँजीवाद-सम्बन्धी धर्मधारणाएँ।" सन् १९२७ से १९३१ तक वे हारबर्ड (अमेरिका) विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र के प्रोफेसर रहे थीर सन् १९३१ से १९३६ तक सामाजशास्त्र के अध्यापक रहे। १९३६ में वे समाजशास्त्र के सहायक प्रोफेसर हो गए थीर १९४४ में प्रोफेसर बने। सन् १९४६ में हारबर्ड विश्वविद्यालय में सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन व अध्यापन के लिए एक नया विभाग खोला गया थीर यही पारसन्स को उसका अध्यक्ष बना दिया गया। उसके बाद से वे उसी पद पर काम कर रहे हैं।

पारसन्स की कृतियाँ

पारसन्स की सर्वप्रथम पुस्तक १९३१ में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक का नाम है 'सामाजिक क्रिया का ढाँचा' (The Structure of Social Action)। उन्होंने अपनी इस पुस्तक में सामाजिक क्रिया (Action) सम्बन्धी अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक के प्रकाशन ने उन्हें विश्वविद्यालय-समाजशास्त्री बना दिया। इसके बाद उन्होंने 'सामाजिक सिद्धान्त सम्बन्धी श्रेष्ठ नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने अपने उपर्युक्त सिद्धान्तों को विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया। इसके बाद से उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं जिसमें से 'सामाजिक व्यवस्था' (Social System) थीर 'परिवार, समाजीकरण और अन्तःक्रिया की प्रक्रिया' (Family Socialization and Interaction Process) नामक पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कुछ समाजशास्त्रियों की कृतियों के अनुवाद भी किए हैं तथा कुछ समाजशास्त्रियों के सिद्धान्तों पर विवेचनात्मक पुस्तकें भी लिखी हैं। इसके अलावा उन्होंने सामाजिक विज्ञान के विस्तार के भी कुछ ग्रंथ लिखे हैं।

पारसंस पर अन्य समाजशास्त्रियों का प्रभाव

पारसम्भ पर मैक्स वेबर और बुर्बोम के सिद्धान्तों का विशेष रूप से प्रसर रहा है। उन पर फ्रयड के सिद्धान्तों का भी प्रसर पड़ा है और इसी प्रभाव के कारण है इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि गतिशील सामाजिक व्यवस्था की सैद्धांतिक समस्यार्यों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए। पारसम्भ पर परेटो के सिद्धान्तों का भी प्रसर रहा है। इसके अलावा अनेक अर्थशास्त्रियों ने उनके विचारों को प्रभावित किया है।